हिन्दू संस्कार

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला
५२

हिन्दू संस्कार

सामाजिक तथा धार्मिक अध्ययन

ENTERED 21 JUL, 61

लेखक
डॉ० राजबली पाण्डेय एम. ए., डी. लिट्.,
अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग तथा
आचार्य, भारती महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी—१
२०१४ वि० (१९५७ खिष्टीय)

समर्पण

उन

मनीषियों तथा समाजशास्त्रियों

को

जिन्होंने

प्राकृत मानव के संस्कार

एवं

उन्नयन का

मार्ग

प्रशस्त

किया

प्रस्तावना

१

'संस्कार' हिन्दू-धर्म अथवा किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इतिहास के प्रारम्भ से ही वे धार्मिक तथा सामाजिक एकता के प्रभावकारी माध्यम रहे हैं। उनका उदय सुदूर अतीत में हुआ था और काल-क्रम से अनेक परिवर्तनों के साथ वे आज भी जीवित हैं। हिन्दू संस्कारों का वर्णन वेदों के कुछ सूक्तों, कतिपय ब्राह्मण-ग्रन्थों, गृह्य तथा धर्मसूत्रों, स्मृतियों एवं परवर्ती निबन्ध-ग्रन्थों में पाया जाता है। ये ग्रंथ विभिन्न युगों तथा स्थानों में उद्गार, विधि अथवा पद्धति के रूप में लिखे गये। इनमें संस्कारों को ऐतिहासिक विकास-क्रम में रखने का प्रयास नहीं किया गया; सम्भवतः इसकी आवश्यकता नहीं समझी गयी। आधुनिक युग में भी संस्कारों पर कोई विवेचनात्मक ग्रंथ नहीं लिखा गया, यद्यपि वर्णनात्मक प्रयत्नों का अभाव नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इतिहास के अन्तराल में बिखरी हुई विस्तृत सामग्री को शृङ्खलित करके समन्वित रूप तथा ऐतिहासिक संदर्भ में रखने और समझने की चेष्टा की गयी है।

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये केवल तिथिक्रमिक पूर्वापर स्थिति ही नहीं ढूँढ़ी गयी है, अपितु विभिन्न परिवर्तनों में सम्बन्ध भी स्थापित किया गया है। इस तथ्य की व्याख्या भी की गयी है कि संस्कार मुख्यतः धार्मिक विश्वासों और सामाजिक परिस्थितियों पर आधारित थे। जो मूल में प्राकृतिक थे वे भी क्रमशः सांस्कृतिक होते गये। संस्कारों के धार्मिक वृत्त में बहुत से सामाजिक तत्त्व प्रवेश करते गये। संस्कारों के साँचे में बहुत से सांस्कृतिक साधन भी आ गये जो वाञ्छनीय प्रभाव उत्पन्न करने में उनकी सहायता करने लगे।

वास्तव में संस्कार व्यंजक तथा प्रतीकात्मक अनुष्ठान हैं। उनमें बहुत से अभिनयात्मक उद्गार और धर्मवैज्ञानिक मुद्रायें एवं इङ्गिति पायी जाती हैं। इनके आधारभूत तत्त्वों का रहस्य समझे बिना संस्कार सामान्य लोगों को बाल-क्रीडा जैसे प्रतीत होंगे। उनको सुगम बनाने के लिये प्रतीकों का अनावरण तथा व्याख्या और विविध व्यंगों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। इसमें कठिनाई यह है कि इस कार्य का सम्पादन अतिबुद्धिवाद के बिना होना चाहिये। संस्कार प्राचीन भारतीय समाज के आदर्शों तथा महत्त्वाकांक्षाओं को भी प्रकट करते हैं। यथास्थान उनका संकेत और विवेचन भी होना चाहिये। इस दिशा में यथासाध्य प्रयत्न किया गया है।

मनुष्य तथा अदृश्य आध्यात्मिक शक्तियों के बीच माध्यम के रूप में संस्कारों के कई तत्त्वों का विकास हुआ था। ऐसा विश्वास था कि ये शक्तियाँ मानव जीवन में हस्तक्षेप तथा उनको प्रभावित करती हैं। अतः विविध अवसरों पर उनके अनुकूल प्रभावों को निमंत्रण देना आवश्यक समझा जाता था। किन्तु जहाँ एक ओर मनुष्य का ध्यान अतिमानुष शक्तियों की ओर आकृष्ट होता था वहाँ दूसरी ओर जीवन-कला के अपने ज्ञान का उपयोग वह स्वतः भी करता था। इस प्रकार जीवन में सफलता प्राप्त करने के उसके पास दुहरे साधन थे, जिनका वह संस्कारों में प्रयोग करता था। इस सम्बन्ध में धार्मिक विश्वासों का विश्लेषण और जीवन-कला के ज्ञान की व्याख्या की गयी है। संस्कारों का उद्देश्य व्यक्तित्व के विकास द्वारा मनुष्य का कल्याण और समाज तथा विश्व से उसका सामंजस्य स्थापित करना था। इस दिशा में जितने भी उपायों का प्रयोग हुआ है, उनकी ओर इस ग्रन्थ में इंगिति की गयी है।

संस्कारों के अंगभूत विधि-विधान, कर्मकाण्ड, आचार, प्रथायें आदि प्रायः सार्वभौम हैं और संसार के विविध देशों में पायी जाती हैं। प्राचीन संस्कृतियों में उनका प्रतिष्ठित स्थान है और आधुनिक धर्मों में भी उनका पर्याप्त प्रतिनिधित्व है। अतः संस्कारों के ऐतिहासिक विकास को ठीक-ठीक समझने के लिये हिन्दू संस्कारों का अन्य धर्मों में प्रचलित संस्कारों तथा विधि विधान के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है। यह कार्य यथास्थान सम्पन्न हुआ है।

आधुनिक उपयोगितावादी दृष्टिकोण से देखने पर संस्कारों के कई अंग असंगत तथा उपहसनीय जान पड़ेंगे। किन्तु जिन्हें प्राचीन जीवन और संस्कृति के सामान्य सिद्धान्तों को समझने की क्षमता, धैर्य और रुचि है, उन्हें ऐसा नहीं लगेगा। उनको प्रतीत होगा कि मानव-ज्ञान-भण्डार को समृद्ध बनाने के लिये उनका परिचय आवश्यक है। संस्कारसम्बन्धी विश्वास तथा प्रथायें अन्धविश्वासमूलक जादू-टोना तथा पौरोहित्य कला पर अवलम्बित नहीं हैं, वे पर्याप्त मात्रा में परस्पर सुसंगत तथा युक्तियुक्त हैं, यद्यपि उनका उदय आज से भिन्न मनोवैज्ञानिक वातावरण में हुआ था।

जहाँ तक संस्कारों के अध्ययन के वास्तविक मूल्य का सम्बन्ध है, यह बात स्पष्ट है कि अपने उदयकाल में संस्कारों की व्यावहारिक उपयोगिता और उद्देश्य था, यद्यपि इस समय वे अस्पष्ट और कभी-कभी निरुद्देश्य दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि आधुनिक युग में उनका परिवर्तित जीवन से सामंजस्य नहीं हो पाया है और इस कारण उनका मौलिक प्रयोजन आँखों से ओझल हो गया है। संस्कारों का सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन से था और है, अतः किसी भी संस्कृति को पूर्ण रूप से समझने के लिये संस्कारों का अध्ययनम हत्त्वपूर्ण है।

२

समाज-विज्ञान की दृष्टि से भी संस्कारों का अध्ययन बड़ा महत्व रखता है। प्रत्येक समाज अपने मूल्यों और धारणाओं को सजीव और सुरक्षित रखने के लिये उनके प्रति निष्ठा और विश्वास उत्पन्न करता है। इसके लिये सामाजिक तथा धार्मिक प्रेरणा और अनुशासन की आवश्यकता होती है। संस्कार इस प्रकार की प्रेरणा और अनुशासन के सफल माध्यम हैं। केवल विधि और संविधान पर अवलम्बित रहनेवाली कोई भी सामाजिक व्यवस्था तब तक स्थायी नहीं हो सकती, जब तक उसकी जड़ सामाजिक मन में दूर तक नहीं पहुँचती। विधि और संविधान को समझने और उनका आदर करने के लिये भी समाज के सदस्यों का मन संस्कृत होना चाहिये। किसी भी सामाजिक विनय अथवा व्यवस्था के पीछे शतियों और सहस्राब्दियों का संस्कार काम करता रहता है। वैसे तो सामाजिकता मनुष्य में सहज है और सर्वत्र पायी जाती है किन्तु देश अथवा जाति-विशेष के अपने मूल्यों और प्रतिमानों के प्रति आस्था और विश्वास

उत्पन्न करने के लिये प्रयत्नपूर्वक संस्कार करना पड़ता है। तभी सामाजिक नीति और मूल्यों का विकास होता है। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था की दृढता के पीछे उनके जीवन का नियमित और अनिवार्य संस्कार था।

संस्कार दो प्रकार से समाज को प्रभावित करते आये हैं—(१) सिद्धान्तीकरण तथा (२) अभ्यास। प्रथम से धीरे-धीरे विचारों तथा विश्वासों का स्वरूप स्थिर होता है। सभी नियामक विधियों से यह प्रभाव शक्तिमान होता है। 'उचित' और 'कर्तव्य' की धारणा मनुष्य को अपने पथ से विचलित नहीं होने देती। इसकी चेतावनी संस्कार जीवन के सभी मोड़ों पर देते हैं। यह प्रक्रिया शैशवावस्था से ही प्रारम्भ होती है। माता-पिता, सम्बन्धी, साथी, शिक्षक, अध्यापक, गुरु सभी बालक के मन को संस्कृत करते हैं। व्यक्ति कभी-कभी संस्कारों के अंगविशेष की अवहेलना कर सकता है, किन्तु संस्कारों से उत्पन्न समस्त वातावरण का अतिक्रमण वह नहीं कर सकता। भाषा, मुहाविरे, सूक्तियों और लोकाचार में संस्कार ओतप्रोत होते हैं। इनके बाहर व्यक्ति का साँस लेना भी कठिन है। प्राचीन काल में जब जीवन धर्म से अधिक प्रभावित था तब व्यक्ति पर संस्कार डालने का कार्य मुख्यत. पुरोहित और मठ करते थे, आधुनिक युग में इस काम को राज्य अपने हाथ में क्रमश लेता जा रहा है। दोनों का ही उद्देश्य रहा है बालक और नवयुवकों पर अभीष्ट संस्कार डालना।

संस्कार व्यक्ति में विशेष प्रकार का अभ्यास भी डालते हैं। सिद्धान्तीकरण तो शिक्षा, उपदेश तथा विचारों के संक्रमण और आरोप के द्वारा सीधे होता है। अभ्यास धीरे-धीरे अचेतन रूप से पड़ जाता है। इसके द्वारा व्यक्ति सहज ही अपने को सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं के अनुकूल बना लेता है। अभ्यास जीवन के प्रतिमानों का एक साँचा व्यक्ति के लिये तैयार कर देता है, जिससे उसको दैनिक जीवन के व्यवहार में उचित-अनुचित का सरलता से बोध होता रहता है। इस प्रकार अभ्यास सिद्धान्तीकरण का पूरक है। दोनों मिलकर सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक नीति के प्रति दृढता और आस्था उत्पन्न करते हैं। यदि ये न होते तो मानव का समाजीकरण कभी पूरा नहीं हुआ होता और न तो परिवार और विवाह जैसी सामाजिक संस्थाओं का विकास ही होता।

अप्रत्यक्ष रूप से संस्कार तथा अन्य विधि-विधान सामाजिक व्यवस्था का पोषण और धारण करते हैं। संस्कारों में कई एक विधियाँ संगीत में लय और ध्वनि के समान प्रवाहित होती हैं और जीवन के विभिन्न अवसरों (जन्म और मृत्यु के बीच) पर उनकी पुनरावृत्ति एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिये की जाती है। यह पुनरावृत्ति व्यक्ति की भावना को उद्बुद्ध करती थी और उसके तथा अवसर के बीच में एक प्रकार का रहस्यमय सम्बन्ध स्थापित हो जाता था। विधियों का क्रम ऋत, सत्य और अनिवार्यता का प्रतीक था। इसका अतिक्रमण व्यक्ति नहीं कर सकता था, क्योंकि ऐसा करने से उसको यह अनुभव होता था कि इससे जीवन की संगति और भावना के प्रवाह को धक्का लग रहा है। व्यक्ति और समाज के बीच एक बलिष्ठ कड़ी इस प्रकार तैयार होती थी, जो दोनों के स्थायी सम्बन्ध को बनाये रहती थी।

संस्कार जीवन के विभिन्न अवसरों को महत्व और पवित्रता प्रदान करते हैं। वे इस बात पर जोर देते हैं कि जीवन के विकास का प्रत्येक चरण केवल शारीरिक क्रिया नहीं है किन्तु इसका सम्बन्ध मनुष्य की बुद्धि, भावना और आत्मिक अभिव्यक्ति से है, जिनके प्रति व्यक्ति को जागरूक रहना चाहिये। अतिपरिचय के कारण जीवन की घटनाओं की तरफ प्रायः उदासीनता और असावधानी उत्पन्न हो जाती है और कुछ व्यक्तियों में उनके प्रति अवज्ञा भी। संस्कार इस सामाजिक तन्द्रा और अवज्ञा का निराकरण करता है और जीवन के विकास के क्रमों के महत्व का स्पष्टीकरण सामूहिक तथा सामाजिक स्तर पर करता है। संस्कारों के अभाव में जीवन की घटनायें शरीर की दैनिक आवश्यकताओं और आर्थिक व्यापार के समान अनाकर्षक, चमत्कारहीन और जीवन के भावुक संगीत से रहित हो जाती है।

यह सच है कि संस्कार सम्बन्धी क्रिया-कलापों का प्रभाव आलोचक बुद्धिवादी की अपेक्षा सामान्य जन-साधारण पर अधिक पड़ता है और बुद्धिवादी युग में इनके महत्व के कम हो जाने की संभावना होती है। कभी कभी संस्कारों का बाह्य आडम्बर उनके उद्देश्यों और प्रयोजनों को इतना ढक लेता है कि आलोचक सम्पूर्ण धार्मिक विधि-विधानों को मिथ्याचार समझने लगता है। कार्लायल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सार्टर रिसार्टस' (अध्याय ८ तथा ९) में

इसी प्रकार के विधि-विधानों की खिल्ली उड़ाई है। किन्तु मिथ्याचार और अत्याचार को ढकनेवाले क्रिया-कलापों और सामाजिक मूल्यों को प्रतीकात्मक स्वरूप देनेवाले संस्कारों में मौलिक और तात्त्विक अन्तर है। वास्तव में कोई भी संस्था अथवा समाज अपने विभिन्न अवसरों को सामाजिकता का बाह्यरूप दिये बिना जीवित नहीं रह सकते। संस्कार इसी सामाजिकता का माध्यम और प्रतीक है।

अब प्रश्न यह है कि संस्कारों को सामाजिकता की यह शक्ति कहाँ से प्राप्त होती है। प्रथमतः, संस्कार की औपचारिक पद्धति अवसरों और घटनाओं को अपौरुषेय (सामाजिक) महत्त्व और पवित्रता प्रदान करती है, जो व्यक्ति-विशेष की दुर्बलताओं और सीमाओं से मुक्त होते हैं; उदाहरणार्थ, विवाह के अवसर पर कन्या और वर केवल अमुक स्त्री और अमुक पुरुष न होकर समस्त स्त्रीत्व और पुरुषत्व के प्रतीक बन जाते हैं और उनका सम्बन्ध सम्पूर्ण स्त्रीजाति और पुरुषजाति के सम्बन्ध का द्योतक है। दूसरे, संस्कारों के साथ मूल्यगर्भित विश्वास और विचार लगे होते हैं, जिनके आधार पर अथवा जिनके लिए मनुष्य जीना चाहता है। इन्हीं विश्वासों और विचारों में समाज की नींव है और यहीं से उसको पोषण मिलता है। सामाजिक विनय, शक्ति और स्वतन्त्रता सभी का स्रोत इन्हीं में है। सामाजिक भावुकता और अनिवार्यता के अतिरिक्त संस्कारों में जीवन के व्यवहार में उपयोगिता भी पायी जाती है। जीवन के विकास के विभिन्न अवसरों पर कोई न कोई समस्या खड़ी रहती है, जिनका समाधान व्यक्ति के लिये कठिन होता है। संस्कारों में शतियों और सहस्राब्दियों का जातीय अनुभव निहित होने के कारण वे समस्याओं का समाधान पहले से प्रस्तुत करते हैं। व्यक्ति को असमंजस और ऊहापोह में न पड़कर सांस्कारिक समाधानों का तुरन्त सहारा मिल जाता है। संस्कारों की प्रतीकात्मकता उनमें अपूर्व शक्ति उत्पन्न करती है, जो किसी भी उपयोगितावादी विधि विधानों में संभव नहीं। इसीलिये प्रत्येक समाज पुराने प्रतीकों का उपयोग करता है और आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार नये प्रतीकों का निर्माण। प्रत्येक प्रतीक किसी न किसी गुप्त अर्थ, मूल्य, विचार अथवा भावना का भाषा, इंगिति, मुद्रा अथवा भौतिक पदार्थ के रूप में बाह्य अभिव्यक्ति होता है जो संस्कृत व्यक्ति की बुद्धि और भावना को उद्बुद्ध और समाज से उसको सम्बद्ध करता है।

प्रतीक विभिन्न अवसरों पर ध्यान का केन्द्र, भाववहन का साधन और सामूहिक अनुभव का माध्यम होता है। संस्कारों के विधि-विधान में प्रतीकों का महत्वपूर्ण स्थान है।

३

प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णन और विवेचन के लिए वे ही गृह्य संस्कार लिये गये हैं जिनका अनुष्ठान गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक व्यक्ति के जीवन के विविध अवसरों पर किया जाता था। उनका कार्यस्थल था गृह, मुख्यनायक था गृहपति और साक्षी था अग्नि जिसके सम्मुख सभी संस्कार सम्पन्न होते थे। संस्कारों की सूची से श्रौतयज्ञ अलग कर दिये गये हैं, जिनके अनुष्ठान के लिए कतिपय ऋत्विजों की आवश्यकता होती थी और गृहपति केवल दर्शक बन जाता था। वास्तव में श्रौतसंस्कार काम्य थे, जिनके करने अथवा न करने में व्यक्ति को स्वतन्त्रता थी, परन्तु गृह्य संस्कार नित्य और अनिवार्य थे क्योंकि मानवजीवन के विकास और प्रवाह का क्रम प्रकृति से निश्चित था, जिनसे होकर मनुष्य को जाना ही पड़ता था। इस क्रम को सरल, सुसंस्कृत और पवित्र बनाना संस्कारों का उद्देश्य था।

मोटे तौर पर ग्रन्थ को दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम में अनुसंधान के स्रोत, संस्कार का अर्थ और संख्या, संस्कारों का प्रयोजन तथा संस्कारों के विधायक अंग का विचार किया गया है। दूसरे भाग में संस्कारों का वर्णन तथा विवेचन निम्नलिखित वर्गों के अन्तर्गत हुआ है :

१-प्राग्-जन्म संस्कार
२-बाल्यावस्था के संस्कार
३-शैक्षणिक संस्कार
४-विवाह संस्कार
५-अन्त्येष्टि संस्कार

उपसंहार में संस्कारों के स्वरूप, विशेषताओं, अतीत तथा भविष्य के बारे में विचार किये गये हैं।

संस्कारों के साथ बहुत से सामाजिक नियम, विधि, निषेध, अनुष्ठान आदि लगे हुए हैं। श्रौत ग्रन्थों ने उनको स्वीकार किया है, अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में भी उन्हें उचित स्थान दिया गया है। पहले उनका विवेचन करके फिर शुद्ध संस्कार का वर्णन तथा व्याख्या की गयी है।

यह ग्रन्थ आरम्भ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से डी० लिट्० उपाधि के लिए अंग्रेजी में लिखा गया था जो अन्यत्र प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत पुस्तक उसका स्वतन्त्र परिवर्तित हिन्दी रूप है। इस ग्रन्थ के प्रणयन में कतिपय विद्वानों की सहायता और परामर्श प्राप्त हुए हैं, जिनमें डॉ० अ० स० अलतेकर, डाइरेक्टर, जायसवाल इंस्टीट्यूट पटना, तथा डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, प्रिंसिपल, सेन्ट्रल हिन्दू कालेज, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। लेखक उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है। जिन लेखकों और ग्रन्थों का उपयोग हुआ है उनका यथास्थान आभार स्वीकार किया गया है। मुद्रण के लिये पाण्डुलिपि तैयार करने तथा प्रूफ-संशोधन में मेरे प्रिय शिष्य तथा मित्र श्री अजयमित्र शास्त्री ने बराबर सहायता की, जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन करना सहर्ष स्वीकार किया, जिसके लिए उसका भी आभार मानता हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
रामनवमी, सं० २०१४ वि०

राजबली पाण्डेय

संकेत-सारिणी

अ. वे. = अथर्ववेद

अ. वे. परि. = अथर्ववेद परिशिष्ट

अ. स्मृ. = अत्रिस्मृति

आ. गृ. सू. = आश्वलायन गृह्यसूत्र

आप. गृ. सू. = आपस्तम्ब गृह्यसूत्र

आप. ध. सू. = आपस्तम्ब धर्मसूत्र

आप. श्रौ. सू. = आपस्तम्ब श्रौतसूत्र

ऋ. वे. = ऋग्वेद

ऐ. आ. = ऐतरेय आरण्यक

ऐ. उ. = ऐतरेय उपनिषद्

ऐ. ब्रा. = ऐतरेय ब्राह्मण

कौ. सू. = कौशिक सूत्र

ख. गृ. सू. = खदिर गृह्यसूत्र

गो. गृ. सू. = गोभिल गृह्यसूत्र

गो. ब्रा. = गोपथ ब्राह्मण

गौ. ध. सू. = गौतम धर्मसूत्र

छा. उ. = छान्दोग्य उपनिषद्

जै. गृ. सू. = जैमिनीय गृह्यसूत्र

तै. आ. = तैत्तिरीय आरण्यक

तै. उ. = तैत्तिरीय उपनिषद्

तै. ब्रा. = तैत्तिरीय ब्राह्मण

द. स्मृ. = दक्ष स्मृति

दे. स्मृ. = देवल स्मृति

ना. स्मृ. = नारद स्मृति

पा. गृ. सू. = पारस्कर गृह्यसूत्र

पा. स्मृ. = पाराशर स्मृति

बृ. उ. = बृहदारण्यक उपनिषद्

बौ. गृ. सू. = बौधायन गृह्यसूत्र

बौ. ध. सू. = बौधायन धर्मसूत्र

बौ. पि. सू. = बौधायन पितृमेध सूत्र

बौ. श्रौ. सू. = बौधायन श्रौतसूत्र

भ. पु. = भविष्य पुराण

भा. गृ. सू. = भारद्वाज गृह्यसूत्र

म. स्मृ. = मनुस्मृति

मा. गृ. सू. = मानव गृह्यसूत्र

मा. ध. सू. = मानव धर्मसूत्र

मै. उ. = मैत्रायणी उपनिषद्

य. वे. (यजु.) = यजुर्वेद

या. स्मृ. = याज्ञवल्क्य स्मृति

व. ध. सू. = वसिष्ठ धर्मसूत्र

वा. गृ. सू. = वाराह गृह्यसूत्र

वि. ध. सू. = विष्णु धर्मसूत्र

वी. मि. सं. = वीरमित्रोदय संस्कारप्रकाश

श. ब्रा. = शतपथ ब्राह्मण

शां. गृ. सू. = शांख्यायन गृह्यसूत्र

श्वे. उ. = श्वेताश्वतर उपनिषद्

सा. वे. = सामवेद

सं. च. = संस्कार चन्द्रिका

सं. म. = संस्कार मयूख

हा. ध. सू. = हारीत धर्मसूत्र

हा. स्मृ. = हारीत स्मृति

हि. गृ. सू. = हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र

हि. ध. सू. = हिरण्यकेशी धर्मसूत्र

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

अनुसन्धान के स्रोत

१. प्रास्ताविक

हिन्दू संस्कार से सम्बद्ध प्राचीनतम आकर ग्रन्थ गृह्यसूत्र धर्मसूत्रों के समान अपने वर्ण्य विषय के लिये प्रमाणों का निर्देश नहीं करते। इसका कारण यह है कि मुख्यतः गृह्य विधि-विधान होने के कारण संस्कार किसी विशेष लिखित विधान की अपेक्षा प्रधानतः प्राचीन तथा लोकप्रचलित परम्परा तथा प्रथाओं पर आधारित थे। धर्मसूत्रों, स्मृतियों तथा मध्यकालीन निबन्धों में धार्मिक तथा लौकिक विधि (धर्म) के विषय में मान्य प्रमाणों का उल्लेख किया गया है। किन्तु ये रचनाएँ कर्मकाण्डीय विधि-विधानों के विस्तार में न जाकर मुख्यतः संस्कारों के सामाजिक अंगों का ही विवेचन करती हैं। अतः संस्कारों के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान के लिये हमें उक्त ग्रन्थों द्वारा अनिर्दिष्ट अन्य स्रोतों का भी अवगाहन करना होगा।

२. वेद

वेद व्यापक रूप से हिन्दूधर्म के मूलस्रोत माने जाते हैं। गौतम-धर्मसूत्र[1] के अनुसार 'वेद तथा वेदविदों की स्मृति और शील धर्म के मूल हैं।' अन्य धर्म-सूत्र तथा स्मृतियाँ भी उक्त मत का समर्थन करती हैं।[2] वेदों के अनुशीलन से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

ऋग्वेद भारतीय आर्यों के धार्मिक साहित्य का प्राचीनतम आलेख है। यद्यपि इसमें अङ्कित धार्मिक चित्र किसी भी प्रकार पूर्ण नहीं है तथापि कतिपय स्थलों पर महनीय देवताओं की स्तुति में पुरोहितों द्वारा प्रयुक्त

(१) वेदो धर्ममूलम्। तद्विदाञ्च स्मृतिशीले॥ १. १-२.

(२) आप. ध. सू. १. १, १-२; व. ध. सू. १, ४, ५।

ऋचाओं में हमें लोक-धर्म की झलक मिल जाती है। इसके अतिरिक्त धार्मिक विधि-विधानों से सम्बद्ध कुछ विशिष्ट सूक्त भी उपलब्ध हैं, जिनमें विवाह[1], अन्त्येष्टि[2] और गर्भाधान[3] का वर्णन किया गया है। कर्मकाण्ड की दृष्टि से ये वर्णन भले ही यथाविधि न हों, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वे अवश्य ही जीवन के अत्यन्त निकट हैं। परवर्ती युग के विवाह, अन्त्येष्टि और गर्भाधान संस्कार इन सूक्तों में वर्णित विधि-विधानों के स्पष्ट तथा विकसित परिणाम हैं। इसके अतिरिक्त धार्मिक विधि-विधानों में सामान्य रूप से विनियोज्य अनेक ऋचाएँ भी ऋग्वेद में उपलब्ध हैं। विभिन्न अवसरों पर उनका पाठ तथा गान किया जाता है, जिससे स्पष्ट है कि उनकी रचना किसी विशिष्ट संस्कार के लिये नहीं हुई थी। किन्तु लोकप्रिय धार्मिक समारम्भों के साथ उनके संबन्ध को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। पुनश्च, गृह्यसूत्रों में वैदिक मन्त्रों से साम्य रखनेवाले कतिपय स्थल भी उपलब्ध हैं। यह तथ्य सूचित करता है कि संस्कारों के अनेक अंश वैदिकमन्त्रों द्वारा परामृष्ट हैं तथा उत्तर-वैदिक ,अथवा वेदोत्तर युग में उनका उदय हुआ।

जहाँ तक संस्कारों के विस्तार व नियमों का सम्बन्ध है, यह स्वीकार करना पड़ता है कि ऋग्वेद के सूक्तों में विध्यात्मक नियमों का निर्देश नहीं है। किन्तु उनमें प्रासंगिक रूप से समाविष्ट अनेक सन्दर्भों से संस्कारों पर प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः वैदिक मन्त्रों की रचना उन सार्वजनिक तथा वैयक्तिक घटनाओं में दैवी सहकार के उद्बोधन के लिये की गई थी, जिनमें तत्कालीन जन-साधारण की रुचि थी। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में स्त्री, सन्तति तथा गार्हस्थ्य जीवन के लिये उपादेय सामग्री से संपन्न पुत्र तथा पौत्रों के साथ[4] शतायु[5] की तथा संततिघाती राक्षस के विनाश के लिये[6] प्रार्थना की गई है।

---

(१) १०. ८५। (२) १०. १४. १६. १८।

(३) १०. १८३, १८४।

(४) ऋ. वे. १ ६७, १. ११ ८, ३५, २०. १०, १८३।

(५) शतमिन्नु शरदो अन्तिदेवा यत्रानश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मानो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥
(ऋ. वे. १०. ८९, ९)

(६) ऋ. वे. १, १६२।

इन तथा इनके समान अन्य सन्दर्भों और जीवन के विभिन्न महत्त्वपूर्ण अवसरों पर किये जानेवाले संस्कारों में अत्यधिक समानता है। इसके अतिरिक्त संस्कारों के सामाजिक स्वरूप से सम्बद्ध अनेक निर्देश भी ऋग्वेद में उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिये, उस समय अभ्रातृका कन्या के लिये पति प्राप्त करना कठिन था और उन्हें प्रायः पितृगृह में अविवाहित जीवन व्यतीत करना पड़ता था।[1] विवाह के विभिन्न प्रकारों की ओर भी सङ्केत किया गया है। ऋग्वेद-काल में आसुरविवाह (पत्नी का क्रय) प्रचलित था। वसिष्ठ-धर्मसूत्र[2] में मैत्रायणी संहिता[3] से एक वचन उद्धृत किया गया है, जिसमें पति द्वारा पत्नी के क्रय करने का उल्लेख है। गान्धर्वविवाह की चर्चा इन शब्दों में की गई है:—'वह सुन्दर वधू भद्रा होती है, जो भलीभाँति अलंकृत होकर अनेक पुरुषों के मध्य में स्वयं अपने मित्र (पति) का वरण करती है[4]।' ऋग्वेद[5] में विद्यार्थी-जीवन की प्रशंसा की गई है।

सामवेद में, जिसके सारे मंत्र ऋग्वेद से लिये गये हैं, संस्कारों के इतिहास की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय सामग्री उपलब्ध नहीं है। यह मुख्यतः अपने स्वर तथा लय के कारण लोकप्रिय है। दीर्घ सत्रों तथा विवाह आदि शुभ अवसरों पर इसका गान किया जाता था। वाराह-गृह्यसूत्र वाद्य और गान का विवाह के अङ्ग के रूप में निर्देश करता है। किन्तु जहाँ तक संस्कारों के स्वरूप का सम्बन्ध है उस पर सामवेद से कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता।

यजुर्वेद धार्मिक विधि-विधानों के विकास में उन्नत स्तर का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी रचना के समय विभिन्न पुरोहितों के कार्य निर्धारित हो चुके थे। इसमें वे सभी बातें निश्चित कर दी गई हैं, जिनका व्यवहार अध्वर्यु और उसके सहयोगी दीर्घ सत्रों के अनुष्ठान में किया करते थे। किन्तु यजुर्वेद

(१) अमाजूरिव पित्रोः सचासती समानाद्य सदसस्त्वामिये भगम्। (वही, २. १७, ७.)

(२) १. ३६, ३७।

(३) १. ११ १२।

(४) भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशा स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित्। (ऋ. वे. १०, २७, १२)

(५) ऋ. वे. १०, १०९, ५।

प्रधानतः श्रौत यज्ञों से ही सम्बद्ध है। अतः संस्कारों के अध्ययन में हमें इससे कोई विशेष सहायता नहीं मिलती। इसमें केवल मुण्डन, जो साधारणतः श्रौतयज्ञों के पूर्व किया जाता था, की विधि का ही उल्लेख मिलता है, जिसमें छुरे की स्तुति की गई है और नाई को निर्देश दिये गये हैं।[1] यह निर्देश श्रौत और गृह्य संस्कारों में सामंजस्य स्थापित करता है।

अन्य संहिताओं के विपरीत लौकिक धर्म तथा धार्मिक विधि-विधान-सम्बन्धी जानकारी की दृष्टि से अथर्ववेद में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। इसमें हमें मानव जीवन के प्रत्येक भाग से सम्बद्ध मन्त्र मिलते हैं। इसमें विवाह[2] और अन्त्येष्टि[3]-विषयक सूक्त ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक विस्तृत हैं। एक सम्पूर्ण सूक्त में वैदिक ब्रह्मचारी की प्रशंसा की गई है।[4] गर्भाधान की चर्चा भी ऋग्वेद की अपेक्षा इसमें अधिक सूक्तों में की गई है।[5] अथर्ववेद के अठारहवें मण्डल में दीर्घायुष्य के लिये प्रार्थनाएँ की गई हैं, जिन्हें 'आयुष्यकर्माणि' कहते हैं। ये प्रार्थनाएँ मुख्य रूप से मुण्डन, गोदान तथा उपनयन आदि गृह्यसंस्कारों के अवसर पर व्यवहार में आती थीं। इसमें ऐसे सूक्त भी समाविष्ट हैं, जिनमें विवाह और प्रेम आदि का वर्णन किया गया है और जो अपने ढंग के अनूठे हैं। इन सूक्तों को कौशिक 'स्त्रीकर्माणि' कहते हैं। उनके द्वारा एक कुमारी ने पति प्राप्त करने के लिये विविध हृदयहीन व्यक्तियों और प्रेमियों में प्रेम को उत्तेजित किया, वधू को आशीर्वचन दिए गए, गर्भाधान किया गया और परिणामस्वरूप एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

इन सूक्तों में गर्भिणी स्त्री[6], गर्भस्थ और नवजात शिशु आदि की रक्षा के लिये प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद के इस लौकिक स्वरूप पर विचार कर रिजवे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यह आर्य-धर्म का विवरण न होकर आर्येतर जनों के विश्वासों का प्रतिनिधित्व करता है।[7] यह मत स्वीकृत नहीं किया जा सकता। यह सम्भव है कि भारतीय आर्यों ने अपने धर्म में अनेक आर्येतर

---

(१) ६. १२। (२) १४. १, २। (३) १८. १, ४।
(४) ११, ५। (५) ३, २३, ६, ८१। (६) ६. ६।
(७) ड्रामाज ऐण्ड दि ड्रामेटिक डान्सेज़ ऑव नॉन-युरोपियन रेसेज़। (पृ. १२२)

तत्वों का समावेश कर लिया हो, किन्तु आर्य-समाज के निम्नतर वर्ग की अभिरुचि भी धर्म के निम्न स्तर में आर्येतरों की अपेक्षा कम नहीं थी। अथर्ववेद में पुरोहितों के अत्यन्त विशिष्ट कर्मकाण्ड की अपेक्षा जनसाधारण के विश्वासों तथा धार्मिक विधि-विधानों का चित्रण ही अधिक किया गया है।

२. ब्राह्मण ग्रन्थ

वेदों के पश्चात् अनुसन्धान के स्रोतों की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये वैदिक कर्मकाण्ड-विषयक धारावाही ग्रंथ हैं। ब्राह्मणों में श्रौतयज्ञों के अनुष्ठान के नियमों और यज्ञिय क्रियाओं के अर्थ तथा प्रयोजन के अर्थवाद का निरूपण किया गया है। उनमें यज्ञ-विषयक अनेक वादों का समावेश है। उनमें वैदिक सूक्तों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है और शब्दों की व्युत्पत्ति और प्रतीकों का स्पष्टीकरण किया गया है। किन्तु ब्राह्मण ग्रंथों का अधिकांश भाग श्रौत यज्ञों ने ही घेर लिया है, जिनकी तत्कालीन धर्म में प्रधानता थी। उनमें कहीं कहीं ऐसे संदर्भ आते हैं जो संस्कारों के इतिहास के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण हैं। गोपथ-ब्राह्मण[1] में उपनयन का अधूरा विवरण मिलता है। 'शतपथ-ब्राह्मण'[2] में कुछ भिन्न विवरण दिया गया है और विद्यार्थी-जीवन के लिये 'ब्रह्मचर्य' शब्द का व्यवहार किया गया है। विद्यार्थी के लिये 'अन्तेवासिन्' शब्द का प्रयोग शतपथ[3] और ऐतरेय[4] दोनों ब्राह्मणों में किया गया है। 'शतपथ-ब्राह्मण'[5] में 'अजिन' या मृगचर्म का उल्लेख तथा गोदान-संस्कार का वर्णन किया गया है।[6] तीसरी या चौथी पीढ़ी में विवाह की मान्यता भी इसी में उपलब्ध होती है।[7] 'ताण्ड्य-ब्राह्मण' व्रात्यों और व्रात्यस्तोम यज्ञ का उल्लेख करता है, जिसके अनुष्ठान से वे पुनः आर्यों के समुदाय में समाविष्ट कर लिये जाते थे। पूर्ववर्ती मण्डलों के परिशिष्टों के अतिरिक्त 'शतपथ-ब्राह्मण' ११-१४ में उपनयन,[8] वेदों के दैनिक स्वाध्याय[9] और अन्त्येष्टि[10] आदि ऐसे विषयोंपर प्रकरण दिये गये हैं, जिनका विवरण अन्य ब्राह्मणों में नहीं मिलता।

---

(१) १, २. १-८। (२) ११. ३, ३. १। (३) ५. १. ५, १७।
(४) ३. २. ६। (५) ५. २. १. २१। (६) ३.१. २. ५, ६।
(७) १. ८. ३. ६। (८) ११. ५. ४।
(९) श. प. ब्रा. ११. ५. ७। (१०) वही. १३।

४. आरण्यक और उपनिषद्

आरण्यक और उपनिषद् मुख्यतः दार्शनिक विषयों से सम्बद्ध हैं और संस्कारों पर विशेष प्रकाश नहीं डालते। किन्तु वैदिक यज्ञ और संस्कार उस समय भी अत्यन्त लोकप्रिय थे, अतः इतस्ततः आरण्यकों और उपनिषदों में भी उनका वर्णन प्राप्त हो जाता है। संस्कारों की दृष्टि से 'तैत्तिरीय-आरण्यक' महत्त्वपूर्ण है। उससे विदित होता है कि विवाह सामान्यतः परिपक्व आयु[1] में होते थे, यतः अविवाहित कन्या का गर्भिणी होना पाप समझा जाता था। महायज्ञ अथवा दैनिक स्वाध्याय की सराहना की गई है।[2] 'परे' संज्ञक षष्ठ अध्याय में पितृमेध या दाहक्रिया के लिए आवश्यक मन्त्र दिए गए हैं।

उपनिषदों में उपनयन संस्कार से संबद्ध अनेक संदर्भ उपलब्ध होते हैं। प्रतीत होता है कि चार आश्रमों के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा उस समय तक हो चुकी थी। ब्रह्मचारी गुरु के कुल में रहते थे और गोपालन तथा गुरु की ऐसी ही अन्य सेवाएँ करते थे। ब्रह्मविद्या के अध्ययन के लिए भी समाज में गुरु का महत्त्व मान्य हो चुका था और विद्यार्थी को इस प्रयोजन के लिए गुरु के पास जाना पड़ता था। छान्दोग्य-उपनिषद् कहती है कि आचार्य ही ब्रह्मचारी की एक मात्र गति या आश्रय है तथा आचार्य से ही विद्या का सफल अध्ययन किया जा सकता है।[3] 'छान्दोग्य-उपनिषद्' में गुरु के यहाँ विद्यार्थी के प्रवेश का वर्णन मिलता है।[4] बृहद्रथ और शाकायन के संलाप में मैत्रायणी-उपनिषद् में अध्ययन के विषय में प्रतिबन्ध भी उपलब्ध होते हैं। वहाँ कहा गया है कि गुरु और विद्या के निन्दक अनृजु तथा असावधान शिष्य के लिए विद्या का प्रवचन नहीं करना चाहिए।[5] 'छान्दोग्य-उपनिषद्' में ब्रह्मचर्य के साधारण काल का उल्लेख किया

---

(१) कुमारीषु कानीनीषु जारिणीषु च ये हिता। १. २७।

(२) वही २. ९।

(३) आचार्यस्तु ते गतिर्वक्ता आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति।
(छा. उ. ४, १४, १)

(४) ४, ४।

(५) असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्। (अ. १)

गया है।[1] 'बृहदारण्यक-उपनिषद्' पवित्र गायत्री मन्त्र को गुप्त रूप से समझाने का प्रयत्न करती है।[2] (बृहदारण्यक-उपनिषद् में पवित्र गायत्री मन्त्र की व्याख्या रहस्यपूर्ण ढंग से की गई है)। तैत्तिरीय-उपनिषद् में अनेक अत्यन्त बहुमूल्य व्यावहारिक निर्देश मिलते हैं,[3] जैसे गुरुकुल छोड़नेवाले विद्यार्थी के लिए। जहाँ तक विवाह का प्रश्न है अनेक पत्नियों के साथ विवाह करना सम्भव था जैसा कि याज्ञवल्क्य और उनकी दो पत्नियों के वर्णन से स्पष्ट हैं। छान्दोग्य-उपनिषद् में छोटी आयु में विवाह होने का उल्लेख किया गया है।[4] इस प्रसङ्ग में 'आटिकि' पत्नी की चर्चा की गई है। उत्तरवर्ती लेखक इसका तात्पर्य अल्पस्प आयु में विवाहित कन्या से लेते हैं। किन्तु इसका उपहास किया गया है। इसी उपनिषद्[5] में नामकरण की पद्धति की चर्चा अनेक स्थलों पर आई है। वेदों में निष्णात विद्वान् पुत्र की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई है। 'बृहदारण्यक'[6] उपनिषद् में विस्तृत यज्ञिय विधान उपलब्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद्' में संन्यासी की किसी भी प्रकार की अन्त्येष्टि क्रिया न करने का प्रचलन मिलता है।

५. कर्मकाण्ड साहित्य

वैदिक यज्ञों और घरेलू विधि विधानों का व्यवस्थित विवरण पहले पहल श्रौत साहित्य में उपलब्ध होता है। श्रौतसूत्रों में अग्निहोत्र के लिए अग्न्याधान, दर्शपौर्णमास्य, चातुर्मास्य, पशुयाग, अश्वमेध, राजसूय तथा वाजपेय यज्ञों के सम्बन्ध में निर्देश दिए गए हैं। किन्तु श्रौत सूत्रों में संस्कारों के सम्बन्ध में कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं होती क्योंकि उनका अधिकांश वैदिक यज्ञों ने ही घेर लिया है। हाँ, गृह्यसूत्रों में सभी प्रकार के प्रचलनों, संस्कारों, क्रिया-काण्ड, प्रथाओं और यज्ञों के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश मिलते हैं, जिनका अनुष्ठान और पालन करना प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य था। इनमें गर्भाधान से मृत्यु और उसके पश्चात् शवदाह पर्यन्त किए जानेवाले संस्कार भी आते हैं। गृह्यसूत्र विवाह से प्रारम्भ कर गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, उपनयन और समावर्तन

---

(१) ६. २। (२) ५. १५। (३) १. २।
(४) १. १०. १। (५) ५. १५। (६) ६. ५।

संस्कारों का वर्णन करते हैं। इसके पश्चात् वे विवाहित दम्पति द्वारा किए जाने-वाले यज्ञों और विधि-विधानों का निरूपण तथा अन्त में अन्त्येष्टि या शवदाह का वर्णन करते हैं। उनमें संस्कारों से सम्बद्ध प्रत्येक विषय का विस्तृत निरूपण किया गया है और संस्कारों में विभिन्न अवसरों पर उच्चारण किए जाने वाले मन्त्रों और वचनों का उल्लेख है। अनेक गृह्यसूत्रों में अन्त्येष्टि संस्कार छोड़ दिया गया है, क्योंकि अशुभ समझे जाने के कारण इसका वर्णन स्वतन्त्र परिशिष्टों और पितृमेध सूत्रों में हुआ है। संस्कारों के कर्मकाण्डीय पार्श्व पर बल दिया गया तथा उनका सूक्ष्म वर्णन किया गया है। उनके सामाजिक पार्श्व की ओर या तो साधारण रूप से सङ्केत कर दिया गया है अथवा उनका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। गृह्यसूत्र विभिन्न वैदिक शाखाओं और चरणों से सम्बद्ध हैं। अतः अनेक बातों में वे कुछ अंश तक एक दूसरे से मतभेद रखते हैं।

कर्मकाण्डीय साहित्य की अन्य शाखाएँ भी हैं। यद्यपि ये परवर्ती काल की रचनाएँ हैं तथापि उनका वर्गीकरण गृह्यसूत्रों के ही साथ करना सुविधा-जनक होगा। इनमें विविध कल्प, परिशिष्ट, कारिकाएँ, प्रयोग तथा पद्धतियाँ उल्लेखनीय हैं। श्राद्धकल्पों[1] और पितृमेध सूत्रों में अन्त्येष्टि संस्कार तथा पितृमेध यज्ञ के नियमों का वर्णन किया गया है, जो अनेक गृह्यसूत्रों के अनुरूप है। परिशिष्टों में संस्कारों के ऐसे विशिष्ट अङ्गों का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिनका गृह्यसूत्र में संक्षिप्त उल्लेख मिलता है।

संस्कार-सम्बन्धी अन्य रचनाओं—प्रयोगों, पद्धतियों और कारिकाओं में—कालक्रम से विकसित नूतन सामग्री मिलती है और कुछ विषयों में उनमें या तो स्वशाखा से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों के समस्त विधि-विधानों अथवा कुछ विशिष्ट क्रिया-कलापों का वर्णन मिलता है। पाणिग्रहण, उपनयन तथा अन्त्येष्टि आदि महत्त्वपूर्ण संस्कारों पर विस्तृत स्वतंत्र रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल पर्यन्त कर्मकाण्डीय साहित्य का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता रहा है।

---

(१) श्राद्धकल्पों में मानव, कात्यायन, शौनक, पैप्पलाद, गौतम, बौधायन तथा हिरण्यकेशी के श्राद्धकल्प सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

६. धर्मसूत्र

धर्म-सूत्र गृह्य-सूत्रों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं और सम्भवतः उन्हीं के क्रम में इनकी रचना हुई है। हिन्दू 'धर्म' शब्द से उचित कर्त्तव्य, विधि और धार्मिक प्रथाओं तथा चलनों का तात्पर्य समझते हैं। अतः अनेक स्थलों पर धर्म-सूत्रों तथा गृह्य-सूत्रों के वर्ण्य विषय एक दूसरे में समाविष्ट हो जाते हैं। गृह्यसूत्र घरेलू विधि-विधानों का वर्णन करते हैं जिनके अनुष्ठान की प्रत्येक गृहस्थ से अपेक्षा की जाती थी, जब कि धर्म-सूत्रों में हिन्दूसमाज के सदस्य के नाते मनुष्य के व्यवहार के नियमों का निरूपण किया गया है और वे किसी भी प्रकार के कर्म-काण्डीय क्रिया-कलापों का वर्णन नहीं करते। धर्म-सूत्र वर्ण और आश्रम का निरूपण करते हैं। आश्रम-धर्म के अन्तर्गत उपनयन और विवाह से सम्बद्ध नियमों का विशद वर्णन किया गया है। उनमें समावर्तन, उपाकर्म, अनध्याय, अशौच, श्राद्ध और मधुपर्कविषयक नियमों का भी समावेश है। वे संस्कारों के सामाजिक अंगों का सविस्तर निरूपण करते हैं, जिनकी ओर गृह्यसूत्रों में सङ्केतमात्र किया गया है।

७. स्मृतियाँ

स्मृतियाँ धर्म-सूत्रों के परवर्ती तथा सुव्यवस्थित विकास का प्रतिनिधित्व करती हैं। धर्म-सूत्रों के समान वे भी मुख्यतः कर्म-काण्ड की अपेक्षा मनुष्य के सामाजिक व्यवहार से ही सम्बन्धित हैं। उनके वर्ण्य विषयों का वर्गीकरण आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त इन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है। प्रथम शीर्षक के अन्तर्गत संस्कारों और उनकी नियामक विधियाँ दी गई हैं तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले नियमों का उल्लेख है। उपनयन और विवाह का सर्वाधिक और पूर्ण वर्णन किया गया है, क्योंकि इन संस्कारों से वैयक्तिक जीवन के प्रथम और द्वितीय सोपान प्रारम्भ होते हैं। पञ्च-महायज्ञों का भी स्मृतियों में मुख्य स्थान है। मनुस्मृति[1] इन्हें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान देती और इनका विस्तृत निरूपण करती है। स्मृतियों से हमें स्तुतियों, यज्ञों, गृहस्थ के कर्तव्यों, अध्यात्म-सम्बन्धी धारणाओं तथा अन्त्येष्टि और श्राद्ध के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। इनमें संस्कार करने के अधिकार, छोटे-छोटे विधि-विधानों तथा क्रियाओं और जीवन के विविध अवसरों पर विविध पौराणिक देवताओं

---

(१) ३. ६७-७५।

के अर्चन आदि ऐसे विषयों की चर्चा की गई है, जिनके सम्बन्ध में गृह्यसूत्र और धर्म-सूत्र प्रायः मौन हैं। किन्तु सभी स्मृतियों में संस्कारों का निरूपण नहीं किया गया है। कतिपय स्मृतियों में केवल व्यवहार या विधि का ही निरूपण हुआ है, यथा, नारद-स्मृतिमें तो कुछ स्मृतियाँ प्रायश्चित्तों के वर्णन तक ही अपने को सीमित रखती हैं, जैसे, पराशर-स्मृति। प्रायश्चित्त के अन्तर्गत जन्म मरण-जन्य अशौच का वर्णन किया गया है। जहाँ तक संस्कारों का सम्बन्ध है, स्मृतियों की मुख्य विशेषता यह है कि वे वैदिक हिन्दुओं के स्मार्त और पौराणिक धर्म के मध्य में संक्रमण-काल की कड़ी हैं। वे वैदिक यज्ञों की नाममात्र भी चर्चा न कर संस्कारों तथा अर्चना के नवीन प्रकारों का निरूपण करती हैं। संस्कारों के सामाजिक पार्श्वों पर व्यापक बन्धन लगाए गए, यथा, आधुनिकतम स्मृतियों में अन्तर्जातीय विवाह की पूर्ण अमान्यता।

८. महाकाव्य

महाकाव्य भी संस्कारों के विषय में थोड़ी-बहुत जानकारी देते हैं। ब्राह्मणों ने, जो कि साहित्य के संरक्षक थे, अपने धर्म और संस्कृति के प्रचार के लिए महाकाव्यों का उपयोग किया, क्योंकि वे अब लोकप्रिय हो चले थे। अतः महाभारत में ऐसे अनेक धार्मिक और संस्कार-सम्बन्धी तत्त्वों का समावेश हो गया जो मूलतः हिन्दू धर्म में नहीं थे तथा महाभारत हिन्दू धर्म का प्रामाणिक ग्रन्थ बन गया। ईसा की ५ वीं शताब्दी के पूर्व ही महाभारत संहिता के रूप में मान्य हो चुका था।[1] संस्कार-विषयक अनेक प्रकरणों पर टीकाओं और निबन्धों में महाभारत के विपुल उद्धरण उपलब्ध होते हैं।[2] धर्मशास्त्र पर लिखे गए निबन्धों में 'भारते' अर्थात् 'महाभारत में' शब्द का प्रायः प्रयोग किया गया है, जिससे विदित होता है कि महाभारत तथा स्मृतियों के मध्य अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान है। 'मनुस्मृति' और महाभारत में अनेक समान श्लोक मिलते हैं। वृद्धगौतम-स्मृति[3], बृहस्पति-स्मृति और यम-स्मृति मूलतः

(१) बूलर और किर्स्टे: कन्ट्रिब्यूशन टु दि हिस्ट्री ऑव् महाभारत, १८९२, ४-२७।

(२) तुलना वी. मि. सं., सं. च. आदि।

(३) धर्मशास्त्र-संग्रह, कलकत्ता। १८७६, भा. २, पृ. ४९७-६३५; तुलना इस्लामपुरकर, इ. क. की भूमिका पृ. ६-९।

महाभारत के ही अंग थे। रामायण, रघुवंश तथा कुमारसंभव जैसे महाकाव्य और उत्तर-रामचरित आदि नाटक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिनसे संस्कार से सम्बद्ध अनेक जटिल विषयों का स्पष्टीकरण हो जाता है।

९. पुराण

संस्कारों के अध्ययन की दृष्टि से पुराण महाकाव्यों की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। धर्मशास्त्रीय साहित्य पर इनका उल्लेखनीय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। प्राचीनतम धर्मशास्त्रों में उपलब्ध पुराणों के उद्धरण, पुराणों की तत्कालीन लोकप्रियता का साक्ष्य देते हैं। ये अनेक प्रकार से स्मृतियों से सम्बद्ध हैं। आपस्तम्ब धर्म-सूत्र[1] 'भविष्यपुराण'[2] का विशेष रूप से उल्लेख करता है। श्राद्ध पर लिखते हुए कैलेण्ड ने मार्कण्डेय-पुराण और गौतम-स्मृति, विष्णुधर्मोत्तर-पुराण और विष्णु-स्मृति, चतुर्विंशति-पुराण और मानव-श्राद्धकल्प, कूर्म-पुराण और औशनस-स्मृति तथा ब्रह्मपुराण और कठीय विधि-विधानों के बीच विद्यमान सम्बन्ध का निरूपण किया है। पुराणों और स्मृतियों में संस्कारों से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक प्रकरणों का पूर्णतः समान वर्णन मिलता है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य-स्मृति और अग्नि तथा गरुड-पुराणों का श्राद्ध-कल्प एक ही है। 'भविष्य पुराण' में मनुस्मृति के प्रथम तीन अध्यायों से अनेक लम्बे उद्धरण ज्यों के त्यों ले लिए गए हैं। 'लघुहारीत-स्मृति' नृसिंह-पुराण के उद्धरणों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

पुराण हिन्दुओं के धार्मिक विधि-विधानों, प्रथाओं, चलनों, व्रतों तथा भोजों का निरूपण करते हैं और इस प्रकार संस्कारों के अनेक अंगों पर प्रकाश पड़ता है। नक्षत्र-विद्या-सम्बन्धी विचार, जिनका संस्कारों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, पुराणों में ही विकसित हुए हैं। शरीर के विविध चिह्नों को, जिनके आधार पर वर या वधू की उपयुक्तता निश्चित की जाती है, लिंगपुराण में दैवी रूप दिया गया है।[3] पुराण नियामक तत्त्व का भी काम करते रहे और उन्होंने मध्यकाल में हिन्दू समाज की रक्षा की। अनेक प्राचीन प्रथाओं और

---

(१) आपस्तम्ब धर्मसूत्र १. २४. ६।

(२) Altind Ahneneult. ६८, ७९, ११२।

(३) वी. मि. सं. भा. १ में उद्धृत।

वचनों पर, जो समाज के लिए हानिप्रद हो गए थे, ब्रह्म[1] और आदित्य-पुराणों[2] ने कलिवर्ज्य मानकर प्रतिबन्ध लगा दिया।

१०. टीकाएँ

उपलब्ध गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों और स्मृतियों की टीकाएँ भी संस्कारों के विषय में परवर्ती और नवीन जानकारी देती हैं। यद्यपि वे प्राचीन ग्रन्थों की व्याख्या करने का प्रस्ताव करती हैं किन्तु उनमें वे केवल प्राचीन वचनों को स्पष्ट ही नहीं करतीं अपितु अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ भी देती हैं। वे अनेक अंशों में आकर ग्रन्थों की पूरक हैं तथा उनका परिसीमन करती हैं। इस प्रकार उनमें समाज की नवीन अवस्था की प्रतिच्छाया मिलती है, जब कि धर्मशास्त्रों की अनेक प्राचीन विधियाँ पुरानी पड़ गयी थीं और नवीन नियमों की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। वे विलक्षण व्याख्याओं, विस्तार, नियमन तथा कुछ बातों को अनियमित घोषित करने के माध्यम से ही ऐसा कर सकती थीं। सत्य तो यह है कि टीकाएँ मूल ग्रन्थों की अपेक्षा आजकल अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि विविध प्रदेशों के हिन्दू उनमें प्रचलित किसी विशिष्ट टीका का ही अनुसरण करते हैं। आधुनिक पण्डित उन प्राचीन प्रमाणों को भी अमान्य ठहरा देते हैं जो टीकाकारों द्वारा उद्धृत नहीं किए गए हैं।

११. मध्यकालीन निबन्ध

मध्यकालीन निबन्धों ने संस्कारों को एक नवीन दिशा दी। गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र विभिन्न वैदिक सम्प्रदायों से सम्बद्ध थे और स्मृतियाँ भी कुछ दूर तक उनसे सम्बन्धित थीं, किन्तु निबन्ध किसी भी वैदिक सम्प्रदाय के प्रति आग्रह नहीं रखते। अपितु वे प्रकृति और वर्णन की दृष्टि से विद्वत्तापूर्ण तथा व्यापक कृतियाँ हैं। निबन्ध धर्म के विविध प्रकरणों के विषय में प्राचीन स्रोतों के विशद् संस्करण हैं। संस्कारों का निरूपण स्वतंत्र प्रकरण में किया गया है जिसे

---

(१) गोत्रान्मातुः सपिण्डाच्च विवाहो गोवधस्तथा।
नराश्वमेधौ मद्यं च कलौ वर्ज्यं द्विजातिभिः॥

ना. स्मृ. पृ. २६१ में उद्धृत

(२) कलिवर्ज्यपर चतुर्वर्गचिन्तामणि तथा ना. स्मृ. पृ. २६२ पर उद्धृत।

संस्कार-काण्ड,[1] संस्कार-प्रकाश[2] आदि विभिन्न नाम दिये गये हैं। उनमें अनेक प्राचीन और अप्रचलित संस्कारों की पुनरावृत्ति भी मिलती है। पाठों का वर्गीकरण लेखकों ने अपनी सुविधा की दृष्टि से किया है। वे रचनाओं के कालक्रम की ओर ध्यान न देकर प्राचीन पाठों का मनमानी ढंग से समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं। विविध प्रान्तों में विविध निबन्ध प्रचलित हैं, अतः उनमें एक ही विषय में परस्पर विरोधी-विचारों का समावेश दृष्टिगोचर होता है।

१२. प्रथाएँ

आरम्भ से ही प्रथाएँ हिन्दू धर्म का एक प्रमुख आधार मानी जाती रही हैं। गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब तथा वसिष्ठ धर्मसूत्र और मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ सभी प्रथाओं का प्रमाण की सूची में परिगणन करती हैं।[3] किन्तु हिन्दू-धर्मका कोई भी अङ्ग संस्कारों की अपेक्षा प्रथाओं पर अधिक आधारित नहीं हैं, जो लोक-प्रिय विश्वासों तथा चलनों से उत्पन्न हुए और राज्य के हस्तक्षेप के बिना स्वतंत्र रूप से विकसित हुए हैं। गृह्य-सूत्र प्रायः संस्कारों के अनुष्ठान में अनुष्ठाता के कुल की प्रथाओं की चर्चा करते हैं। यथार्थ तो यह है कि गृह्य-सूत्रों में संकलन के पूर्व संस्कारों का एकमात्र आधार प्रथाएँ ही थीं। किन्तु फिर भी अनेक प्रथाएँ जिनका संकलन नहीं किया जासका, संस्कारों के विषय में प्रमाण मानी जाती रहीं। विवाह-संस्कार के नियमों का उल्लेख करते हुए आश्वलायन-गृह्य-सूत्र[4] में कहा गया है कि 'विविध जनपदों और ग्रामों के चलन तथा प्रथाएँ एक दूसरे से भिन्न हैं, विवाह के सम्बन्ध में उन सभी का पालन करना चाहिए। हम केवल सामान्य विषयों का ही निर्देश कर रहे हैं'। विवाह, जन्म आदि जैसे हर्ष के अवसरों पर धार्मिक विधि-विधानों तथा क्रियाओं में समन्वित जनसाधारण की रुचि और परिष्कार के आधार पर विभेद होना स्वाभाविक ही था। आपस्तम्ब अन्त्येष्टि के विषय में महिलाओं की प्रामाणिकता का विशेष रूप से उल्लेख करते हैं क्योंकि वे समाज के सर्वाधिक पुरातनतावादी तत्त्व हैं। वे कहते हैं कि स्त्रियाँ जैसा कहें वैसा करना चाहिए[5]। बौधायन

---

(१) सं. च. में। (२) वी. मि. में। (३) देखिये, पृ. १, २।

(४) अथ खलूच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्माश्च तान् विवाहे प्रतीयात्। यत्तु समानं तद् वक्ष्यामः। १. ५. १.।

(५) यत् स्त्रिय आहुस्तत् कुर्युः। आप. ध. सू. १. १. ६.।

अशौच के विषय में कहता है, कि 'शेष क्रियायों के विषय में लोक (परम्परा) का अनुसरण करना चाहिए',[1] क्योंकि अन्त्येष्टि क्रियायें स्थानीय विश्वासों और अन्धविश्वासों से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित थीं। इसप्रकार स्मृतियों के आलेख के विपरीत प्रथाएँ गतिशील शक्ति थीं, जो उनमें समय समय पर आवश्यक परिवर्तन करती रहती थीं। विधि-विधान या संस्कार की पद्धति निश्चित करने में उनका महत्त्वपूर्ण योग रहा है।

प्रथाओं को मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जासकता है। प्रथम वर्ग में देशाचार या विशेष प्रदेशों में प्रचलित प्रथाएँ आती हैं, यथा दक्षिण भारत में मामा की लड़की से विवाह करना प्रचलित है, जो अन्यत्र प्रतिषिद्ध है।[2] दूसरे वर्ग में कुलाचार या पारिवारिक प्रथाएँ आती हैं, उदाहरणार्थ शिखाओं की संख्या व स्थान का निश्चय संस्कार्य व्यक्ति के प्रवर के आधार पर किया जाता था। लौगाक्षि के अनुसार, कमुजावसिष्ठों को दाहिनी ओर और अत्रिकाश्यपों को दोनों ओर शिखा रखनी चाहिए तथा भृगुओं को मुण्डित रहना चाहिए।[3] अन्तिम वर्ग जात्याचार या जाति-बिरादरी में प्रचलित प्रथाओं का है, जैसे–राक्षस और गान्धर्व विवाह अवांछनीय समझे जाते थे, तथापि क्षत्रियों के लिए वे मान्य थे।[4]

१३. भारत-ईरानीय, भारोपीय और सामी आधार

हिन्दू-संस्कारों के सम्बन्ध में जानकारी के आधार भारतीय साहित्य और प्रथाओं तक ही सीमित नहीं हैं। कतिपय संस्कार, विशेषतः संस्कारों के अनेक अङ्गों का सम्बन्ध प्राग्वैदिक काल से स्थापित किया जा सकता है, जब भारत-ईरानीय तथा कुछ भारोपीय लोग सामान्य विश्वासों में सहभागी होते हुए तथा समान धार्मिक अनुष्ठानों को करते हुए एक साथ रहते थे। अवेस्ता में अङ्कित धर्म वैदिक धर्म से अत्यन्त समानता रखता है और पारसीक धर्म में हिन्दू-संस्कारों से मिलती जुलती कुछ धार्मिक विधियाँ अभी तक सुरक्षित हैं, यथा–जातकर्म, अन्नप्राशन और उपनयन संस्कार। अग्नि का अर्चन

(१) शेषक्रियाया लोकोऽनुरोध्यः। गृ. पि. सू.

(२) बौ. ध. सू. १ १. १७।

(३) चूडां कारयेत दक्षिणतः कमुजावसिष्ठानां, उभयतोऽत्रिकाश्यपानां मुण्डा भृगवः। लौगाक्षि की मि. सं. भा १, पृ. ३१५ पर उद्धृत।

(४) म. स्मृ. ३ २३, २४।

और यज्ञ की पद्धति हिन्दू तथा पारसीक दोनों धर्मों में एक समान थीं। यूनानी और रूमी धर्म भी यद्यपि ये और उनके धार्मिक विधि-विधान अनेक अंशों में हिन्दू-संस्कारों के समान थे, उदाहरणार्थ, स्थूल रूपरेखा की दृष्टि से विवाह की यूनानी पद्धतियाँ हिन्दुओं के समान थीं। अतः हिन्दू-संस्कारों के अध्ययन के लिए इन धर्मों का ज्ञान समुचित दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। क्योंकि प्राचीन काल में धार्मिक विधि-विधान सार्वभौम थे, अतः अ-भारोपीय जातियों में भी समानान्तर धार्मिक क्रियाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। सामी धर्मों में अनेक धार्मिक विधियाँ प्रचलित हैं, जिनका प्रादुर्भाव अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ था और जिनका अनुष्ठान मनुष्य जीवन में महत्त्वपूर्ण अवसरों पर किया जाता है। ईसाई धार्मिक विधियाँ मूलतः सामी स्रोतों से ही विकसित हुई हैं, यद्यपि आगे चलकर यूरोप में प्रसार के समय उनमें अनेक आर्यतत्त्वों का समावेश हो गया है। ईसाई और इस्लाम दोनों धर्मों में जातकर्म (कन्फर्मेशन), नामकरण (बैप्टिज्म) विवाह आदि संस्कार प्रचलित हैं। ये हिन्दू और सामी धार्मिक क्रियाओं के बीच तुलना के साधन का काम दे सकते हैं, जो विचारों के समान अनुक्रम से उत्पन्न हुई हैं।

१४. आधारों का सापेक्ष महत्त्व

वेदों से प्राप्त सामान्य जानकारी प्रधानतः प्रासंगिक होते हुए भी अत्यन्त विश्वसनीय है। इनमें पुरोहितों के समान कवि धार्मिक क्रियाओं को लादने का प्रयत्न नहीं करता अपितु वह केवल लोक-प्रिय स्रोतों और धार्मिक विधियों का ही समावेश करता है। विवाह और अन्त्येष्टि आदि विशेष अवसरों पर उच्चारण की जानेवाली ऋचाएँ धार्मिक क्रियाओं को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती हैं। विण्टरनित्स[1] इन्हें 'वर्णनात्मक गीत' कहते हैं। भले ही यह सत्य हो, किन्तु हम इस बात से भी इनकार नहीं कर सकते कि वैदिक कवि ने यथासम्भव वास्तविकता के प्रति यथार्थ रहने का प्रयास अवश्य किया होगा। यदि हम यह सिद्धान्त मान भी लें कि वैदिक मंत्र हृदय की कवित्वमय अभिव्यक्ति हैं और धार्मिक विधियों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, तो भी वैदिक गायकों के तत्कालीन कर्मकाण्डीय वातावरण से प्रभावित होने की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उपनिषदों, पुराणों और महाकाव्यों

(१) ए हिस्ट्री ऑव् इंडियन लिटरेचर, भा. १. पृ. १५४।

में उपलब्ध आकस्मिक प्रसंगों की भी यही दशा है। उनका पोषक तथा पूरक मूल्य है। 'ब्राह्मणों' में कर्म-काण्डों की चर्चा कल्पनात्मक है, और उनका विश्लेषण तथा व्याख्या अत्यन्त विलक्षण हैं। अतः हम उन्हें जैसे के तैसे रूप में नहीं ले सकते। कुछ भी हो, अत्युक्ति और कल्पना के होने पर भी, हमें यज्ञों और धार्मिक क्रियाओं की चमत्कारक शक्तियों में विश्वास रखनेवाले जन-साधारण का मानसिक चित्र उपलब्ध होता है। 'ब्राह्मणों' की कर्मकाण्डीय विधियों का उपयोग और प्रसार परवर्ती सूत्रों में किया गया है। अतः इसमें कोई भी सन्देह नहीं रह जाता कि ये क्रियायें अपने समय के लिए विश्वसनीय हैं। कर्मकाण्ड-साहित्य में प्राचीन काल की साधारण क्रियाओं का अत्यन्त विस्तार किया गया है। कर्म-काण्ड के विस्तार के लिए पुरोहित बहुत कुछ उत्तरदायी हैं, किन्तु धार्मिक विधि-विधान तथा क्रियाएँ उनकी अपनी सृष्टि नहीं, अपितु मुख्यतः उन्होंने सामान्य चलनों को ही अङ्कित किया है, यद्यपि उनमें उन्होंने परिष्कार कर दिया और उन्हें युक्तिसंगत रूप देने का प्रयत्न किया। यदि ये कर्मकाण्ड मूलतः लोक-प्रिय न होते तो ये इतने सार्वभौम तथा चिरस्थायी नहीं हो सकते थे। संस्कारों का वर्णन करते समय हम मुख्यतः साहित्य के इस वर्ग पर आश्रित रहे हैं। धर्म-सूत्र और स्मृतियाँ जो नियमों तथा निर्देशों का निरूपण करती हैं, संस्कारों की दृष्टि से गृह्य-सूत्रों के समान उपयोगी नहीं हैं। उनमें आदर्श अधिक है जिसका अनुसरण केवल आंशिक रूप से किया जाता था। क्योंकि प्राचीन काल में मनुष्य पर धर्म का नियन्त्रण अत्यन्त व्यापक था, अतः इन नियमों तथा निर्देशों को आदर की दृष्टि से देखा तथा बड़ी दूर तक इनका पालन किया जाता था। धर्म-सूत्र और स्मृतियाँ किसी भी वैदिक शाखा से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध नहीं थीं और उनका अनुसरण सार्वभौम रूप से होता था। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में उनके नियमों और निर्देशों को यथातथ्य रूप में समझा और उनका प्रयोग किया गया है। टीकाओं और निबन्धों के विचार अपने समय के लिए मूल-ग्रंथों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय हैं, क्योंकि मूल-ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीनकाल में भिन्न परिस्थितियों में लिखे गए थे। कुछ भी हो प्राचीन ग्रन्थों पर उनकी व्याख्याएं प्रत्येक काल के लिए मान्य नहीं हो सकतीं जैसा कि टीकाकार दिखाने का प्रयत्न करते हैं।

—o—

द्वितीय अध्याय

संस्कार का अर्थ और उनकी संख्या

१. 'संस्कार' शब्द का अर्थ

संस्कार शब्द का दूसरी भाषा में याथातथ्य अनुवाद करना असम्भव है। अंग्रेजी के 'सिरीमॅनी' (Ceremony) और लैटिन के 'सिरीमोनिया' (Caerimonia) शब्दों में संस्कार शब्द का अर्थ व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। इसकी अपेक्षा 'सिरीमॅनी' शब्द का प्रयोग संस्कृत 'कर्म' अथवा सामान्यरूप से धार्मिक क्रियाओं के लिए अधिक उपयुक्त है। संस्कार का अभिप्राय निरी बाह्य धार्मिक क्रियाओं, अनुशासित अनुष्ठान, व्यर्थ आडम्बर, कोरा कर्मकाण्ड, राज्यद्वारा निर्दिष्ट चलनों, औपचारिकताओं तथा अनुशासित व्यवहार से नहीं है[1], जैसा कि साधारणतः समझा जाता है। और न उसका अभिप्राय उन विधि-विधानों तथा कर्मकाण्ड से ही है, जिनसे हम विधि का स्वरूप, धार्मिक कृत्य अथवा अनुष्ठान के लिए आवश्यक अथवा सामान्य क्रिया अथवा किसी चर्च के विशिष्ट चलनों के अर्थ लेते हैं[2]। संस्कार शब्द का अधिक उपयुक्त पर्याय अंग्रेजी का सेक्रामेण्ट शब्द है, जिसका अर्थ है 'धार्मिक विधि-विधान अथवा कृत्य जो आन्तरिक तथा आत्मिक सौन्दर्य का बाह्य तथा दृश्य प्रतीक माना जाता है', और जिसका व्यवहार प्राच्य, प्राक्-सुधार-कालीन पाश्चात्य तथा रोमन कैथॉलिक चर्च बपतिस्मा, सम्पुष्टि (कन्फर्मेशन), यूखारिस्त, व्रत (पीनान्स), अभ्यञ्जन (एक्स्ट्रीम अंक्शन), आदेश तथा विवाह के सात कृत्यों के लिए करते थे। किसी वचन अथवा प्रतिमा की पुष्टि, रहस्यपूर्ण महत्व की वस्तु, पवित्र प्रभाव तथा प्रतीक भी 'सैक्रामेन्ट शब्द का अर्थ है[3]। इस प्रकार

---

(१) ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी 'Ceremony' शब्द।

(२) ,, ,, Rite शब्द।

(३) ,, ,, Sacrament शब्द।

यह अनेक अन्य धार्मिक क्षेत्रों को भी व्याप्त कर लेता है, जो संस्कृत साहित्य में शुद्धि, प्रायश्चित्त, व्रत आदि शब्दों के अन्तर्गत आते हैं।

संस्कार शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की सम् पूर्वक 'कृञ्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय कर के की गई है (सम् + √कृ + घञ् = संस्कार), और इसका प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। मीमांसक[1] यज्ञाङ्गभूत पुरोडाश आदि की विधिवत् शुद्धि से इसका आशय समझते हैं। अद्वैतवेदान्ती[2] जीव पर शारीरिक क्रियाओं के मिथ्या आरोप को संस्कार मानते हैं। नैयायिक भावों को व्यक्त करने की आत्मव्यञ्जक शक्ति को संस्कार समझते हैं, जिसका परिगणन वैशेषिक दर्शन में चौबीस गुणों के अन्तर्गत किया गया है। संस्कृत साहित्य में इसका प्रयोग शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण[3], सौजन्य, पूर्णता, व्याकरण-सम्बन्धी शुद्धि[4], संस्करण, परिष्करण[5], शोभा, आभूषण[6], प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, छाप[7], स्मरणशक्ति, स्मरणशक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव[8], शुद्धि-क्रिया, धार्मिक-विधि, विधान[9], अभिषेक, विचार, भावना, धारणा, कार्य का परिणाम, क्रिया की विशेषता आदि अर्थों में हुआ है।[10]

---

(१) प्रोक्षणादिजन्यसंस्कारो यज्ञाङ्ग-पुरोडाशेष्विति द्रव्यधर्म।
वाचस्पत्य बृहदभिधान, ५. पृ० ५१८८।

(२) स्नानाचमनादिजन्या संस्कारा देहे उत्पद्यमानानि तदभिमानानि जीवे कल्प्यन्ते। वही.

(३) निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्।
रघुवंश, ३. ३५।

(४) संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च।
कुमारसम्भव, १ २८।

(५) प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ। रघुवंश, ३. १८।

(६) स्वभावसुन्दर वस्तु न संस्कारमपेक्षते। शाकुन्तल, ७, ३३।

(७) यन्नवे भाजने लग्न- संस्कारो नान्यथा भवेत्। हितोपदेश, १-८।

(८) संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृति'। तर्कसंग्रह।

(९) कार्य शरीर-संस्कार- पावन प्रेत्य चेह च। म. स्मृ २. २६।

(१०) फलानुमेया प्रारम्भा- संस्कारा' प्राक्तना इव। रघुवंश, १. २०।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संस्कार शब्द के साथ विलक्षण अर्थों का योग हो गया है, जो इसके दीर्घ इतिहास-क्रम में इसके साथ संयुक्त हो गए हैं। इसका अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिये किये जानेवाले अनुष्ठानों में से है, जिनसे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके। किन्तु हिन्दू संस्कारों में अनेक आरम्भिक विचार, धार्मिक-विधि-विधान, उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान भी समाविष्ट हैं, जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक संस्कार ही न होकर संस्कार्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि और पूर्णता भी है। सावारणतः यह समझा जाता था कि सविधि संस्कारों के अनुष्ठान से संस्कृत व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्णनीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है[1]। संस्कार शब्द का प्रयोग इस सामूहिक अर्थ में होता था।

संस्कारों का उदय वैदिक काल या उससे पूर्व हो चुका था, जैसा कि वेदों के विशेष कर्मकाण्डीय मन्त्रों[2] से विदित होता है। किन्तु वैदिक साहित्य में संस्कार शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। ब्राह्मण साहित्य में भी इस शब्द का उल्लेख नहीं है, यद्यपि इसके विशेष प्रकरणों में उपनयन, अन्त्येष्टि आदि कतिपय संस्कारों के अङ्गों का वर्णन किया गया है[3]।

मीमांसक इस शब्द का व्यवहार वैयक्तिक शुद्धि के लिये किये जानेवाले अनुष्ठानों के लिये न कर अग्नि में आहुति देने के पूर्व यज्ञिय सामग्री के परिष्कार के लिये करते हैं[4]।

२. संस्कारों का विस्तार और संख्या

(क) गृह्यसूत्र—शास्त्रीय दृष्टि से संस्कार गृह्यसूत्रों के विषयक्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु यहाँ भी संस्कार शब्द का प्रयोग उसके वास्तविक

(१) आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशयविशेषः संस्कारः। वी. मि. सं. भा. १, पृ० १३२.।

(२) देखिये, पृ० २ पादटिप्पणियाँ।

(३) श. ब्रा. ११–१४।

(४) व्रीह्यादेश्च यज्ञाङ्गताप्रदानाय वैदिकमार्गेण प्रोक्षणादिः। वाचस्पत्य बृहदभिधान, भा. ५. पृ० ५१५८।

अर्थ में उपलब्ध नहीं होता। वे भी मीमांसकों के ही अर्थ में इसका प्रयोग करते हैं और 'पञ्च-भू-संस्कार'[1] और पाक-संस्कार का उल्लेख करते हैं जिससे वे यज्ञियभूमि के मार्जन, सेचन और शुद्धि तथा आहवनीय सामग्री के उबालने अथवा तैयार करने का आशय लेते हैं। सामाजिक मनोविज्ञान पर यज्ञों का गहरा प्रभाव था। अतः वे समस्त गृह्य विधि-विधानों का वर्गीकरण विविध यज्ञों के नामों के अन्तर्गत करते हैं[2]। दैहिक संस्कारों का अन्तर्भाव पाकयज्ञों में कर लिया गया[3]। पारस्कर गृह्यसूत्र पाकयज्ञों को चार भागों—हुत, आहुत, प्रहुत और प्राशित—में विभक्त करता है। बौधायन गृह्यसूत्र पाकयज्ञों का वर्गीकरण निम्नलिखित सात शीर्षकों के अन्तर्गत करता है:—हुत, प्रहुत, आहुत, शूलगव, बलिहरण, प्रत्यवरोहण तथा अष्टकाहोम। वह इन्हें निम्न प्रकार से समझता है:

जब यज्ञ में आहुति दे दी जाती है, तो उसे हुत कहते हैं। इसके अन्तर्गत विवाह से सीमन्तोन्नयन पर्यन्त संस्कार समाविष्ट हैं। अग्नि में आहुति देने के पश्चात् जब ब्राह्मणों तथा अन्य व्यक्तियों को दान, दक्षिणा दी जाती है, तो उसे प्रहुत कहा जाता है। इसमें जातकर्म से चौल पर्यन्त सम्पूर्ण संस्कारों का समावेश हो जाता है। आहुति तथा ब्राह्मणों को दक्षिणा देने के अनन्तर, जब कोई स्वयं अन्य व्यक्तियों से उपहार प्राप्त करता है, तो उसे आहुत कहते हैं।

उपनयन और समावर्तन संस्कार इसमें अन्तर्भूत हैं। इस प्रकार, जिनका नाम आगे चलकर संस्कार रखा गया, यहाँ उनका निरूपण गृह्य-यज्ञों के रूप में किया गया है। उनमें दैहिक पवित्रता तथा व्यक्तित्व की पूर्णता से सम्बद्ध कोई स्पष्ट विचार दृष्टिगोचर नहीं होता। धार्मिक कृत्यों का केन्द्र व्यक्ति नहीं, देवता हैं। अतः दैहिक संस्कारों सहित सम्पूर्ण यज्ञों का अनुष्ठान आराधन के लिये किया जाता था।

---

(१) आ. गृ. सू. १ ३. १; पा. गृ. सू. १. १. २; गो. गृ. सू.।
(२) १ १ ९, ख. गृ. सू. १. २. १, पा. गृ. सू. १ ४१, आ. गृ. सू. १. १ २.।
(३) बौ. गृ. सू. १. १. १—१२।

वैखानस स्मार्तसूत्रों में[1] दैहिक संस्कारों तथा विभिन्न अवसरों पर देवाराधन के लिये सम्पन्न किये जानेवाले यज्ञों में अपेक्षाकृत स्पष्ट विभेद स्थापित किया गया है। इनमें ऋतुसङ्गमन अथवा गर्भाधान से विवाह पर्यन्त अष्टादश शारीर संस्कारों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त यही ग्रन्थ संस्कारों से स्वतन्त्र बाईस यज्ञों का उल्लेख करता है[2]। इनमें पञ्चमहायज्ञ, सात पाकयज्ञ, सात हविर्यज्ञ और सात सोमयज्ञ भी समाविष्ट हैं। सच पूछा जाय तो ये वैयक्तिक संस्कार नहीं, दैनिक तथा ऋतुओं से सम्बन्धित यज्ञ हैं।

गृह्यसूत्र साधारणतः विवाह से आरम्भ कर समावर्तन पर्यन्त दैहिक संस्कारों का निरूपण करते हैं। उनमें से अधिकांश अन्त्येष्टि का उल्लेख नहीं करते। केवल पारास्कर, आश्वलायन तथा बौधायन आदि ही इसका वर्णन करते हैं। गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कारों की संख्या निम्नलिखित प्रकार है। इनमें बारह से लेकर अठारह तक संख्याएँ दी गई हैं और विविध सूचियों में संस्कारों के नामों में थोड़ा बहुत भेद है तथा कहीं कुछ बढ़ाया गया है और कहीं घटाया।

आश्वलायन गृह्यसूत्र	पारस्कर गृह्यसूत्र	बौधायन गृह्यसूत्र
१. विवाह	१. विवाह	१. विवाह
२. गर्भाधान	२. गर्भाधान	२. गर्भाधान
३. पुंसवन	३. पुंसवन	३. पुंसवन
४. सीमन्तोन्नयन	४. सीमन्तोन्नयन	४. सीमन्तोन्नयन
५. जातकर्म	५. जातकर्म	५. जातकर्म
६. नामकरण	६. नामकरण	६. नामकरण
७. चूडाकर्म	७. निष्क्रमण	७. उपनिष्क्रमण
८. अन्नप्राशन	८. अन्नप्राशन	८. अन्नप्राशन
९. उपनयन	९. चूडाकर्म	९. चूडाकर्म
१०. समावर्तन	१०. उपनयन	१०. कर्णवेध (गृह्यशेष)
११. अन्त्येष्टि	११. केशान्त	११. उपनयन
	१२. समावर्तन	१२. समावर्तन
	१३. अन्त्येष्टि	१३. पितृमेध

(१) १. १. । (२) वही. ।

वाराह गृह्यसूत्र	वैखानस गृह्यसूत्र
१. जातकर्म	१. ऋतुसङ्गमन
२. नामकरण	२. गर्भाधान
३. दन्तोद्गमन	३ सीमन्त
४ अन्नप्राशन	४. विष्णुबलि
५ चूडाकर्ण	५ जातकर्म
६ उपनयन	६. उत्थान
७. वेद-व्रतानि	७. नामकरण
८. गोदान	८. अन्नप्राशन
९. समावर्तन	९. प्रवसागमन
१० विवाह	१० पिण्डवर्धन
११ गर्भाधान	११. चौलक
१२. पुंसवन	१२. उपनयन
१३. सीमन्तोन्नयन	१३ पारायण
	१४. व्रतबन्धविसर्ग
	१५ उपाकर्म
	१६. उत्सर्जन
	१७. समावर्तन
	१८. पाणिग्रहण

(ख) धर्मसूत्र–क्योंकि उनका अधिकांश भाग विधि और प्रथा॰ के विवरण ने ही घेर लिया है, अतः समस्त धर्मसूत्रों में संस्कारों व वर्णन तथा परिसंख्यान नहीं किया गया है। तथापि उनमें उपनयन, विवाह उपाकर्म, उत्सर्जन, अनध्याय और अशौच आदि के विषय में नियमों व समावेश मिलता है। गौतम धर्मसूत्र आठ आत्मगुणों के साथ ही चाली संस्कारों की सूची प्रस्तुत करता है (चत्वारिंशत् संस्काराः अष्टौ आत्मगुणाः)

१. गर्भाधान	२. पुंसवन
३. सीमन्तोन्नयन	४. जातकर्म
५. नामकरण	६. अन्नप्राशन

७. चौल	८. उपनयन
९-१२. चार वेद व्रत	१३. स्नान
१४. सहधर्मचारिणी-संयोग	१५-१९. पञ्चमहायज्ञ
२०-२६. अष्टक, पार्वण, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री, आश्वयुजी-इति-सप्त-पाकयज्ञ-संस्थाः	२७-३३. अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास्य, चातुर्मास्य, आग्रयाणेष्टि, निरूढ-पशुबन्ध, सौत्रामणि-इति सप्त हविर्यज्ञाः

३४-४०. अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम-इति-सप्त, सोमयज्ञसंस्थाः

यहाँ भी हमें संस्कारों और यज्ञों में कोई स्पष्ट विभेद नहीं दृष्टिगत होता। सभी गृह्य कृत्यों और श्रौतयज्ञों को, जिनका ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में विशद वर्णन किया गया है उपरिलिखित सूची में संस्कारों के ही साथ संयुक्त कर दिया गया है। संस्कार शब्द का प्रयोग सामान्यरूप से समस्त धार्मिक कृत्यों के अर्थ में किया गया है। परवर्ती स्मृतिकार हारीत[1] के अनुसार यज्ञों का समावेश दैव संस्कारों और मनुष्य-जीवन के विभिन्न अवसरों पर किये जानेवाले संस्कारों का समावेश ब्राह्म संस्कारों के अन्तर्गत करना चाहिये; केवल ब्राह्म संस्कारों को ही यथार्थ में संस्कार समझना चाहिये। निस्सन्देह यज्ञ भी परोक्षरूप से पूत करने वाले[2] माने जाते थे, किन्तु उनका मुख्य प्रयोजन था देवों की आराधना, जब कि संस्कारों का प्रधान ध्येय संस्कार्य व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा देह को संस्कृत करना था।[3] चैत्री और आश्वयुजी जैसे अनेक यज्ञ ऋतुविशेष से सम्बन्धित थे, जो आगे चलकर लोकप्रिय भोज और उत्सवों में परिणत हो गये।

(ग) स्मृतियाँ—स्मृतियों की रचना के समय यज्ञिय धर्म और साथ ही दैव संस्कार ह्रास की ओर जा रहे थे। स्मृतियों में संस्कार शब्दका प्रयोग

(१) द्विविधः संस्कारो भवति, ब्राह्मो दैवश्च। गर्भाधानादिः स्मार्तो ब्राह्मः। हा. ध. सू.।

(२) यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्। बौ. गृ. सू. १८. ५।

(३) संस्कारार्थं शरीरस्य। म. स्मृ. २. ६६।

केवल उन्हीं धार्मिक कृत्यों के अर्थ में किया गया है, जिनका अनुष्ठान व्यक्ति के व्यक्तित्व की शुद्धि के लिये किया जाता था। यद्यपि कतिपय स्मृतियाँ संस्कारों की सूची में पाकयज्ञों का भी समावेश कर लेती हैं। मनु[1] के अनुसार गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त निम्न लिखित तेरह स्मार्त या यथार्थ संस्कार हैं:

१. गर्भाधान	८. चूडाकर्म
२. पुंसवन	९ उपनयन अथवा मौञ्जीबन्धन
३. सीमन्तोन्नयन	१०. केशान्त
४. जातकर्म	११ समावर्तन
५. नामधेय	१२. विवाह
६. निष्क्रमण	१३ श्मशान
७. अन्नप्राशन	

याज्ञवल्क्य-स्मृति[2] भी केशान्त को छोड़ कर उन्हीं संस्कारों का परिगणन करती है। सूची से केशान्त के लोप का कारण सम्भवतः वैदिक स्वाध्याय का ह्रास तथा उसका समावर्तन के साथ सम्मिश्रण है। गौतम-स्मृति[3] अपने चरण के अनुसार चालीस संस्कारों का परिगणन करती है, यद्यपि वह इस तथ्य से अपरिचित नहीं है कि वैदिक यज्ञ लोक-व्यवहार से दूर हो गये थे और दैवसंस्कार अब वास्तविक संस्कार नहीं माने जाते थे। अङ्गिरा की सूची में पच्चीस संस्कारों[4] का उल्लेख है। मनु और याज्ञवल्क्य स्मृति[5] में उल्लिखित दैहिक संस्कारों के साथ ही इनमें पाकयज्ञों की भी गणना है। परवर्ती स्मृतियों में सोलह संस्कारों की सूची दी गई है। व्यासस्मृति के अनुसार ये संस्कार निम्नलिखित हैं:—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामक्रिया, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, वपनक्रिया, कर्णवेध, व्रतादेश, वेदारम्भ, केशान्त, स्नान, उद्वाह, विवाहाग्निपरिग्रह तथा त्रेताग्निसंग्रह। इस सूची में मनु और याज्ञवल्क्य द्वारा उल्लिखित संस्कारों के साथ ही कर्णवेध और अन्तिम दो नाम और जोड़ दिये गये हैं। संस्कारों में कर्णवेध की इतने विलम्ब से

---

(१) म. स्मृ. २. १६, २६, २९; ३-१-४।

(२) १ २।

(३) ८ २।

(४) वी. सं भा. १ में उद्धृत।

(५) १. १३-१५।

गणना का कारण यही है कि परवर्ती काल में ही उसे संस्कार के रूप में मान्यता प्राप्त हो सकी, *क्योंकि आरम्भ में वह केवल शरीर की सजावट का* ही एक प्रकार माना जाता था। जातुकर्ण्य भी सोलह संस्कारों की सूची प्रस्तुत करते हैं[1], किन्तु वेदारम्भ के स्थान पर चार वेद-व्रतों को मान्यता देते हैं तथा व्यास द्वारा परिगणित अन्तिम दो संस्कारों को हटाकर अन्त्येष्टि को रखते हैं।

(घ) निबन्ध : मध्यकालीन निबन्धों में साधारणतः एक प्रकरण संस्कारों के लिये निश्चित रहता है और विषय-प्रवेश में वे गौतम, अङ्गिरा, व्यास, जातुकर्ण्य आदि की सूची का उल्लेख करते हैं। अधिकांश निबन्धकार दैवसंस्कारों या विशुद्ध यज्ञों का वर्णन छोड़ देते हैं। उदाहरण के लिये वीरमित्रोदय[2], स्मृतिचन्द्रिका[3] और संस्कार-मयूख[4] गौतम की सूची को तो उद्धृत करते हैं, *किन्तु उनमें वर्णन केवल गर्भाधान से आरम्भ कर विवाह-*पर्यन्त ब्राह्म या स्मार्त संस्कारों का ही किया गया है। इस प्रकार केवल दैहिक संस्कार को ही वे संस्कार समझते हैं। अधिकांश स्मृतियों के समान निबन्ध भी अन्त्येष्टि को छोड़ देते हैं और उसका विवरण अन्य पुस्तकों में दिया गया है। इन शास्त्रीय संस्कारों के अतिरिक्त निबन्धों में अनेक लघुतर धार्मिक कृत्यों का, जो या तो प्रमुख संस्कारों के अंग थे या जो उन्हीं में समाविष्ट थे, वर्णन किया गया है। उनका अनुष्ठान लोकप्रचलित था, किन्तु वे स्वतन्त्र संस्कार की स्थिति तक नहीं पहुँचे थे।

(ङ) पद्धतियाँ और प्रयोग : पद्धतियाँ और प्रयोग भी बाह्य संस्कारोंका वर्णन करते और दैव संस्कारों को छोड़ देते हैं, क्योंकि अंशतः अब वे अप्रचलित हो गये थे और दूसरे, प्रचलित पाकयज्ञों का वर्णन अन्यत्र किया है। अन्त्येष्टि का निरूपण सर्वत्र पृथक् रूप से किया गया है। उनमें संस्कारों की संख्या साधारणतः (गर्भाधान से विवाह पर्यन्त) दस से तेरह तक है। वस्तुतः अनेक पद्धतियों का नाम 'दशकर्म-पद्धति'[5] रखा गया है।

---

(१) संस्कार-दीपक भा. २, पृ० १ पर उद्धृत।

(२) वी. मि. सं., भा, १. पृ० ३७।

(३) आह्निक प्रकरण, १। (४) संस्कारोद्देश, पृ० १०।

(५) गणपति, नारायण, पृथ्वीधर, भूदेव आदि की दशकर्मपद्धतियाँ।

३. षोडश संस्कार

सम्प्रति सर्वाधिक लोकप्रिय संस्कार सोलह हैं, यद्यपि विभिन्न ग्रन्थों में उनकी संख्या भिन्न-भिन्न है। आधुनिकतम पद्धतियों में यह संख्या स्वीकृत कर ली गई है। स्वामी दयानन्द सरस्वती की संस्कार-विधि[1] और पण्डित भीमसेन शर्मा की षोडश-संस्कार-विधि[2] में केवल सोलह संस्कारों का ही समावेश है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है गौतम ने अड़तालीस संस्कारों की लम्बी सूची में अन्त्येष्टि की गणना नहीं की और साधारणतः यह गृह्य-सूत्रों, धर्मसूत्रों और स्मृतियों में भी अदृश्य है तथा संस्कार-विषयक उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी यह उपेक्षितप्राय है। इसके मूल में यह धारणा थी कि अन्त्येष्टि एक अशुभ संस्कार है और शुभ संस्कारों के साथ इसका वर्णन नहीं करना चाहिये[3]। सम्भवतः यह तथ्य भी इसका कारण था कि मृत्यु के साथ ही व्यक्ति की जीवन-कहानी का अन्त हो जाता है और मरणोत्तर संस्कारों का व्यक्तित्व के परिष्कार पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव प्रतीत नहीं होता। इतना होते हुए भी अन्त्येष्टि एक संस्कार के रूप में मान्य था। कतिपय गृह्यसूत्र इसका वर्णन करते हैं तथा मनु, याज्ञवल्क्य और जातुकर्ण्य संस्कार की सूची में इसकी गणना करते हैं। अन्त्येष्टि समन्त्र संस्कारों में से एक है[4] और इनका संकलन मुख्यतः अन्त्येष्टि सम्बन्धी वैदिक मन्त्रों में से किया गया है[5]। प्रस्तुत निबन्ध में अन्त्येष्टि को संस्कारों के मध्य उचित स्थान दिया गया है, क्योंकि उसके विरुद्ध कोई मानसिक विकार नहीं है।

---

(१) वैदिक यन्त्रालय, अजमेर से प्रकाशित।

(२) ब्रह्म प्रेस, इटावा से प्रकाशित।

(३) एम्. विलियम्स, हिन्दुइज्म, पृ० ६५।

(४) निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः, म. स्मृ ११. १६।

(५) ऋ. वे. १०. १४ १६. १८। अथ० वे० १८. १-४।

तृतीय अध्याय

संस्कारों का प्रयोजन

१. प्रास्ताविक

हिन्दू संस्कारों जैसी प्राचीन संस्थाओं के प्रयोजन तथा महत्त्व की गवेषणा के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम, वे परिस्थितियाँ, जिनमें उनका प्रादुर्भाव हुआ था, युगों के गर्भ में जा छिपी हैं और उनके चारों ओर लोकप्रचलित अन्धविश्वासों का जाल सा बिछ गया है। अतः उनसे सुदूर वर्तमान में, समस्या पर दृष्टिपात करने के लिये तथ्यों के गम्भीर ज्ञान से संयुक्त सुनियोजित कल्पना अपेक्षित है। दूसरे, जातीय भावना अतीत के देदीप्यमान पार्श्व की ओर ही ध्यान देती है और इस प्रकार समीक्षात्मक दृष्टि आच्छन्न हो जाती है, जो किसी भी अनुसन्धान कार्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु इससे भी बड़ी कठिनाई आधुनिक मस्तिष्क की पूर्वाग्रही धारणाओं के कारण उत्पन्न होती है। वह साधारणतः यह समझता है कि प्राचीन काल की प्रत्येक बात अन्धविश्वासपूर्ण है। उसमें कठोर अनुशासन को समझने के लिये धैर्य नहीं है, जो प्राचीन धर्म की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। प्राचीन संस्कृति के विद्यार्थी को एक ओर तो निरी श्रद्धा से और दूसरी ओर अति-सन्देहवादी मनोवृत्ति से अपने को बचाना आवश्यक है। उसे अतीत के प्रति समुचित आदर और विकास के विभिन्न स्तरों से चलते हुए मानवस्वभाव के प्रति पूर्ण सहानुभूति के साथ संस्कारों का अध्ययन करना चाहिये।

२. दुहरा प्रयोजन

मोटे तौर से हम संस्कारों के प्रयोजन को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। पहला वर्ग सरल विश्वास तथा अकृत्रिम मन की सहज सादगी से उद्दिष्ट है। द्वितीय वर्ग कर्मकाण्डीय व सांस्कृतिक है। इसका उद्भव सामाजिक विकास और

उन्नति की नियामक चेतन शक्तियों के कारण होता है, जब कि मनुष्य प्राकृतिक आधारों के ऊपर ही विकास का प्रयत्न करता है। पुरोहित जनसाधारण की पहुँच से दूर न होते हुए भी उसकी अपेक्षा उच्चतर स्तर पर अवश्य था, अतः उसने विभिन्न प्रकारों से सामाजिक प्रथाओं को और परिष्कृत किया। दोनों प्रकार के संस्कार अत्यन्त प्राचीन समय से ही समानान्तर रूप से व्यवहृत होते रहे हैं, उन्होंने परस्पर एक दूसरे को प्रभावित किया है और आज भी वे हिन्दू धर्म में प्रचलित हैं।

३. लोकप्रिय प्रयोजन

लोकप्रिय प्रयोजन पर विचार करते समय हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि संसार के अन्य देशों की भाँति हिन्दुओं का भी विश्वास था कि वे चारों ओर से ऐसे अतिमानुष प्रभावों से घिरे हुए हैं, जो बुरा और भला करने की शक्ति रखते थे। उनकी धारणा थी कि उक्त प्रभाव जीवन के किसी भी महत्त्वपूर्ण अवसर पर व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप कर सकते हैं। अतः वे अमङ्गलजनक प्रभावों के निराकरण तथा हितकर प्रभावों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया करते थे, जिससे मनुष्य बिना किसी बाह्य विघ्न के अपना विकास और अभिवृद्धि कर सके और देवों तथा दिव्य शक्तियों से सामयिक निर्देश और सहायता प्राप्त कर सके। संस्कारों के अनेक अङ्गों के मूल में यही विश्वास रहे हैं।

(क) अशुभ प्रभावों का प्रतीकार : अवाञ्छित प्रभावों के निराकरण के लिये हिन्दुओं ने अपने संस्कारों के अन्तर्गत अनेक साधनों का अवलम्बन किया। उनमें प्रथम स्थान आराधना का था। भूतों, पिशाचों और अन्य अशुभ शक्तियों की स्तुति की जाती, उन्हें बलि व भोजन दिया जाता था, जिससे वे बलि से तृप्त होकर बिना किसी प्रकार की क्षति पहुँचाए लौट जाएँ। गृहस्थ अपनी पत्नी और बच्चों की रक्षा के लिये चिन्तित रहता था, और भूत-पिशाचों की निवृत्ति अपना कर्तव्य समझता था। स्त्री के गर्भिणी रहने के समय, शिशु-जन्म, शैशव आदि के समय इस प्रकार की प्रार्थनाएँ की जाती थीं। यदि शिशु पर रोगवाही भूत कुमार आक्रमण कर देता है, तो शिशु का पिता कहता है, 'शिशुओं पर आक्रमण करने वाले कूर्कुर, सुकूर्कुर, शिशु को मुक्त कर दो। हे सिसर, मैं तुम्हारे प्रति

आदर प्रकट करता हूं[1] आदि। दूसरा उपाय था उनको बहकाने का। यदा कदा आराधना को या तो अनावश्यक समझा जाता या सप्रयोजनत से दूर ही रखा जाता था। उदाहरणार्थ, मुण्डन के अवसर पर काटे हुए केशों को गाय के गोबर के पिण्ड के साथ मिलाकर गोष्ठ में गाड़ दिया जाता अथवा नदी में फेंक दिया जाता था, जिससे कोई भूत या पिशाच उस पर अपने चमत्कारी प्रयोग न कर सके।[2] बहकावे की यह प्रक्रिया अन्त्येष्टि के कृत्यों से भी प्रमाणित होती है। बहकावे के लिये मृत्यु के आसन्न होने पर मृत्यु के पहले मरणासन्न व्यक्ति की प्रतिकृति का दाह कर दिया जाता था।[3] इसके मूल में यह उद्देश्य निहित था कि मृत्यु जब मरणासन्न व्यक्ति के शरीर पर आक्रमण करे तो तथाकथित मृत व्यक्ति के कारण भ्रम में पड़ जाए। किन्तु जब आराधन और बहकावे दोनों अपर्याप्त सिद्ध हुए, तो एक तीसरा क्रान्तिकारी चरण उठाया गया। अशुभ शक्तियों को स्पष्टतः दूर चले जाने के लिये कहा जाता, उनकी भर्त्सना की जाती और प्रत्यक्षतः उन पर आक्रमण किया जाता। जातकर्म संस्कार के समय शिशु का पिता कहता है 'शुण्ड, मर्क, उपवीर, शौण्डिकेय, उलूखल, मलिम्लुच, द्रोणास और च्यवन, तुम सभी यहाँ से अदृश्य हो जाओ, स्वाहा।'[4] गृहस्थ देवों और देवताओं से भी अशुभ प्रभावों का निवारण करने के लिये प्रार्थना करता। चातुर्थिकर्म के अनुष्ठान के अवसर पर पति नवविवाहिता पत्नी के घातक तत्वों के निवारण के उद्देश्य से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र तथा गन्धर्व का आह्वान करता था।[5]

---

(१) पा. गृ. सू. १. १६. २०; आ. गृ. सू. १. १५; गो. गृ. सू. २. ७. १७; पारस्करगृह्यसूत्र की व्याख्या करता हुआ गदाधर कहता है—
'ततस्तुष्ट तुष्ट एनं एनं कुमारं मुञ्च।'

(२) अनुगुप्तमेतं सकेशं गोमयपिण्डं निधाय गोष्ठे पल्वलमुदकान्ते वा। पा. गृ. सू. २. १. २०।

(३) कौ. सू. ४८. ५४ तथा आगे; ३९ तथा क्रमशः।

(४) पा. गृ. सू. १. १६. १९; आप. गृ. सू. १. १५।

(५) अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा। इत्यादि। पा. गृ. सू. १. ११. २. १-५।

किन्तु, कभी-कभी जल और अग्नि से वह स्वयं उक्त अशुभ शक्तियों को आतङ्कित कर दूर हटा देता।

इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये अन्य उपाय भी काम में लाये जाते थे। जल का उपयोग साधारणतः प्रत्येक संस्कार में किया जाता था। जल दैहिक अशौच को धोता और भूत-पिशाचों व राक्षसों से रक्षा करता। शतपथ-ब्राह्मण में जल को राक्षसों का नाशक कहा गया है[1]। अवाञ्छित शक्तियों को आतङ्कित करने के लिये अन्त्येष्टि के समय शब्द किया जाता था। कभी-कभी व्यक्ति स्वयं अपनी दृढ़ता व बल की घोषणा कर देता था। अपने मार्ग में आनेवाली किसी भी अमङ्गल सम्भावनाका सामना करने के लिये वह अपने को अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर लेता था, जैसे, विद्यार्थी दण्डधारण करता था[2]। वह इस दण्ड को छोड़ नहीं सकता था और उससे सदा इसे अपने पास रखने की अपेक्षा की जाती थी। विद्यार्थि-जीवन की समाप्ति के समय जब दण्ड का त्याग कर दिया जाता था, तो समावर्तन संस्कार के अवसर पर वह दृढ़तर वंश-दण्ड का धारण करता था[3]। यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पशुओं और मानव-शत्रुओं से रक्षा के लिये ही नहीं, राक्षसों और पिशाचों से रक्षा के लिये भी यह उपयोगी है[4]। दण्ड को सवेग आन्दोलित करना भी अशुभ प्रभावों को दूर करने का एक उपाय था। सीमन्तोन्नयन संस्कार के अवसर पर केशों को इसी उद्देश्य से सँवारा जाता था[5]। स्वार्थपरता के वशीभूत होकर वह इन अमङ्गल शक्तियों को अपने ऊपर से हटाकर अन्य व्यक्तियों की ओर संक्रमित करने का भी प्रयास करता था। उदाहरणार्थ, वधू द्वारा धारण किये हुए वैवाहिक वस्त्र ब्राह्मण को दान कर दिये जाते थे, क्योंकि वे वधू के लिये घातक समझे जाते थे। कुछ भी हो, इस विषय में लोगों की धारणा थी कि ब्राह्मण इतना सशक्त है कि उस पर

---

(१) आपो हि वै रक्षोघ्नी, शत. ब्राह्मण.।
(२) आ गृ. सू. १. १९. १०; पा. गृ. सू. २ ५. १६ ।
(३) वैणवं दण्डमादत्ते। पा. गृ. सू. २. ६. २६.।
(४) चिश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वत इति। पा. गृ. सू. २. ६. २६.।
(५) आप. गृ. सू. १४, हा. गृ. सू. २. २.।

अशुभ शक्तियाँ आक्रमण ही नहीं कर सकतीं। वैवाहिक वस्त्रों को गोशाला में रख या वृक्ष पर टाँग भी दिया जाता था[१]।

(ख) अभीष्ट प्रभावों का आकर्षण : जिस प्रकार अशुभ प्रभावों से बचाव का प्रयत्न किया जाता था, उसी प्रकार किसी भी संस्कार के अवसर पर संस्कार्य व्यक्ति के हित के लिये अभीष्ट प्रभावों को आमन्त्रित और आकृष्ट किया जाता था। हिन्दुओं का विश्वास था कि जीवन का प्रत्येक समय किसी न किसी देवता द्वारा अधिष्ठित है। अतः प्रत्येक अवसर पर, संस्कार्य व्यक्ति को वर व आशीर्वाद देने के लिये उस देवता का उद्बोधन किया जाता था। विष्णु गर्भाधान के समय के प्रधान देवता थे, विवाह के समय प्रजापति और उपनयन के समय बृहस्पति इत्यादि-इत्यादि। किन्तु वे केवल देवताओं पर ही पूर्णतः आश्रित नहीं थे। लोग स्वयं विविध उपायों से अपनी सहायता करते थे। इसमें साम्य रखने वाले पदार्थों की ओर संकेत का महत्त्वपूर्ण स्थान था। शुभ वस्तुओं के स्पर्श से वे मङ्गल परिणाम की आशा करते थे। सीमन्तोन्नयन संस्कार के समय उदुम्बर वृक्ष की शाखा का पत्नी के गले से स्पर्श कराया जाता था[२]। यह विश्वास था कि उसके स्पर्श से स्त्री में उर्वरता (सन्तति-प्रजनन की क्षमता) आ जाती है। शिलारोहण से दृढ़ता आ जाती है, ऐसा विश्वास था, अतः ब्रह्मचारी और वधू के लिये उसका विधान कर दिया गया[३]। हृदयस्पर्श ब्रह्मचारी और आचार्य तथा पति और पत्नी के बीच में ऐक्य और सामञ्जस्य स्थापित करने का एक निश्चित उपाय समझा जाता था[४]। श्वास जीवन का प्रतीक समझा जाता था, अतः पिता नवजात शिशु पर उसके श्वास-प्रश्वास को दृढ़ करने के लिये तीन बार फूँकता था[५]। पुत्र की प्राप्ति के लिये इच्छुक माँ को दधिमिश्रित दो

---

(१) अ. वे. १४. २. ४८-५०; कौ. सू. ७६. १. ७९. २४.।

(२) औदुम्बरेण त्रिवृतमाबध्नाति—अयमूर्जावतो वृक्षः उर्जीव फलिनी भव। पा. गृ. सू. १. १५. ४. ६; गो. गृ. सू. २. ७. १.।

(३) उपनयन तथा विवाह संस्कार के प्रकरण में।

(४) वही।

(५) जातकर्म संस्कार के अवसर पर।

द्विदलधान्यों के साथ जौ का एक बीज खाना आवश्यक था[१]। कारण स्पष्ट है। इच्छुक माँ जिन वस्तुओं को ग्रहण करती थी वे पुरुष की प्रतीक थीं अतः उनसे गर्भ में पौरुष को सहकृत कर देने की आशा की जाती थी। सन्तति-प्रजनन के लिये पत्नी की नाक के दायें छेद में दूरव्यापी जड़वाले विशाल वटवृक्ष का रस छोड़ा जाता था[२]। समञ्जन से स्नेह और प्रेम उत्पन्न होने की धारणा थी। विवाह संस्कार के अवसर पर जब वर समस्त देवों तथा जल आदि से दम्पति के हृदयों में ऐक्य और प्रेम का प्रादुर्भाव करने की प्रार्थना करता रहता था,[३] वधू का पिता उन दोनों का समञ्जन करता था। यह धारणा थी कि कुरूप और अशुभ दृश्यों के निवारण और अपवित्र व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध तोड़ लेने से पवित्रता सुरक्षित रहती है। स्नातक के लिये अशुभ अक्षरों से प्रारम्भ होने वाले शब्दों का उच्चारण या दूषित विचारों को मस्तिष्क में लाना भी निषिद्ध था। वह गर्भिणी को विजन्या, नकुल को शकुल और कपाल को भगाल कहता था।[४] यदाकदा अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये नाटकीय ढंग से भी कुछ बातें पूछी जाती थीं। सीमन्तोन्नयन संस्कार के अवसर पर पत्नी को चावल के ढेर की ओर देखने के लिये कहा जाता था, जबकि पति उससे पूछता था कि 'सन्तान, पशु, सौभाग्य और मेरे लिये दीर्घायु, इनमें से तुम क्या देख रही हो[५]।'

(ग) संस्कारों का भौतिक उद्देश्य—संस्कारों का भौतिक उद्देश्य था पशु, सन्तान, दीर्घ जीवन, सम्पत्ति, समृद्धि, शक्ति और बुद्धि की प्राप्ति।

---

(१) हा. गृ. सू. २. २. २३; आ. गृ. सू. १. १३. २.।

(२) पा. गृ. सू. १ १४ ३.।

(३) अथैनौ समञ्जयति—'समञ्जन्तु विश्वेदेवा समापो हृदयानि नौ। सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ, पा. गृ. सू. १. ४. १५; गौ. गृ. सू. २. १. १८.।

(४) गर्भिणीं विजन्येति ब्रूयात्। शकुलमिति नकुलम्। भगालमिति कपालम्। पा. गृ. सू. २. ७. ११-१३; आ. गृ. सू. ३. ९. ६.।

(५) किं पश्यसि प्रजां पशून् सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्टं पत्युः। सामवेद मन्त्र ब्राह्मण, १. ५. १-५.।

संस्कार गृह्य कृत्य थे और स्वभावतः उनके अनुष्ठान के समय घरेलू जीवन के लिये आवश्यक सभी वस्तुओं की भावना देवों से की जाती थी। हिन्दुओं का यह विश्वास था कि आराधन और प्रार्थना के माध्यम से उनकी इच्छाओं और आकांक्षाओं को देवता जान लेते हैं और पशु, सन्तान, अन्न, स्वास्थ्य तथा सुन्दर शरीर और तीक्ष्ण बुद्धि के रूप में उनकी पूर्ति करते हैं[1]। इन भौतिक उद्देश्यों की नींव अत्यन्त दृढ़ है और आज भी उन्होंने जनसाधारण के मन पर अधिकार कर रक्खा है। पुरोहित सदा जनसाधारण की इन भौतिक आकांक्षाओं को प्रश्रय देता रहा है। वह इन्हें परिष्कृत करने और गृहस्थ के लिये उनका औचित्य सिद्ध करने का प्रयास करता आया है।

(५) संस्कार : आत्माभिव्यक्ति के माध्यम—किन्तु गृहस्थ न तो बराबर केवल भयभीत ही रहता था और न वह देवताओं का व्यावसायिक प्रार्थी ही था। वह जीवन की विभिन्न घटनाओं के कारण होनेवाले हर्ष, आनन्द और यहाँ तक कि दुःख व्यक्त करने के लिये भी संस्कारों का अनुष्ठान करता था। सन्तान की प्राप्ति लुभानेवाली वस्तु थी, अतः उसके जन्म के समय पिता को असीम आनन्द होना स्वाभाविक था। विवाह मनुष्यजीवन के सबसे बड़े उत्सव का अवसर था। शिशु के प्रगतिशील जीवन का प्रत्येक चरण परिवार को सन्तोष और हर्ष से पूर्णतः भर देता था। मृत्यु शोक का अवसर था जो चारों ओर करुणा ही करुणा का दृश्य उपस्थित कर देता था। वह अपने हर्ष के भावों को साज-सजावट, सङ्गीत, भोज तथा उपहारों के रूप में व्यक्त करता और उसके शोक की अभिव्यक्ति अन्त्येष्टि-कृत्य में होती थी।

४. सांस्कृतिक प्रयोजन

संस्कारों के लोकप्रिय प्रयोजन को पूर्णतः स्वीकार करते हुए महान् लेखकों और विधिनिर्माताओं ने उनमें उच्चतर धर्म और पवित्रता का समावेश करने का प्रयास किया। मनु कहते हैं कि 'गार्भ होम (गर्भाधान के अवसर पर किये जानेवाले होम आदि), जातकर्म, चूड़ाकर्म (मुण्डन), और मौञ्जी-

(१) एकमिषे विष्णुस्त्वां नयतु द्वे ऊर्जे त्रीणि रायस्पोषाय चत्वारि मयोभवाय पञ्च पशुभ्यः षड् ऋतुभ्यः। सप्तपदी के अवसर पर इस ऋचा का उच्चारण किया जाता है। शां. गृ. सू. १. १४. ५.।

बन्धन (उपनयन) संस्कार के अनुष्ठान से द्विजों के गर्भ तथा बीज-सम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं[1]। उनका यह भी कहना है कि द्विजों को गर्भाधान आदि शारीरिक संस्कार वैदिक कर्मों के साथ करने चाहिये, जो इहलोक तथा परलोक दोनों को पवित्र करते हैं[2]। याज्ञवल्क्य भी इसी विचार की पुष्टि करते हैं[3]। लोगों का विश्वास था कि बीज और गर्भवास अपवित्र व अशुद्ध हैं और जातकर्म आदि संस्कारों के द्वारा ही इस मल या पाप से छुटकारा पाया जा सकता है[4]। आत्मा के निवास के लिये शरीर को उपयुक्त माध्यम बनाने के लिये सम्पूर्ण शरीर-संस्कार भी आवश्यक समझा जाता था। मनु के अनुसार स्वाध्याय, व्रत, होम, देव और ऋषियों के तर्पण, यज्ञ, सन्तानोत्पत्ति, इज्या व पञ्चमहायज्ञों के अनुष्ठान से यह शरीर ब्राह्मी (ब्रह्मप्राप्ति के योग्य) हो जाता है[5]। यह सिद्धान्त भी प्रचलित था कि उत्पन्न होते समय प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है, अतः पूर्ण विकसित आर्य होने के लिये उसका संस्कार व परिमार्जन करना आवश्यक है। कहा गया है कि 'जन्म से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है, उपनयन से वह द्विज कहलाता है, वेदों के अध्ययन से वह विप्र बन जाता है और ब्रह्म के साक्षात्कार से उसे ब्राह्मण की स्थिति प्राप्त हो जाती है'[6]।

सामाजिक विशेषाधिकार तथा अधिकार भी संस्कारों के साथ सम्बद्ध थे। उपनयन संस्कार एक प्रकार से समाज और उसके धार्मिक साहित्य में प्रविष्ट होने का प्रवेश-पत्र था। यह भी द्विजों का विशेषाधिकार था और शूद्रों के लिये

---

(१) गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
वैजिकं गार्भिकञ्चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ म. स्मृ. २. २७. ।

(२) वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ म. स्मृ. २. २६. ।

(३) याज्ञ स्मृ. १. १६. ।

(४) बीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणो जातकर्मादिजन्यः ।
(वी. मि. सं. भा. १. पृ. १३२.)

(५) स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ (म. स्मृ. २. २८.)

(६) जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते । इत्यादि ।

वर्जित था[1]। विद्यार्थि-जीवन की समाप्ति तथा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिये समावर्तन संस्कार का अनुष्ठान करना आवश्यक था। वैदिक मन्त्रों के द्वारा उपनयन और विवाह संस्कार से किसी भी व्यक्ति को सभी प्रकार के यज्ञों के अनुष्ठान करने तथा समाज में अपने उन्नयन का अधिकार मिल जाता था।

संस्कारों का अन्य प्रयोजन स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति था।[2] जब दीर्घसत्रों का चलन नहीं रहा, तो केवल देवों का आराधन और सामान्य यजन ही स्वर्ग-प्राप्ति के अमोघ साधन समझे जाने लगे।[3] संस्कारों को भी जो कि पहले गृह्य कृत्य थे, अत्यधिक महत्त्व प्राप्त होने लगा। हारीत[4] संस्कारों के प्रयोजन का वर्णन इस प्रकार करते हैं 'ब्राह्म संस्कारों से संस्कृत व्यक्ति ऋषियों की स्थिति को प्राप्त कर उनके समान हो जाता और उनके निकट निवास करता है तथा दैव संस्कारों से संस्कृत व्यक्ति देवों की स्थिति को प्राप्त कर लेता है' आदि-आदि। क्योंकि मोक्ष को जीवन का चरम उद्देश्य मान लिया गया अतः संस्कारों को भी स्वभावतः उसी की प्राप्ति का साधन समझा जाने लगा। शङ्ख-लिखित लिखते हैं—'संस्कारों से संस्कृत तथा आठ आत्मगुणों से युक्त व्यक्ति ब्रह्मलोक में पहुँच कर ब्राह्मपद को प्राप्त कर लेता है, जिससे वह फिर कभी च्युत नहीं होता'[5]।

---

(१) अशूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्। (आप. ध. सू. १. १. १६.)

(२) नहि कर्मभिरेव केवलैर्ब्रह्मत्वप्राप्तिः प्रज्ञानकर्मसमुच्चयात् किल मोक्षः। एतैस्तु संस्कृतः आत्मनोपासनात्वभिक्रियते।

(म. स्मृ. २. २८. पर मेधातिथि)

(३) स्वर्गकामो यजेत्। (पूर्वमीमांसा)

(४) वी. मि. सं. भा. १. पृ. १३९ पर उद्धृत।

(५) संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरनुसंस्कृतः।
नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्राह्मलौकिकः।
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः॥

(वी. मि. सं. भा. १. पृ. १४२ पर उद्धृत)

५. नैतिक प्रयोजन

कालक्रम से संस्कारों के भौतिक स्वरूप से उनका नैतिक पार्श्व प्रस्फुटित हुआ। चालीस संस्कारों को गिनाने के पश्चात् गौतम दया, क्षमा, अनसूया, शौच, शम, उचित व्यवहार, निरीहता तथा निर्लोभता, इन आत्मा के आठ गुणों का उल्लेख करते हैं।[1] वह आगे कहते हैं कि 'जिस व्यक्ति ने चालीस संस्कारों का अनुष्ठान तो किया है, किन्तु जिसमें उक्त आठ आत्मगुण नहीं हैं, वह ब्रह्म का सान्निध्य नहीं पा सकता। किन्तु जिस व्यक्ति ने केवल कतिपय संस्कारों का ही अनुष्ठान किया है, और जो आत्मा के उक्त आठ गुणों से सुशोभित है, वह ब्रह्मलोक में ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है[2]।

किन्तु संस्कारों को अपने-आप में उद्देश्य कभी नहीं माना जाता था। उनसे फूल-फल कर नैतिक सद्गुणों के रूप में परिपक्व हो जाने की अपेक्षा की जाती थी। संस्कारों में जीवन के हर एक सोपान के लिये व्यवहार के नियम (धर्म) निर्धारित हो चुके थे, जैसे गर्भिणी-धर्म, अनुपनीत-धर्म, ब्रह्मचारि-धर्म, स्नातक-धर्म आदि।[3] निस्सन्देह, उनमें अनेक बातें धार्मिक व अन्ध-विश्वासपूर्ण हैं, किन्तु व्यक्ति के नैतिक विकास के प्रयत्न भी प्रत्यक्ष हैं। संस्कारों का यह स्वरूप निश्चय ही संस्कारों से प्राप्त होनेवाले वैयक्तिक हित की अपेक्षा उच्चतर नैतिक प्रगति को सूचित करता है।

६. व्यक्तित्व का निर्माण और विकास

✓ हिन्दुओं के प्राचीन धार्मिक कृत्यों और संस्कारों से जिस सांस्कृतिक प्रयोजन का उद्भव हुआ वह था व्यक्तित्व का निर्माण और विकास। अङ्गिरा चित्रकर्म से तुलना करते हुए कहते हैं कि 'जिस प्रकार चित्रकर्म में सफलता प्राप्त करने के लिये विविध रंग अपेक्षित होते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण्य या चरित्र-निर्माण भी विभिन्न संस्कारों के द्वारा होता है'।[4] हिन्दू समाज-शास्त्रियों ने मनुष्यको सहजतया विकास के लिये छोड़ देने की अपेक्षा विवेकपूर्वक वैयक्तिक

---

(१) गौ. ध. सू. ८. २४। (२) वी. मि. स. ८ २५।

(३) गर्भिणीधर्मा, अनुपनीतधर्मा, ब्रह्मचारिधर्माः, स्नातकधर्माः आदि।

(४) चित्रकर्म यथाऽनेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः।

ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकम्॥

(वी. मि. भा. १. पृ. १३९ पर उद्धृत)

चरित्र को ढालने की आवश्यकता का अनुभव किया और इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन्होंने समाज में पहले से चले आते हुए संस्कारों का उपयोग किया।

संस्कार जीवन के प्रत्येक भाग को व्याप्त कर लेते हैं। यही नहीं, उनके द्वारा मृत्यु के बाद व्यक्ति को आत्म-सिद्धान्त द्वारा भी प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। ये संस्कार इस प्रकार व्यवस्थित किये गये हैं कि जीवन के आरम्भ से ही व्यक्ति उनके प्रभाव में आ जाता है। संस्कार मार्गदर्शक का कार्य करते थे, जो आयु के बढ़ने के साथ व्यक्ति के जीवन को एक निर्दिष्ट दिशा की ओर ले जाते थे। फलतः एक हिन्दू के लिये अनुशासित जीवन व्यतीत करना आवश्यक था तथा उसकी शक्तियां सुनियोजित व सोद्देश्य धारा में प्रवहमान रहती थीं। इस प्रकार गर्भाधान-संस्कार उस समय किया जाता था, जब पति-पत्नी दोनों शारीरिक दृष्टि से पूर्णतः स्वस्थ होते तथा परस्पर एक दूसरे के हृदय की बात जानते और दोनों में सन्तान-प्राप्ति की वेगवती इच्छा होती थी। उस समय उनके समस्त विचार गर्भाधान की ओर केन्द्रित होते और होम व समयानुकूल वैदिक मन्त्रों के उच्चारण से शुद्ध व हितकर वातावरण तय्यार कर लिया जाता था। स्त्री जब गर्भिणी होती तो दूषित शारीरिक व मानसिक प्रभावों से उसे बचाया जाता और उसके व्यवहार को इस प्रकार अनुशासित किया जाता था कि जिसका गर्भस्थ शिशु पर सत्प्रभाव पड़े।[१] जन्म होने पर आयुष्य तथा प्रज्ञाजनन कृत्यों का अनुष्ठान किया जाता और नवशिशु को पत्थर के समान दृढ और कुल्हाड़े (परशु) की तरह शत्रुनाशक तथा बुद्धिमान् होने के लिये आशीर्वाद दिये जाते थे।[२] शैशव में प्रत्येक अवसर पर आशापूर्ण जीवन के प्रतीक आनन्द और उत्सव मनाये जाते और इस प्रकार शिशु के विकास का उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत हो जाता था। चूडाकरण या मुण्डन संस्कार के पश्चात्, जब शिशु बालक की अवस्था में पहुँच जाता, तो उसे बिना ग्रंथों के अध्ययन तथा विद्यालय के कठोर नियन्त्रण के ही उसके कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों से उसका परिचय कराया जाता था। उपनयन तथा अन्य शिक्षासम्बन्धी संस्कार ऐसी सांस्कृतिक भट्टी का काम करते थे जिसमें बालक की आकांक्षाओं, अभिलाषाओं

---

(१) देखो अध्याय ५, प्राग्जन्म संस्कार।

(२) आप. गृ. सू. १४., पा. गृ. सू. १. १६., जै. गृ. सू. १. ८.।

व इच्छाओं को पिघलाकर अभीष्ट साँचों में ढाल दिया जाता और अनुशासित किन्तु प्रगतिशील और परिष्कृत जीवन व्यतीत करने के लिये उसे तय्यार किया जाता था। समावर्तन के पश्चात् व्यक्ति विवाहित गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करता था। विवाह की यह व्यवस्था मानव-सभ्यता का विकसित स्वरूप था और पाणिग्रहण-संस्कार विवाहित दम्पति के भावी जीवन के मार्गदर्शन के लिये किया जानेवाला धर्मोपदेश। गृहस्थ के लिये जिन विविध यज्ञों व यज्ञों का विधान किया गया था, उनका प्रयोजन स्वार्थपरता को दूर कर उसे यह अनुभव कराने की प्रेरणा देना था कि वह समस्त समाज का एक अङ्ग है। पूर्ववर्ती संस्कारों के मानसिक प्रभाव से व्यक्ति के लिये मृत्यु का सामना करना सरल हो जाता था और इससे जीवन के दूसरे पार्श्व की यात्रा करने में उसे सान्त्वना तथा सहायता मिलती थी। निस्सन्देह, संस्कारों में अनेक ऐसी विधियाँ हैं जिनकी उपयोगिता निरे विश्वास पर ही अवलम्बित है। किन्तु संस्कारों के मूल में निहित सांस्कृतिक उद्देश्य के माध्यम से व्यक्ति पर पड़नेवाले प्रभाव को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता, भले ही किसी पूर्ण वैज्ञानिक व व्यवस्थित योजना में उनकी गणना न हो सके।

√ संस्कारों को अनिवार्य बनाने में हिन्दू समाज-शास्त्रियों का उद्देश्य संस्कृति व चरित्र की दृष्टि से समाज का एकरूप विकास तथा उसे समान आदर्श से अनुप्राणित करना था। अपने प्रयास में वे बहुत दूर तक सफल रहे। हिन्दू अपनी व्यापक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के साथ संसार की एक विशिष्ट सांस्कृतिक जाति हैं। अनेक विदेशी जातियों को, जो हिन्दुओं के सम्पर्क में आई, उन्होंने अपनी व्यापक संस्कृति द्वारा प्रभावित किया व अपने में पचा डाला और आज भी हिन्दू एक राष्ट्र के रूप में जीवित है।

७. आध्यात्मिक महत्त्व

आध्यात्मिकता हिन्दुत्व की प्रमुख विशेषता है और हिन्दू धर्म का प्रत्येक युग उससे घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। हिन्दुओं के इस सामान्य दृष्टिकोण ने संस्कारों को भी अध्यात्म-साधन के रूप में परिणत कर दिया। संस्कारों के आध्यात्मिक महत्त्व की स्पष्ट व्याख्या करना या उसे लिपिबद्ध करना कठिन कार्य है। यह तो उनका अनुभव है, जो संस्कारों से संस्कृत हो चुके हैं। हिन्दुओं के लिये प्रत्यक्ष अङ्ग-उपाङ्गों की अपेक्षा उनका बहुत अधिक महत्त्व है। उनकी दृष्टि

में वे संस्कार व्यक्ति के आन्तरिक व आध्यात्मिक तत्त्वों के वाह्य प्रतीक थे। उसकी दृष्टि संस्कारों के बाहरी विधि-विधान से बहुत दूर चली जाती और वे ऐसा अनुभव करते कि जैसे कोई अदृश्य वस्तु उनके समस्त व्यक्तित्व को पवित्र कर रही हो। इस प्रकार, संस्कार हिन्दुओं के लिये सजीव धार्मिक अनुभव थे, केवल बाहरी उपचारमात्र नहीं।

संस्कार जीवन की आत्मवादी और भौतिक धारणाओं के बीच मध्यमार्ग का काम देते थे। पहले मत के अनुयायी आत्मा की अर्चना और शरीर की अवहेलना करते हैं। शरीर को वे पञ्चतत्त्वमय संसार की सारहीन वस्तु समझते है,[१] जब कि दूसरे मत के अनुगामियों को शरीर के परे कुछ दिखाई ही नहीं देता और वे मनुष्य-जीवन के आध्यात्मिक पहलू को अस्वीकार कर देते हैं, जिसके फलस्वरूप वे आत्म-शान्ति तथा आनन्द से वञ्चित रहते हैं।[२] एक ओर शरीर को अनुपेक्षणीय व मूल्यवान् वस्तु बनाना तथा दूसरी ओर इसे परिष्कृत करना संस्कारों का कार्य था जिससे वह आत्मा का सुन्दर व पवित्र मन्दिर बन सके और आध्यात्मिक विकास का उचित माध्यम।

संस्कार एक प्रकार से आध्यात्मिक शिक्षा की क्रमिक सीढ़ियों का कार्य करते थे। उनके द्वारा संस्कृत व्यक्ति यह अनुभव करता था कि सम्पूर्ण जीवन वस्तुतः संस्कारमय है और सम्पूर्ण दैहिक क्रियाएँ आध्यात्मिक ध्येय से अनुप्राणित हैं। यही वह मार्ग था जिससे क्रियाशील सांसारिक जीवन का समन्वय आध्यात्मिक तथ्यों के साथ स्थापित किया जाता था। जीवन की इस पद्धति में शरीर और उसके कार्य बाधा नहीं, पूर्णता की प्राप्ति में सहायक हो सकते थे। इन संस्कारों के अनुष्ठान से हिन्दुओं का सामान्य जीवन, जो अन्यथा समय समय पर होने वाले अनुष्ठानों के बिना पूर्णतः भौतिक बन जाता, एक विशाल संस्कार ही बन गया। इस प्रकार हिन्दुओं का विश्वास था कि सविधि संस्कारों के अनुष्ठान से वे दैहिक बन्धन से मुक्त होकर मृत्यु-सागर को पार कर लेंगे। यजुर्वेद के अनुसार 'जो व्यक्ति विद्या तथा अविद्या दोनों को जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है'।[३]

---

(१) जैन, बौद्ध तथा नव्य वेदान्ती। (२) चार्वाक और वाममार्गी।

(३) विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ (यजु. ४०. ११)

८. संस्कारों की विभिन्न अवस्थायें

अपने इन प्रयोजनों के कारण ये हिन्दूसंस्कार हिन्दुओं के जीवन के अनिवार्य अङ्ग हो गये थे और हिन्दू संस्कारों की भाषा में सोचते और व्यवहार करते थे। अपने सृजनकाल में संस्कार जीवन के प्रति यथार्थ थे, वे लचीले और सजीव संस्था थे, जड व अपरिवर्तनीय कर्मकाण्ड नहीं। उन्हें देश और काल के अनुसार व्यवस्थित किया गया।[1] प्रत्येक वैदिक परिवार संस्कारों का अनुष्ठान अपनी-अपनी पद्धति से करता था। जब संस्कारों को नियमित व व्यवस्थित किया गया तो बौद्धिक आधार पर उनका वर्गीकरण किया जाने लगा। इस समय सृजनकाल समाप्त हो रहा था और प्रत्येक बात को अन्तिम रूप से निश्चित करने का प्रयास किया जाने लगा। संस्कारों के विभिन्न ब्यौरों के सम्बन्ध में विविध विवाद और विकल्प पाये जाते हैं। सूक्ष्मतम बातें निश्चित कर दी गईं और उनका उल्लंघन वांछनीय न रहा। किन्तु परिवर्तन अब भी सम्भव था। हिन्दू मस्तिष्क अभी तक निष्क्रिय नहीं हुआ था। इसी समय हिन्दुओं के धार्मिक जीवन का तृतीय युग आया। उनके मस्तिष्क में ये धारणाएँ घर करने लगीं कि उनकी शक्ति का ह्रास हो चुका है, ये किसी नयी वस्तु की रचना नहीं कर सकते और उनका काम केवल प्राचीन का सङ्कलन व संरक्षण करना है। संस्कारों के निश्चित ब्यौरे में छोटे मोटे-भेद को भी वे पाप समझने लगे और अनुभव करने लगे कि वे संस्कारों में न तो थोड़ा-बहुत परिवर्तन ही कर सकते और न प्राचीन ऋषियों द्वारा अविहित शब्द का ही उच्चारण कर सकते। और भी विषम समस्या तो तब उत्पन्न हुई जब कि मन्त्रों और विधिविधानों की भाषा बोधगम्य न रही। यह वह युग था जब संस्कारों की सच्ची आत्मा लुप्त हो चुकी थी और उनके अन्धानुयायियों को पूजा करने के लिये उनके ध्वंसावशेष ही बच रहे थे। अब देश और काल की विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुरूप संस्कारों को व्यवस्थित, परिष्कृत और परिमार्जित नहीं किया जाता था। इस प्रकार अब संस्कार निष्प्रयोजन व निर्जीव संस्था बन कर रह गये हैं।

—o—

(१) इसी कारण संस्कारों के सम्बन्ध में विविध गृह्यसूत्रों में विभेद है।

चतुर्थ अध्याय

संस्कारों के विधायक अङ्ग

१. प्रास्ताविक

संस्कार विविध तत्त्वों के पंचमेल हैं। वे प्राचीन हिन्दुओं के विश्वासों, भावनाओं, विश्व तथा मानवस्वभाव की परख और उन अतिमानुष शक्तियों से उनके सम्बन्ध को सूचित करते हैं, जिनको वे मनुष्य के भाग्य का नियामक व मार्गदर्शक समझते थे। हिन्दुओं का विश्वास था कि मनुष्य के लिये सुरक्षा, पवित्रता व परिष्कार आवश्यक वस्तुएँ हैं। इनके लिये वे अधिकांश में उन देवताओं पर आश्रित थे, जिनके अस्तित्व का वे अनुभव करते तथा सहायता के लिये वे उनसे प्रार्थना करते थे। किन्तु जहाँ वे दिव्य सहायता की अपेक्षा रखते थे, वहाँ उनका भौतिक तथा आधिभौतिक संसार का ज्ञान भी उनका सहायक था। इस प्रकार हमें संस्कारों में धार्मिक व भौतिक तत्त्वों का समन्वय मिलता है, यद्यपि काल के दीर्घप्रवाह में उन पर पूरा धार्मिक आवरण पड़ गया है।

२. अग्नि

संस्कारों का प्रथम व सर्वाधिक स्थायी अङ्ग अग्नि था। यह प्रत्येक संस्कार के आरम्भ में प्रदीप्त किया जाता था। आर्यों के धर्म में अग्नि का महत्त्व उतना ही प्राचीन है, जितना भारोपीय काल। लैटिन में इग्निस (Ignis) और लिथुवानियन भाषा में उग्नि (Ugni) इसके समानान्तर शब्द हैं। भारत-ईरानीय काल में भी प्रमुख गृहदेवता के रूप में इसकी पूजा की जाती थी। जिस प्रकार ऋग्वेद में इसे गृहपति कहा गया है उसी प्रकार अवेस्ता में अतर (Atar=अग्नि) को सम्पूर्ण गृहों का गृहपति कहा गया है।[1] उत्तरी देशों के कड़े जाड़े में मनुष्य के साथ अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध था। परिणामस्वरूप

---

(१) यस्न, १७. ११.

इसे प्रमुख गृह-देवता का स्थान प्राप्त हुआ। यह गृहस्थ के लौकिक व धार्मिक दोनों प्रकार के जीवन में सहायता का स्रोत था। गृह्य अग्निकुण्ड को पवित्र वस्तुओं में प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। अग्नि, जो प्रत्येक घर में सदा प्रदीप्त रखा जाता था, उन प्रभावों का स्थायी प्रतीक बन गया जो मनुष्य को पारिवारिक व सामाजिक सम्बन्धों में बाँध रखते थे। वह समस्त गृह्य अनुष्ठानों व धार्मिक कृत्यों का केन्द्र बन गया। केवल वैदिककालीन भारतीयों में ही नहीं, रोमवासियों व यूनानियों में भी अग्निकुण्ड धार्मिक विश्वास व कृत्यों का केन्द्र था।

हम संस्कारों में अग्नि के महत्त्व का मूल्याङ्कन कर सकते हैं यदि हम यह जान लें कि वैदिक युग के भारतीयों के उसके सम्बन्ध में क्या विश्वास थे। दैनिक जीवन में इसकी व्यावहारिक उपयोगिता के कारण इसे गृहपति का स्थान प्राप्त हुआ। कहा गया है :

'अपना कार्य करता हुआ अग्नि इन पार्थिव गृहों में निवास करता है, यद्यपि यह देव है, तथापि उसे मर्त्य-लोक का साहचर्य प्राप्त है।[1] वह 'पञ्चजनों' में समानरूप से सम्मानित है और वह उनके प्रत्येक घर में विद्यमान है, वह कवि है, वह युवा है, वह गृहपति है'।[2]

लोगों का विश्वास था कि अग्नि रोग, राक्षसों और अन्य अमङ्गल शक्तियों से रक्षा करता है। अतः विविध संस्कारों के अवसर पर अग्नि का आराधन किया जाता था और उसे बहुमानित स्थान दिया जाता था, क्योंकि संस्कारों का एक उद्देश्य अशुभ प्रभावों से संस्कार्य की रक्षा करना भी था।

'यज्ञ में सत्यधर्मा अग्नि की उपासना करनी चाहिये। वह रोगों का नाश करता है।[3] अग्नि राक्षसों को दूर करता है, उसकी ज्वाला प्रखर है। वह

---

(१) सचेतयन्मनुषो यज्ञबन्धुः प्रतं मह्या रशनया नयन्ति।
सक्षेत्यस्य दुर्यासु साधन्देवो मर्त्यस्य सधनित्वमापत्॥ ऋ. वे. ३।

(२) य. पञ्च चर्षणीरभि निससाद दमे दमे। कविर्गृहपतिर्युवा॥
ऋ. वे ८.१५.२।

(३) कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीव चातनम्॥
ऋ. वे. १. १२. ७।

अमर है, वह शुचि है, वह सराहनीय है। हे अग्ने, तुम विपत्ति से हमारी रक्षा करो। हे देव, तुम अजर, अमर हो। अपनी तपनशील ज्वालाओं से हमारे शत्रुओं का नाश करो।'[1] प्राचीन हिन्दुओं के लिये अग्नि केवल गृहपति व रक्षक ही नहीं था, वह मान्य पुरोहित तथा देवों और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ और संदेशवाहक भी था। पुरोहित के नाते वह संस्कारों का निरीक्षण करता तथा देवों और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ और सन्देशवाहक के नाते वह देवों को हवि पहुँचाता था।

'हे अग्ने, तुम पुरोहित हो, यज्ञिय देव हो, ऋत्विक् हो, तुम होता हो, श्रेष्ठतम रत्नों को देनेवाले हो। मैं तुम्हारी स्तुति करता हूँ।[2]

'तुम देवों के मुखस्थानीय हो, अतः मैं तुम्हारे माध्यम से निर्दोष, अमर देवों की स्तुति करता हूँ।'

'तुम उनके लिये हुत हवि को ग्रहण करते हो।[3]'

'हे अग्ने, तुम हमारे इस नूतन और शक्तिसम्पन्न गायत्र का देवताओं के बीच उच्चारण करो।[4]'

'अग्नि हव्य को द्युलोक में पहुँचा देता है।[5] वह होता है, वह सन्देशवाहक के कार्य से परिचित है, वह पृथिवी और द्युलोक के बीच आता-जाता है, वह द्युलोक के मार्ग को भलीभाँति जानता है।[6]'

---

(१) अग्नि रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः।
शुचिः पावक ईड्यः॥ ऋ. वे.
अग्ने रक्षाणो अंहसः प्रतिष्म देव रीषतः।
तपिष्ठैरजरो दह॥ ऋ. वे., ७. १५. १०, १३।

(२) अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ ऋ. वे., १. १. १।

(३) ऋ. वे., २. १. १४।

(४) इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं न व्यांसम्।
अग्ने देवेषु प्रवोचः॥ ऋ. वे., १. २७. ४.।

(५) अग्निर्दिवि हव्यमाततान। ऋ. वे., १०. ८०. ४।

(६) ऋ. वे., ७. ५. १।

हिन्दू अग्नि को धार्मिक कृत्यों का निर्देशक व नैतिकविधान का संरक्षक समझते थे। किसी भी धार्मिक कृत्य का अनुष्ठान तथा अनुबन्ध और किसी प्रकार के समझौते में प्रवेश अग्नि के द्वारा किया जाता था। यह एक सनातन साक्षी समझा जाता था। उपनयन और विवाह-संस्कार के अवसर पर ब्रह्मचारी तथा पति और पत्नी उसकी परिक्रमा करते थे जिससे उनका सम्बन्ध वैध व स्थायी हो :

'मैं विशों (जनों) के राजा, धार्मिक कृत्यों के अनुपम अधिष्ठाता इस अग्नि की स्तुति करता हूँ। यह मेरी प्रार्थना सुने।[1]'

'अध्वरों (यज्ञों) के राजा, ऋत के संरक्षक, प्रज्वलित तथा वेदी में वृद्धि को प्राप्त करते हुये (अग्नि की स्तुति करता हूँ)।[2]'

३. स्तुतियाँ, प्रार्थनाएँ और आशीर्वचन

संस्कारों के दूसरे तत्त्व के अन्तर्गत स्तुतियाँ, प्रार्थनाएँ तथा आशीर्वचन आते हैं। टायलर के अनुसार 'स्तुति, चाहे व्यक्त हो चाहे अव्यक्त, आत्मा की निष्कपट इच्छा है, वह एक हृदय का दूसरे हृदय को सम्बोधन है।'[3] आगे चलकर जब संस्कारों तथा धार्मिक कृत्यों का विकास हुआ, तब ब्रह्मवादी स्तुतियाँ भी कर्मकाण्डीय स्तुतियों के साथ जुड़ गईं। क्योंकि स्तुतियों का उद्भव मानव-संस्कृति के आदिकाल में हुआ और उनका उपयोग गृह्यकृत्यों में किया गया, अतः वे आरम्भ में नैतिकता से उतनी ओतप्रोत नहीं थीं। इच्छा की पूर्ति के लिये देवों से प्रार्थना की जाती, किन्तु यह इच्छा अभी वैयक्तिक या पारिवारिक स्वार्थों तक ही सीमित थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संस्कार घरेलू विधि-विधान थे। संस्कारों के अवसर पर परिवार की रक्षा, समृद्धि व सुख-संवर्धन आदि के लिये प्रार्थनाएँ की जाती थीं जिनमें सन्तति, पशु आदि सम्मिलित थे। उदाहरणार्थ, विवाह के समय वधू के साथ सप्तपदी करवा

---

(१) विशां राजानमद्भुतमध्यक्षं धर्मणामिमम्।
अग्निमीळे स उ श्रवत्॥ ऋ. वे., ८. ४३. २४।

(२) राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिवम्।
वर्धमानं स्वे दमे॥ ऋ. वे, १. १. ८।

(३) प्रिमिटिव कल्चर, भाग १, पृ. ३६४।

हुआ वर विष्णु से प्रार्थना करता था कि पहला पग इष के लिये, दूसरा ऊर्ज के लिये, तीसरा समृद्धि के लिये, चौथा सुखी जीवन के लिये, पाँचवाँ पशुओं के लिये, छठा ऋतुओं के लिये और सातवाँ पग पत्नी और पति को मैत्री के बन्धन में बाँधने में समर्थ हो।[1] उपनयन जैसे अन्य प्रमुख सांस्कृतिक अवसरों पर ब्रह्मचारी सद्गुणों की प्राप्ति और दुर्गुणों के निवारण में सहायता के लिये प्रार्थना करता है। इस प्रकार आराधना का उपयोग नैतिकता के संवर्धन के लिये किया जाने लगा था। उपनयन संस्कार में बौद्धिक चेतना, पवित्रता तथा ब्रह्मचर्य आदि के लिये प्रार्थनाएँ की जाती थीं। प्रसिद्ध और पवित्रतम गायत्री[2] मन्त्र में कहा गया है कि 'हम स्रष्टा (सूर्य) देव के वरणीय तेज का आराधन करें; वह ईश्वर हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।' आहुति देते समय विद्यार्थी प्रार्थना करता है 'हे अग्ने! मुझे अन्तर्दृष्टि प्रदान करो, स्मरण-शक्ति प्रदान करो, मुझे गौरवशाली बनाओ, मुझे तेजस्वी और दीप्तिमान् बनाओ' आदि[3]। ब्रह्मचारी अपने कटि-प्रदेश में मेखला को बाँधते हुए कहता है 'देवताओं की भगिनीस्वरूप कीर्तिमती यह मेखला अपशब्दों (दुरुक्त) का निवारण करती है, यह मेरे वर्ण को पवित्र और शुद्ध रखती है, अतः मैं इसे अपने कटि प्रदेश के चारों ओर बाँधता हूँ, यह प्राण और अपान वायु को बल और शक्ति प्रदान करती है'[4]।

संस्कारों के अनुष्ठान के समय आशीर्वचनों का भी उच्चारण किया जाता था। वे प्रार्थनाओं से इस अर्थ में भिन्न थे कि जहाँ प्रार्थना अपने वैयक्तिक हित की सिद्धि के लिये की जाती थी, वहाँ आशीर्वाद में परहित की भावनाएँ निहित थीं। ये देवों या ईश्वर द्वारा व्यक्त संस्कर्ताओं की आकांक्षाएँ थीं। वे अपनी अभीष्ट वस्तु को प्रतीक का रूप दे दिया करते थे। जनसाधारण का यह विश्वास

(१) पा. गृ. सू., १. ८. १; आ. गृ. सू., १. १९. ९।

(२) तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ गो. गृ. सू., २. १०. ३५।

(३) आ. गृ. सू., १. २२. १।

(४) इदं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्॥
पा. गृ. सू., २. २. ३।

था कि उनके आशीर्वचनों का शुभ परिणाम होगा और इस प्रकार संस्कार्य व्यक्ति पर अभीष्ट प्रभाव हो सकेगा। आशीर्वचनों के विषय वे ही थे जो प्रार्थनाओं के। पति पत्नी को अधोवस्त्र भेंट करता हुआ कहता था 'तुम दीर्घायु होओ, यह अधोवस्त्र धारण करो, अभिशापों से परिवार की रक्षा करो, सौ शरद्‌ऋतु पर्यन्त (शतायु) वर्चस् सहित जीवित रहो, वैभव तथा सन्तति से समृद्ध होओ, दीर्घायुष्य की प्राप्ति के लिए यह वस्त्र पहनो[1]।' जातकर्म-संस्कार के अवसर पर पिता अपने पुत्र को आशीर्वाद देता था 'तू प्रस्तरखण्ड व फरसे के समान दृढ व बलवान् बन, स्वर्ण के समान देदीप्यमान व दीर्घजीवी हो। तू यथार्थ में पुत्ररूप में उत्पन्न मेरी आत्मा है, अतः तू सौ शरद् ऋतु पर्यन्त जीवित रह[2]।'

४. यज्ञ

संस्कारों का एक अन्य महत्वपूर्ण अङ्ग यज्ञ है। इसका उद्भव उसी सांस्कृतिक युग में हुआ और यह उन्हीं मानवीय विश्वासों से विकसित हुआ, जिन्होंने प्रार्थना को जन्म दिया। अपने दीर्घ जीवन में ये प्रायः एक दूसरे से घनिष्ठतया सम्बद्ध रहे हैं। लोगों का विश्वास था कि मनुष्यों के समान देवताओं को भी प्रशंसा व प्रार्थना के द्वारा प्रसन्न किया जा सकता है। उनकी यह धारणा भी स्वाभाविक ही थी कि मनुष्यों के समान वे भी किन्हीं अभीष्ट उपहारों को स्वीकार करें। अन्त्येष्टि को छोड़कर अन्य सभी संस्कार मनुष्य-जीवन के विकास व उत्साह तथा हर्ष के अवसरों पर सम्पन्न किये जाते थे। अतः संस्कार्य व्यक्ति अथवा यदि वह आयु में छोटा होता तो उसके माता-पिता कृतज्ञता के प्रतीक रूप में भावी शुभ परिणाम की आशा से मङ्गलकारी देवताओं के प्रति आदरभाव व्यक्त करते तथा आहुति देते थे। यहाँ तक कि अन्त्येष्टि के अवसर पर भी यज्ञ किये जाते हैं, जिनमें देवताओं से मृतात्मा की सहायता के लिये प्रार्थना की जाती है। संस्कारों के आरम्भ में या सम्पूर्ण संस्कार-

---

(१) जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा।
शतञ्च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास। पा. गृ. सू, १. ४. १३.।

(२) अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तुतं भव। वही, १. १६. १४; हा. गृ. सू; २. ३. २।

पर्यन्त यज्ञ किये जाते थे। लोगों की यह धारणा थी कि जीवन के किसी विशेष भाग तक किसी विशिष्ट देवता का प्रभुत्व है। अतः उसे विशेष रूप से आमन्त्रित किया जाता, उसकी प्रार्थना की जाती तथा आहुति दी जाती थी। किन्तु इतर देवों की भी प्रार्थना की जाती थी, क्योंकि उनके क्षेत्र निश्चित रूप से किसी विशेष भाग तक सीमित नहीं थे।

५. अभिषिञ्चन

स्नान, आचमन और व्यक्तियों व वस्तुओं का जल से अभिषिञ्चन संस्कारों के अन्य विधायक अंग थे। विश्व का महावादी सिद्धान्त संसार के प्रायः समस्त प्राचीन धर्मों व दर्शनों के मूल में निहित रहा है। इसी कारण जल को भी चेतन समझा जाता था और जहाँ तक वह विकास की प्रक्रिया तथा अन्य प्रकार से मनुष्य को सहायता पहुँचाता, शुभ माना जाता था[1]। परन्तु महावादी सिद्धान्त के अतिरिक्त जल को वह उसकी गति, ध्वनि तथा शक्ति के कारण भी सजीव समझता था। इसीलिये हिन्दू लोग इसे 'सजीव जल' कहते थे। इसके शुद्धिकारी व जीवनदायी प्रभावों से मनुष्य परिचित हो चुका था, क्योंकि स्वभावतः ही उसे इसकी शीतल धारा में स्नान कर शुद्धि व ताजगी का अनुभव होता था। जल के सम्बन्ध में उसकी अन्य धारणाएँ भी थीं। अनेक सोते, नहरें, कुएँ तथा नदियाँ विस्मयजनक आरोग्यकारी जल से युक्त थीं, अतः यह समझा जाता था कि उनमें कोई दिव्य शक्ति निहित है। यह भी धारणा थी कि जल में अशुभ प्रभावों के निवारण और भूत-पिशाचों के विनाश करने की क्षमता है[2]। यह बिलकुल स्वाभाविक था कि इतनी शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण हिन्दू इसका उपयोग छूत से पैदा होनेवाली व्याधि, अशुभ शक्तियों के प्रभाव तथा संस्कृति के विकसित स्तर पर पाप के निवारण के लिए करते। यह विश्वास था कि स्नान से सभी प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अशौच तथा व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। आचमन और अभिषेक, आंशिक या प्रतीक स्नान थे। औपचारिक शुद्धि सभी संस्कारों की व्यापक विशेषता थी। हिन्दू माता

---

(१) इन्साइक्लोपिडिया ऑव् रिलीजन एण्ड ईथिक्स, भा. ९. पृ. ३६७।

(२) ऋ. वे. ७. ४७. ४९; १०. ९. ३०.।

के गर्भ में प्रवेश से मृत्यु पर्यन्त और यहाँ तक कि उसके पश्चात् भी नियमित रूप से जल से शुद्ध जीवन व्यतीत करते थे। गर्भाधान के पश्चात् पिता को स्नान करना पड़ता था[1] और जातकर्म[2] में भी स्नान आवश्यक था। चूडाकर्म व उपनयन संस्कार के पूर्व भी स्नान करना अनिवार्य था[3]। ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी जीवन की समाप्ति पर स्नान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता था[4]। वर और वधू को वैवाहिक कृत्यों के पूर्व स्नान कराया जाता था[5]। मृतक के शरीर को दाह के पूर्व पानी से धोया जाता था[6]। प्रतिदिन अनेक बार व विशिष्ट सांस्कारिक आचमनों का विधान धर्मशास्त्रों में किया गया है। अभिषेक भी संस्कारों की सामान्य विशेषता थी। संस्कार आरम्भ होने के पूर्व सम्पूर्ण सामग्री को पानी छिड़क कर पवित्र कर लिया जाता था। चूडाकर्म संस्कार के अवसर पर बालक के सिर को जल से अभिषिञ्चित किया जाता था। यश, श्री, विद्या तथा ब्रह्मवर्चस् के लिये जल से स्नातक का अभिषेक किया जाता था,[7] स्वास्थ्य, शान्ति तथा सुख के लिये वधू के सिर को अभिषिक्त किया जाता था।[8]

६. दिशा-निर्देशन

दिशा-निर्देशन संस्कारों की एक मुख्य विशेषता थी। यह सूर्य के मार्ग के चिन्मय प्रतीकवाद तथा उन पौराणिक विश्वासों पर आधारित था जिनके अनुसार विभिन्न दिशाओं में विभिन्न देवता शासन करते हैं। लोगों के मन में यह विश्वास घर कर चुका था कि पूर्व दिशा प्रकाश और उष्णता, जीवन और सुख तथा श्री से सम्बन्धित है और पश्चिम अन्धकार व शीत तथा मृत्यु और

---

(१) ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात् स्नानं मैथुनिन स्मृतम्। आपस्तम्ब, गदाधर द्वारा पा. गृ. सू. पर उद्धृत।

(२) श्रुत्वा जातं पिता पुत्रं सचैलं स्नानमाचरेत्। वसिष्ठ, वही.।

(३) माता कुमारमादायाप्लाव्य। आ गृ. सू., १. १७.।

(४) पा. गृ. सू २. ६; गो. गृ सू. ३. ४. ६.।

(५) गो. गृ. सू. २. १. १०–१७।

(६) बौ. पि. सू.।

(७) तेनमामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसे। पा. गृ. सू. २ ६. ९.।

(८) पा गृ सू, १. ८. ५.।

विनाश की दिशा है। भारतीय पौराणिक धारणाओं के अनुसार दक्षिण मृत्यु के देवता यम की दिशा है, अतः उसे अशुभ माना जाता था। इन विश्वासों ने संस्कारों में मनुष्य के आसन के विषय में विविध प्रचलनों को जन्म दिया। समस्त मङ्गल-संस्कारों में संस्कार्य व्यक्ति पूर्व दिशा की ओर मुँह करके बैठता था और इस प्रकार यह प्रकट करता था कि वह जीवन व प्रकाश की प्राप्ति के लिये प्रस्तुत है। संस्कारों में प्रदक्षिणा करते समय सूर्य के मार्ग (पूर्व से प्रदक्षिण) का अनुसरण किया जाता था। अशुभ संस्कारों में दिशा ठीक इसके विपरीत होती थी। अन्त्येष्टि संस्कार के समय चिता पर मृतक का सिर दक्षिण की ओर रखा जाता था और यह विश्वास था कि मृतक की आत्मा यम की दिशा की ओर यात्रा कर रही है। विशेष अवसरों पर मनुष्य की स्थिति और वस्तुओं की दिशा का निर्धारण सामयिक विश्वासों के आधार पर किया जाता था।

७. प्रतीकत्व

हिन्दू संस्कारों में प्रतीकवाद का उल्लेखनीय स्थान रहा है। प्रतीक एक भौतिक पदार्थ होता था, जिसका प्रयोजन मानसिक व आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति था। यह प्रतीकवाद मुख्यतः सादृश्य द्वारा परामृष्ट था। लोगों का यह विश्वास था कि सदृश वस्तुओं से सदृश वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार यह धारणा जनसाधारण के हृदय में घर कर चुकी थी कि विविध प्रतीकों के माध्यम से उनमें तदनुरूप गुणों का संचार होता है। पत्थर दृढ़ता का प्रतीक था और जो इस पर आरूढ़ होगा उसमें उसी प्रकार की दृढ़ता आ जाएगी, यह विश्वास था।[१] उपनयन संस्कार में ब्रह्मचारी और विवाह संस्कार में वधू को अपना पैर एक पत्थर पर रखना पड़ता था और यह क्रमशः आचार्य और पति के प्रति दृढ़ भक्ति व निष्ठा का प्रतीक था। ध्रुवतारे की ओर देखना भी इन्हीं गुणों की प्राप्ति का प्रतीक था।[२] लाजा और चावल उर्वरता तथा समृद्धि के प्रतीक थे।[३] समञ्जन स्नेह और प्रेम का प्रतीक था।[४] सहभोजन

(१) आरोहेममश्मानमश्मेव स्थिरा भव। पा. गृ. सू., १. ७. १।
(२) ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधिपोष्ये मयि। पा. गृ. सू., १. ८. ९।
(३) इमांल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव। आ. गृ. सू. १. ७. ८।
(४) समञ्जन्तु विश्वेदेवा समापो हृदयानि नौ। गो. गृ. सू. २. १. १८।

ऐक्य का प्रतीक था।[1] हृदयस्पर्श को अनुचित्तता का प्रतीक माना जाता था[2] और पाणिग्रहण सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने का प्रतीक था।[3] सूर्य की ओर देखना तेज और बौद्धिक उत्कर्ष का सूचक था।[4] ध्रुव नक्षत्रसमूह गर्भाधान का निश्चायक समझा जाता था।[5] इसी प्रकार के अन्य अनेक विश्वास थे।

८. निषेध

संस्कारों के विविध विषयों में माने जानेवाले निषेधों का अपना एक स्वतन्त्र स्थान है। 'निषेध' की तुलना पॉलिनीशियन शब्द 'टैबू' से की जा सकती है। प्राचीन काल में मानव-धारणाएँ घातक वस्तुओं के विषय में चमत्कारी शैलियों में विश्वास द्वारा प्रभावित थीं। औषधि-विज्ञान और आयुर्वेद में भी इसका उपयोग होता था। ऐसे अनेक निषेध थे जो मनुष्य की जीवन-विषयक धारणाओं से सम्बन्धित थे। आदिम मानव के लिये जीवन संसार के सम्पूर्ण रहस्यों का केन्द्र था। अतः जीवन से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु के साथ भय व रहस्यपूर्ण भावनाओं का योग हो गया। उसका उद्भव, वृद्धि और अन्त सभी रहस्यपूर्ण थे। भविष्य की अमङ्गल आशङ्काओं के प्रति पहले से सावधानी रखना और जीवन के विविध अवसरों पर रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति करना आवश्यक समझा गया। इससे अनेक प्रतिबन्धों का उद्भव हुआ, जो आगे चलकर गर्भावस्था, जन्म, शैशव, किशोरावस्था, यौवन, विवाह, मृत्यु और शवदाह आदि के विषय में सुनिश्चित निषेधों में परिणत हो गये।

शुभ और अशुभ दिनों, मासों और वर्षों के विषय में अनेक विधि-निषेध

---

(१) अथैना स्थालीपाकं प्राशयति—'प्राणैस्ते प्राणान्सन्दधामि, अस्थिभिरस्थीनि मांसैर्मांसानि त्वचा त्वचम्। पा. गृ. सू., १. ११. ५।

(२) मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु।
पा. गृ. सू., १. ८. ८।

(३) गो. गृ. सू., २. २. १६।

(४) तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पा. गृ. सू., १. १७. ६।

(५) पा. गृ. सू., १. ११. ३।

प्रचलित हो गये।[1] लोगों का विश्वास था कि किन्हीं विशेष दिनों, महीनों और वर्षों में ही वायुमण्डल में अमुक-अमुक वस्तु के घातक परिणाम होते हैं, अतः उस समय अमुक कार्य सुरक्षा व सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं हो सकता या अमुक दिन, मास और वर्ष शुभ हैं, अतः अमुक कार्य का सफल होना निश्चित है। लम्बे समय तक निरीक्षण द्वारा नक्षत्रसम्बन्धी और आर्थिक अवांछित घटनाओं, मृत्यु, रोग या पराजय जैसे अवसरों के आधार पर किसी विशेष दिन, मास और वर्ष को अशुभ माना जाने लगा था। इस प्रकार के ऐसे अनेक विश्वास हैं, जिनका जन्म सुदूर अतीत के गर्भ में छिपा है। विशिष्ट समुदायों के अनुभव के विश्वकोष में से उनसे सम्बन्धित निषेधों की परम्परा विकसित हुई। किन्तु अनेक निषेध ऐसे भी थे जो बौद्धिक ज्ञान पर आश्रित थे। उदाहरण के लिये प्राकृतिक प्रकोप, राजनीतिक क्रान्ति, किसी व्यक्ति की मृत्यु, स्त्री के मासिकधर्म आदि के समय संस्कारों का अनुष्ठान करना निषिद्ध था।[2]

भोजन से सम्बद्ध अनेक विधि-निषेध भी प्रचलित थे। किसी विशिष्ट संस्कार में किसी विशेष खाद्य का विधान किया गया है।[3] इसका प्रयोजन यह था कि भोजन लघु, घातक प्रभाव से मुक्त व उस विशेष अवसर के अनुरूप हो। कभी-कभी भोजन का पूरी तरह निषेध कर दिया

---

(१) जन्मर्क्षे जन्ममासे जन्मदिवसे शुभं त्यजेत्।
पा. गृ. सू. १.४.८. पर गदाधर द्वारा उद्धृत।
श्रावणेऽपि च पौषे वा कन्या भाद्रपदे तथा।
चैत्राश्वयुक्कार्त्तिकीषु याति वैधव्यतां खलु॥ रत्नकोष व्यास, वही।
अयुग्मे दुर्भगा नारी युग्मे तु विधवा भवेत्। राजमार्तण्ड, वही।

(२) दिग्दाहे दिनमेकञ्च ग्रहे सप्त दिनानि तु।
भूकम्पे तु समुत्पन्ने त्र्यहमेव तु वर्जयेत्॥
उल्कापाते त्रिदिवसं धूम्रे पञ्च दिनानि तु।
वज्रपाते चैकदिनं वर्जयेत् सर्वकर्मसु॥
विवाहव्रतपूजासु यस्य भार्या रजस्वला।
तदा न मङ्गलं कार्यं शुद्धौ कार्यं शुभेप्सुभिः॥ वृद्धमनु. वही.।

(३) त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ स्याताम्। पा. गृ. सू. १. ८. २१.।

जाता था।[1] इसके मूल में यह धारणा निहित थी कि संस्कार के समय किसी विशेष देवता का सान्निध्य प्राप्त करने के पूर्व शारीरिक अशौच व दुर्बलता से मुक्ति मिल जाए। कभी-कभी उपवास भी दिव्य आनन्द की प्राप्ति के लिये आवश्यक समझा जाता था। उपवास से मनुष्य अपने को जन-साधारण की अपेक्षा प्रबुद्ध और असाधारण आनन्द के वातावरण में विचरण करता हुआ अनुभव करता था।

६. अभिचार (जादू)

संस्कारों में चमत्कारक तत्त्व भी मिलते हैं। कुछ विशिष्ट दिशाओं में प्राचीन काल में आरम्भिक जीवन की समस्याएँ आज की अपेक्षा कहीं जटिल थीं। उनके समाधान के लिये अनवरत सावधानी, गंभीर पर्यवेक्षण तथा सतत क्रियाशीलता अपेक्षित थी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आदिम मानव अतिप्राकृत शक्तियों पर विश्वास करता था। कभी वह उन शक्तियों से छुटकारे का, तो कभी उनके नियमन का प्रयास करता। मनुष्य की इसी प्रकृति ने अभिचार को जन्म दिया। यह उपाय निश्चय ही आदेश और दमन की प्रवृत्तियों से प्रेरित था, और इस दृष्टि से पूर्ण विकसित धर्म से भिन्न था, जो सहज ही अतिप्राकृत शक्तियों के प्रति आत्मसमर्पण और आज्ञा-पालन की प्रवृत्ति को जन्म देता है। अभिचार की यह पद्धति घटनाओं के क्रम और प्रकृति तथा मनुष्य के अनुकरण पर आधारित है। अथर्ववेद में ऐसे अनेक चमत्कारों का विस्तृत वर्णन है, जिनका विनियोग कौशिक ने अपने सूत्रों में विविध संस्कारों के लिये किया है। अथर्ववेद का एक मन्त्र इस प्रकार आरम्भ होता है: 'तीव्र व्यथा देनेवाला काम तुझे भली भाँति व्यथित करे,' जिससे तू अपनी शय्या पर शान्तिपूर्वक शयन भी न कर सके। काम का जो भीषण इषु (बाण) है, मैं उसी से तुम्हारे हृदय को विद्ध करता हूँ[2]।'

कौशिक ने इस मन्त्र का विनियोग किसी स्त्री का प्रेम प्राप्त करने के लिये किये जानेवाले एक अभिचार में किया है, जिसमें स्त्री को अँगुली से चिउटी

---

(१) वही, ३. १०. २५-२६।

(२) उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
इषु: कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि॥ अ. वे ३.२५.१।

काटी जाती और उसकी मूर्ति के हृदय को वेधा जाता है, आदि। अन्य गृह्यसूत्रों में संस्कारों के अवसर पर अभिचारों का विधान किया गया है। किन्तु ये अभिचार लाभप्रद होने के कारण निन्द्य प्रयोजन से किये जानेवाले अभिचारों से भिन्न हैं। उदाहरण के लिये, अभिचार सुरक्षित व सहज प्रजनन,[1] अशुभ शक्तियों के निवारण आदि के लिये[2] किये जाते थे।

हिन्दू संस्कारों में धार्मिक भावना अभिचार की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण थी। कुछ भी हो, आरम्भ में पुरोहित और ऐन्द्रजालिक (जादूगर) में शायद ही कोई भेद रहा होगा। पर आगे चलकर धर्म के विकास और परिष्कार के फलस्वरूप दोनों के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा हो गई। अन्त में, यद्यपि पूर्णतः नहीं, पुरोहित चमत्कारों के बहिष्कार में सफल हुआ, क्योंकि वह दिव्य लोक के सम्पर्क में है, ऐसा विश्वास था। बौद्ध और जैन भिक्षुओं के लिये अथर्ववेद में निर्दिष्ट उपायों तथा अभिचारों का अनुष्ठान निषिद्ध कर दिया गया। धर्मशास्त्रों ने भी गुह्य कृत्यों को पाप घोषित कर दिया और ऐन्द्रजालिक का वर्गीकरण कितव और घूसखोर आदि के साथ कर दिया गया और उन्हें दण्ड देने का विधान किया गया।[3]

१०. फलित ज्योतिष

संस्कारों के अनुष्ठान में फलित ज्योतिष का भी महत्त्वपूर्ण योग रहा है। यह वह शास्त्र है जिससे दैवी इच्छा को जानने का प्रयास किया जाता है। मनुष्य स्वभावतः वर्तमान और भूत काल की अवांछित घटनाओं के कारण और अपने भविष्य को जानना चाहता था, जिससे वह भविष्य में अनुसरणीय श्रेष्ठतम मार्ग को जान सके। यह धारणा थी कि शारीरिक चिह्नों और विश्व के विभिन्न पदार्थों की गतिविधि से ये बातें जानी जा सकती हैं। जनसाधारण का विश्वास था कि प्राकृतिक साधन देवताओं की आत्माभिव्यक्ति के

---

(१) सोष्यन्ती-कर्म।

(२) देखिये जातकर्म-संस्कार का प्रकरण।

(३) उत्कोचकाश्चौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह॥ म. स्मृ. ९.२५८।
अभिचारेषु च सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः। वही, ९.२९०।

सर्वोत्तम माध्यम हैं, अतः अतिमानव शक्तियों का प्रयोजन प्राकृतिक दृश्यों द्वारा जाना जा सकता था। यह कार्य मनुष्य का था कि वह प्राकृतिक दृश्यों की अभिव्यक्ति के नियमों का आविष्कार करता। तर्क वितर्क का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। इसका कारण यह विश्वास था कि देवता मनुष्य के प्रति मैत्री के भाव से अनुप्राणित हैं और उसका यथार्थ मार्गदर्शन करने के लिये उत्सुक हैं।

संस्कारों के इतिहास में भविष्यज्ञान के समस्त प्रकारों में ज्योतिष विद्या का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इसे इतना अधिक महत्व आकाशीय नक्षत्रों की ज्योति और उनसे सम्बद्ध पौराणिक विश्वासों तथा इस धारणा से प्राप्त हुआ कि आकाश के सारे नक्षत्र, तारे आदि या तो ईश्वरीय हैं, अथवा ईश्वरीय शक्तियों द्वारा नियमित हैं और या वे मृतात्माओं के निवासस्थान हैं।[1] अतः आकाशीय गतिविधि को ईश्वरीय इच्छा का सङ्केत समझना स्वाभाविक ही था। पूर्ववर्ती गृह्यसूत्रों में नक्षत्रसम्बन्धी विवरण बहुत थोड़े और साधारण तथा संक्षिप्त हैं। किन्तु ज्योतिष के विकास के साथ-साथ नक्षत्र-विषयक वर्णनों का प्राचुर्य और विकास होता गया। परवर्ती निबन्धों में संस्कारों के लिये नक्षत्र-विषयक नियम विस्तार से निर्धारित किये गये। इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखा गया है कि संस्कारों का अनुष्ठान किसी शुभ नक्षत्र में ही किया जाय।[2]

मानवशरीर की पवित्रता ने भी शरीर के कतिपय चिह्नों की भविष्य-सूचना की शक्तिविषयक धारणा को जन्म दिया। लिंग-पुराण में इस विषय का विस्तृत वर्णन किया गया है और वर और वधू की परीक्षा के लिए परवर्ती ग्रन्थों में उद्धृत किया गया है।[3] भविष्यज्ञान के लिये अन्य उपायों का भी आश्रय लिया गया। गोभिल मानवज्ञान की सीमा को स्वीकार करता हुआ मिट्टी के विविध ढेलों के माध्यम से वधू के भविष्य का ज्ञान प्राप्त करने का

---

(१) द्यावा-पृथिवी, पितृ-मातृ-भूत देव हैं, जिनसे हिन्दू देववाद का उदय हुआ।

(२) ज्योतिष-विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना इसी प्रयोजन के लिये की गई है।

(३) वीरमित्रोदय-संस्कारप्रकाश, भा २. पृ. ७५२ पर उद्धृत।

निर्देश करता है ।[1] अन्नप्राशन के पश्चात् बालक के समक्ष प्रस्तुत वस्तुओं में से उसकी जीविका का निश्चय किया जाता था ।[2] अन्य संस्कारों में भी ऐसे उपायों का आश्रय लिया जाता था ।

११. सांस्कृतिक तत्त्व

उपरिवर्णित धार्मिक विश्वासों, विधि-विधानों और तत्सम्बन्धी नियमों के साथ-साथ संस्कारों में सामाजिक प्रथाओं और चलनों तथा प्रजनन-विद्या, आचार, स्वास्थ्य, औषध आदि विषयक नियमों का भी समावेश था । प्राचीन काल में जीवन के विभिन्न क्षेत्र एक दूसरे से पृथक् नहीं थे । सम्पूर्ण जीवन एक अविभाज्य इकाई समझा जाता था और उसमें पूर्ण रूप से सर्वातिशायी धार्मिक भावना व्याप्त थी । क्योंकि व्यक्ति का सारा जीवन संस्कारों से व्याप्त था, अतः उसका शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रशिक्षण भी संस्कारों के माध्यम से किया जाता था । संस्कारों में इस बात के निर्णय में भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है कि समाज में किसी व्यक्ति का क्या स्थान है । उनके अनुष्ठान के अधिकार और प्रकार बहुत कुछ संस्कार्य व्यक्ति की उप-जाति के आधार पर निर्धारित होते थे । विवाह-सम्बन्ध सामाजिक प्रथाओं और नियमों के आधार पर निश्चित किये जाते थे । वर और वधू के चुनाव, सहवास, गर्भावस्था और बच्चों के पालन-पोषण के विषय में प्रजनन-विद्या तथा जातीय शुद्धि के नियमों का पालन किया जाता था । कृतचूड (जिस व्यक्ति का चूडाकर्म अथवा मुण्डन संस्कार हो चुका है) बालक, ब्रह्मचारी, स्नातक और गार्हस्थ्य जीवन का नियमन तत्कालीन आचारशास्त्रीय नियमों के द्वारा किया जाता था । जीवन की रक्षा केवल भूत-प्रेतों और पिशाचों से ही नहीं, अपितु रोगों तथा ऐसी ही अन्य दुर्घटनाओं से भी स्वास्थ्य, भोजन और औषध के सम्बन्ध में निर्धारित नियमों द्वारा की जाती थी । स्त्रियों के मासिक धर्म, प्रसव और उसके पश्चात् कुछ निर्दिष्ट दिनों तक सूतिकागृह में रहने, परिवार में

---

(१) गो. गृ. सू., २.१.११ ।

(२) कृतप्राशनमुत्सर्गात् धात्री बालं समुत्सृजेत् ।
कार्यं तस्य परिज्ञानं जीविकाया अनन्तरम् ॥
वीरमित्रोदय-संस्कारप्रकाश, भाग १ में उद्धृत ।

किसी की मृत्यु तथा अन्य अवसरों पर स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों को कठोरता से पालन किया जाता था।

१२. सामान्य तत्त्व

संस्कारों में अनेक ऐसे सामान्य तत्त्व भी दृष्टिगोचर होते हैं जिनका धार्मिक विचारों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है और जनसाधारण की धार्मिक विचारधारा में कोई भी परिवर्तन होने पर भी वे उनमें बराबर बने रहेंगे। सभी सम्बन्धियों और मित्रों को संस्कारों में सम्मिलित होने के लिये आमन्त्रित किया जाता है। विवाह, केशान्त, उपनयन और चूडाकरण आदि के अवसर पर मण्डप बनाये जाते हैं। पल्लवों, पत्तों और फूलों आदि से सजावट कर तथा संस्कार्य व्यक्ति को उपयुक्त वेशभूषा से अलंकृत कर हर्ष और उत्साह प्रकट किया जाता था। समावर्तन संस्कार के समय स्नातक को वस्त्र, माला दण्ड तथा गार्हस्थ्य जीवन के लिये उपयोगी अन्य वस्तुएँ भेंट की जाती थीं। विवाह के अवसर पर वर और वधू दोनों को उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार वस्त्रों तथा आभूषणों से अलंकृत किया जाता था। अपने सहज हर्ष और प्रसन्नता को व्यक्त करने और अतिथियों के मनोविनोद के लिये संगीत का आयोजन किया जाता था। वाराह-गृह्यसूत्र तो वादन-कर्म अथवा यान्त्रिक संगीत को विवाह संस्कार के आवश्यक और विधायक अङ्ग की स्थिति तक पहुँचा देता है।

१३. आध्यात्मिक वातावरण

उक्त प्रथाएँ, चलन, नियम तथा सामान्य तत्त्व मूलतः सामाजिक थे। किन्तु काल के सुदीर्घ प्रवाह में उन्हें धार्मिक स्वरूप प्राप्त हो गया। संस्कार का सम्पूर्ण वातावरण धार्मिक व आध्यात्मिक भावों की सुरभि से सुवासित रहता था। संस्कार के लिये बनाये हुए मण्डप में बैठकर संस्कार्य व्यक्ति भी अपने आपको आनन्दित, उच्च भावनाओं से ओतप्रोत और शुद्ध, तथा पवित्र होने का अनुभव करने लगता था।

पंचम अध्याय

प्राग्-जन्म संस्कार

प्रथम परिच्छेद

गर्भाधान

१. अर्थ

जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है उसे गर्भाधान कहते थे[1]। शौनक भी कुछ भिन्न शब्दों में ऐसी ही परिभाषा देते हैं; 'जिस कर्म की पूर्ति से स्त्री (पति द्वारा) प्रदत्त शुक्र धारण करती है उसे गर्भालम्भन या गर्भाधान कहते हैं[2]।' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह कर्म कोई काल्पनिक धार्मिक कृत्य नहीं था अपितु एक यथार्थ कर्म था, यद्यपि कालान्तर में इसके कर्ता संकोच का अनुभव करने लगे और अन्ततोगत्वा यह संस्कार अप्रचलित हो गया।

हमें ज्ञात नहीं कि पूर्व वैदिक काल में इसके साथ बच्चों के प्रसव-सम्बन्धी क्या भाव और कर्म थे। इस संस्कार का विकास होने में अवश्य ही अति दीर्घकाल लगा होगा। आदिम युग में तो प्रसव एक प्राकृतिक कर्म था। शारीरिक आवश्यकता प्रतीत होने पर मानव-युगल, संतानप्राप्ति की बिना किसी पूर्वकल्पना के सहवास कर लेता था, यद्यपि था यह स्वाभाविक परिणाम। किन्तु गर्भाधान संस्कार से पूर्व एक सुव्यवस्थित घर की भावना, विवाह अथवा सन्तति होने की अभिलाषा और यह विश्वास कि देवता मनुष्य को सन्तति-प्राप्ति में सहायता करते हैं, अस्तित्व में आ चुके थे। इस प्रकार इस संस्कार की प्रक्रिया उस काल से सम्बन्धित है जब कि आर्य अपनी आदिम अवस्था से बहुत आगे बढ़ चुके थे।

---

(१) गर्भः संधार्यते येन कर्मणा तद्गर्भाधानमित्यनुगतार्थं कर्मनामधेयम्।
पूर्वमीमांसा, अध्याय १, पाद ४ अधि. २, वी. मि. सं. में इस संस्कार में उद्धृत।

(२) निषिक्तो यत्प्रयोगेण गर्भः संधार्यते स्त्रिया।
तद्गर्भालम्भनं नाम कर्म प्रोक्तं मनीषिभिः॥ वी. मि. सं. में उद्धृत।

२. वैदिक काल

वैदिक काल में हम सन्तति के लिये प्रार्थना आदि के वचनों में पितृ-मातृक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति देखते हैं[१]। वीरपुत्र देवताओं द्वारा मनुष्य को दिये वरदान के रूप में माने जाते थे। तीन ऋणों का सिद्धान्त वैदिक काल में विकास की स्थिति में था[२]। पुत्र को 'ऋणच्युत्'[३] कहा जाता था जिससे कि पैतृक और आर्थिक दोनों ऋणों से मुक्ति का बोध होता है। साथ ही साथ सन्तति प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का आवश्यक और पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। इसके अतिरिक्त वैदिक मन्त्रों में बहुत सी उपमायें और प्रसंग हैं जो गर्भाधान के लिये स्त्री के पास किस प्रकार जाना चाहिए इस पर प्रकाश डालते हैं[४]। इस प्रकार गर्भाधान के विषय में विचार और क्रिया वैदिक काल में विकास की अवस्था में थी।

गर्भाधान के विधि-विधान गृह्यसूत्रों के लेखबद्ध होने से पूर्व ही पर्याप्त विकसित क्रिया का रूप प्राप्त कर चुके होंगे, किन्तु प्राक्सूत्र काल में इसके विषय में पर्याप्त जानकारी नहीं मिलती। परन्तु वैदिक काल में गर्भधारण की ओर इङ्गित करनेवाली अनेक प्रार्थनायें हैं। 'विष्णु गर्भाशय-निर्माण करें; त्वष्टा तुम्हारा रूप सुशोभित करें; प्रजापति बीज वपन करें; धाता भ्रूण स्थापन करें। हे सरस्वति! भ्रूण को स्थापित करो, नीलकमल की माला से सुशोभित दोनों अश्विन तुम्हारे भ्रूण को प्रतिष्ठित करें'[५]। 'जैसे अश्वत्थ शमी पर आरूढ़ होता है, उसी प्रकार सन्तति का प्रसव किया जाता है, यही सन्तति की प्राप्ति है; उसीको हम स्त्री में आधान करते हैं। वस्तुतः मनुष्य बीज से उत्पन्न होता है। उसी का स्त्री में वपन कर दिया जाता है; यही यथार्थ में सन्तति का प्राप्त करना है, यही प्रजापति का कथन है।'[६]

(१) प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम्। ऋ. वे. ८. ३५. १०।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति। वही १. ८९. ९।

(२) जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वा स्यादिति। तैत्तिरीय संहिता ६. ३. १०. ५।

(३) ऋ. वे. १०. १४२. ६।	(४) अ. वे. ६. ९. १. २।

(५) ऋ वे. १०. १८४।

(६) शमीमश्वत्थमारूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वाभरामसि॥ आदि, अ. वे. ६. ९।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में गर्भधारण करने के लिये स्त्री को पर्यङ्क पर आने के लिए निमन्त्रण का उल्लेख है :—'प्रसन्न चित्त होकर शय्या पर आरूढ़ हो, मुझ अपने पति के लिए सन्तति उत्पन्न करो'[1]।' प्राक्सूत्र साहित्यमें सहवास के भी स्पष्ट विवरण प्राप्त होते हैं[2]। उपर्युक्त प्रसंगों से हमें ज्ञात होता है कि प्राक्सूत्रकाल में पति पत्नी के समीप जाता, उसे गर्भाधान के लिये आमन्त्रित करता, उसके गर्भ में भ्रूण-संस्थान के लिये देवों से प्रार्थना करता और तब गर्भाधान समाप्त होता था। यह बहुत सरल विधि थी। इसके अतिरिक्त कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। अधिक संभव है कि इस अवसर पर कोई उत्सव भी मनाया जाता रहा हो, किन्तु इसके विषय में हम पूर्णतया अन्धकार में हैं। इस उत्सव के उल्लेख न किये जाने का कारण यह हो सकता है कि इसे प्रारम्भिक काल में विवाह का ही एक अंग समझा जाता रहा हो।

३. सूत्र-काल

गृह्यसूत्रों में ही गर्भाधान-विषयक विधानों का सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से विवेचन हुआ है। उनके अनुसार विवाह के उपरान्त ऋतुस्नान से शुद्ध पत्नी के समीप पति को प्रति मास जाना होता था। किन्तु गर्भाधान के पूर्व उसे विभिन्न प्रकार के पुत्रों—ब्राह्मण, श्रोत्रिय (जिसने एक शाखा का अध्ययन किया हो), अनूचान (जिसने केवल वेदाङ्गों का अनुशीलन किया हो), ऋषिकल्प (कल्पों का अध्येता), भ्रूण (जिसने सूत्रों और प्रवचनों का अध्ययन किया हो), ऋषि (चारों वेदों का अध्येता) और देव (जो उपर्युक्त से श्रेष्ठ हो)—की इच्छा के लिये व्रत का अनुष्ठान करना होता था।[3] व्रत-समाप्ति पर अग्नि में पकान्न की आहुति दी जाती थी। तदुपरान्त सहवास के हेतु पति-पत्नी को

---

(१) वही. १४. २. २।

(२) तां पूषन् शिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्याः वपन्ति।
या न उरू उशति विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरामशेपम्॥
ऋ. वे. १०. ८५. ३७।

अथ यामिच्छेत्। गर्भं दधीतेति तस्यामथ निष्ठाप्य मुखेन मुखं सन्धायापान्याभिप्राश्याद्दिन्द्रियेणा रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति। बृहदारण्यकोपनिषद्।

(३) बौ. गृ. सू. १. ७. १-८।

प्रस्तुत किया जाता था। जब पत्नी अत्यन्त सुसज्जित एवं सुन्दर ढंग से अलंकृत हो जाती थी, पति प्रकृति-सृजन-सम्बन्धी उपमामय तथा गर्भधारण में पत्नी को देवों की सहायता के लिये स्तुतिमयी वेदवाणी का उच्चारण करता था।[1] पुन: पुरुष और स्त्री के सहवास के विषय में उपमा-रूपकयुक्त मन्त्र का उच्चारण तथा अपनी जननशक्ति का वर्णन करता था और नर-नारी के सहकार्य के रूपकों से युक्त वैदिक ऋचाओं का गान करते हुए अपने शरीर को मलता था।[2] आलिङ्गन के उपरान्त पूषा की स्तुति करते हुए और विकीर्ण बीज को इङ्गित करते हुए गर्भाधान होता था।[3] पति पत्नी के हृदय का स्पर्श करता और उसके दक्षिण स्कन्ध पर झुकते हुए कहता, 'सुगुम्फित केशोंवाली तुम। तुम्हारा हृदय जो स्वर्ग में निवास करता है, चन्द्रमा में निवास करता है, जिसे मैं जानता हूँ, क्या वह मुझे जान सकता है? क्या हम शत शरद् देखेंगे?'[4]

४. धर्मसूत्र, स्मृति और परिवर्ती साहित्य

धर्मसूत्र और स्मृतियाँ इस संस्कार के कर्मकाण्डीय पक्ष में कुछ और योग दे देती हैं। वस्तुतः वे इसे अनुशासित करने के लिये कुछ नियम निर्धारित करते हैं जैसे:—गर्भाधान कब हो, स्वीकृत और अस्वीकृत रात्रियाँ, नक्षत्र-सम्बन्धी विचार; बहुपत्नीक पुरुष अपनी पत्नी के पास कैसे पहुँचे; गर्भाधान एक आवश्यक कर्तव्य और इसके अपवाद, संस्कार को सम्पन्न करने की रात्रि, आदि। केवल याज्ञवल्क्य, आपस्तंब और शातातप आदि कतिपय स्मृतियाँ पति के लिये सहवासोपरान्त स्नान करनेका विधान करती हैं।[5] पत्नी को इस शुद्धि से मुक्त

---

(१) वही १. ७. ३७-४१।

(२) अथैनां परिष्वजति—'अहमस्मि सा त्वं द्यौरहं पृथ्वी त्वं रेतोऽहं रेतोभृत् त्वम्।' आदि, वही १. ७. ४२।

(३) वही १. ७. ४४। (४) पा. गृ. सू. १. १२. १।

(५) ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्।

याज्ञवल्क्य और आपस्तम्ब।

उभावप्यशुची स्यातां दम्पती शयनं गतौ।

शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्यादशुचि पुमान्॥

शातातप, गदाधर द्वारा पा. गृ. सू. १. ११ पर उद्धृत।

कर दिया गया है। शातातप स्मृति का कथन है, 'शय्या पर दोनों पति और पत्नी अशुद्ध हो जाते हैं, जब वे उठते हैं तो केवल पति ही अपवित्र रहता है और पत्नी शुद्ध रहती है।'

प्रयोग और पद्धतियाँ भी इस संस्कार में कुछ नये अंगों का योग करती हैं। वे इसके आरम्भ में संकल्प और पौराणिक देवों के अर्चन का विधान करती हैं। मातृपूजा, नान्दीश्राद्ध और विनायक या गणेश की पूजा का भी विधान करती हैं।[1] संस्कार की समाप्ति पर भेंट और भोज का भी विधान किया गया गया है।[2] पर ये सब क्रियायें सभी संस्कारों में सामान्य हैं।

५. उपयुक्त समय

गर्भाधान के विषय में जो प्रथम प्रश्न उठाया गया है वह है इसके सम्पन्न करने के समय के सम्बन्ध में। इस विषय पर तो सभी धर्मशास्त्र एकमत हैं कि यह तभी हो जब पत्नी गर्भधारण के लिये शारीरिक रूप से समर्थ हो, अर्थात् ऋतुकाल में। पत्नी के ऋतुस्नान की चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक का समय गर्भधारण के लिये उपयुक्त माना जाता था।[3] गृह्यसूत्रों तथा स्मृतियों का बहुमत सांस्कारिक दृष्टि से चतुर्थ रात्रि को गर्भधारण के लिये शुद्ध मानता है। किन्तु गोभिल-गृह्यसूत्र[4] अधिक विवेचनापूर्ण विचार व्यक्त करता है। इसके अनुसार गर्भधारण तभी होना चाहिये जबकि अशुद्ध रक्त का प्रवाह रुक जाय। चौथी रात्रि के पूर्व स्त्री को अस्पृश्य माना जाता था और उसके समीप जाने वाला व्यक्ति दूषित और गर्भपात (अकाल-उत्पत्ति) का दोषी; क्योंकि उसका शुक्र व्यर्थ में ही नष्ट हो जाता है।[5]

गर्भाधान के लिये केवल रात्रिकाल ही विहित था और दिन का समय

(१) दशकर्मपद्धति। (२) वही।

(३) म. स्मृति ३. २; याज्ञ. स्मृ. १. ७९।

(४) विरजा यास्तस्मिन्नेव दिवा। २. ५।

(५) व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्। आश्वलायन, वी. मि. सं. भाग, १ में उद्धृत।

निषिद्ध।[1] इसका यह कारण दिया गया है कि दिन में संभोग करनेवाले पुरुष का प्राणवायु अधिक तेज चलने लगता है। जो रात्रि को अपनी पत्नी के समीप जाते हैं वे ब्रह्मचारी ही हैं। दिन में सम्भोग नहीं करना चाहिये, क्योंकि इससे अभाग्यशाली, शक्तिहीन और अल्पायु सन्तति उत्पन्न होती है।[2] इस नियम के अपवाद भी माने गये हैं। किन्तु वे उन्हींके लिये हैं जो प्रायः बाहर रहते हों, अपनी पत्नियों से पृथक् हों; या उनकी पत्नियाँ अत्यन्त कामुक हों।[3] द्वितीय अपवाद में निहित भाव यह है कि स्त्रियों को समस्त साधनों से संतुष्ट और रक्षित रखना चाहिये जिससे कि वे पथभ्रष्ट न हो जायँ।[4]

रात्रियों में भी पिछली रात्रियाँ अधिक उपयुक्त मानी गई हैं। बौधायन कहते हैं 'पुरुष स्त्री के समीप चौथी से सोलहवीं रात्रि पर्यन्त जाए, विशेषतया अन्त वाली रात्रियों में'।[5] आपस्तंब और अन्य स्मृतिकारों ने भी इसी विचार की पुष्टि की है।[6] पिछली रात्रियों में धारण हुई सन्तति को अधिक भाग्यवान् और गुणसम्पन्न समझा जाता था। 'चौथी रात्रि में धारण हुआ पुत्र अल्पायु और धनहीन होता है। पञ्चम रात्रि में धारण की हुई कन्या स्त्री सन्तति को ही उत्पन्न करती है, छठी रात्रि का बच्चा मध्यम श्रेणी का (उदासीन) होता है। सप्तम रात्रि की कन्या वन्ध्या होती है; आठवीं रातका लड़का सम्पत्ति का स्वामी होता है; नवीं रात्रि के गर्भ से शुभ स्त्री उत्पन्न होती है; दशवीं रात्रि का पुत्र बुद्धिमान्

(१) याज्ञ. स्मृ. १. ७९, आश्वलायन स्मृति, 'उपेयान्मध्यरात्रान्ते। वी. मि. स. भाग १ में उद्धृत।

(२) प्राणा वा एते स्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते।
ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते॥ प्रश्नोपनिषद् १. १३।
नार्तवे दिवा मैथुनमर्जयेदल्पभाग्याः अल्पवीर्याश्च दिवा प्रसूयन्तेऽल्पायुषश्चेति।–आथर्वणिक श्रुति। वी. मि. स. भाग -1 में उद्धृत।

(३) अभृतावृतुकाले वा दिवा रात्रावथापि वा।
प्रोषितस्तु स्त्रियं गच्छेत्प्रायश्चित्ती भवेन्न च॥–व्यास, वही।

(४) यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः कर्तव्याश्च सुरक्षिताः।–म. स्मृ, वही।

(५) बौ. गृ. सू. १. ७. ४७।

(६) तत्राप्युत्तरोत्तराः प्रशस्ताः। आप. ध. सू. २. १।

होता है; ग्यारहवीं रात्रि की कन्या अधार्मिक होती है और १२ वीं रात्रि का पुत्र सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति होता है; १३ वीं रात्रि की कन्या व्यभिचारिणी होती है; १४ वीं रात्रि का पुत्र धार्मिक, कृतज्ञ, संयमी और दृढ़प्रतिज्ञ होता है; १५ वीं रात्रि की स्त्री बहुत पुत्रों की माँ और पतिव्रता होती है; १६ वीं रात्रि का पुत्र विद्वान्, श्रेष्ठ, सत्यवादी, जितेन्द्रिय और समस्त प्राणियों के लिये शरण देनेवाला होता है।'[1] इस विश्वास का युक्तियुक्त कारण यह था कि ऋतुकाल की विकृति के अधिक पश्चात् का गर्भाधान श्रेष्ठतर और अधिक गुणसम्पन्न माना जाता था।

गर्भाधान की रात्रि-संख्या के अनुसार ही सन्तति का लिङ्ग निश्चित माना जाता था। यहाँ तक कि पुरुष-सन्तति के लिये सम और स्त्री-सन्तान के लिये विषम रात्रि चुनी जाती थी।[2] सन्तति के लिङ्ग के लिये शुक्र और रज की निष्पत्ति की मात्रा उत्तरदायी मानी जाती थी।[3] विशिष्ट लिङ्ग की सन्तति की प्राप्ति में माता-पिता की अभिलाषा ही नियामक कारण थी।

मास की कुछ तिथियाँ गर्भाधान के लिये निषिद्ध थीं। ८ वीं, १४ वीं, १५ वीं, ३० वीं और सम्पूर्ण पर्व विशेषतया छोड़ दिये गये थे।[4] उपर्युक्त नियमों को पालन करनेवाला द्विज गृहस्थ सदा ब्रह्मचारी ही माना जाता था। विष्णुपुराण[5] इन रात्रियों को निन्दित बताता है और उसके अनुसार इन रात्रियों में अपनी पत्नियों के समीप जानेवाले व्यक्ति नरकगामी होते हैं। मनु[6] ने ११ वें और

---

(१) व्यास, वी. मि. सं. भाग १ में उद्धृत।

(२) युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु। म. स्मृति, ३. ४८।

(३) पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥ वही, ३. ४९।

(४) पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया।
म. स्मृ. ३. ४५; याज्ञ. स्मृ. १. ७९।

(५) पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसंक्रान्तिरेव च।
तैलस्त्रीमांसभोगी पर्वस्वेतेषु यः पुमान्।
विण्मूत्रभोजनं नाम नरकं प्रतिपद्यते॥
विष्णुपुराण वी. मि. सं. भाग १ में उद्धृत।

(६) तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ताः दश रात्रयः॥ म. स्मृ., ३. ४७।

१३ वें दिन का भी निषेध किया है। ये दिन धार्मिक कृत्यों के हेतु निश्चित थे अतः इनमें सहवास वर्जित था। किन्तु दूसरे भी कारण हो सकते हैं जिनसे कि ये रात्रियाँ निषिद्ध थीं। प्राचीन हिन्दू ज्योतिष और नक्षत्रविद्या से पूर्णतया परिचित थे। जब वे सूर्य और चन्द्रमा के मार्ग निश्चित कर सकते थे, तो उन्हें यह भी ज्ञात रहा होगा कि विभिन्न तिथियों पर उनका सङ्गम (योग) विभिन्न-विभिन्न विकृतियाँ उत्पन्न कर देता है। यह भौतिक भूगोल का सामान्य ज्ञान है कि चन्द्रमा के आकर्षण के कारण और जल-तत्वों की वृद्धि के कारण पृथ्वी की भौतिक दशा पर्व-तिथियों पर विकृत हो जाती है और फलतः प्राणि-जगत् का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। इसलिये इस विचार की मान्यता आवश्यक समझी गई कि गर्भाधान जैसा मुख्य कर्म उन तिथियों में न किया जाए। बहुत संभव है कि ज्योतिषियों के इस अनुभव को धर्मशास्त्रों में उस समय स्थान मिला हो जब कि ज्योतिष-विद्या विकसित हो चुकी थी।

६. बहुपत्नीक गृहस्थ

गर्भाधान से सम्बन्धित दूसरा प्रश्न यह था कि बहुपत्नीवान् अपनी पत्नियों के पास उस समय जब कि वे एक साथ ही ऋतुकाल में हैं, कैसे पहुँचे ? यह प्रश्न गृह्यसूत्रों, धर्मशास्त्रों तथा अधिकतर स्मृतियों में नहीं उठाया गया है। बहुत प्राचीन काल में बहुपत्नीत्व सामान्य प्रथा नहीं रही होगी। जब आर्य व्यवस्थित ढंग से रहने लगे और विलासी जीवन व्यतीत करने लगे तो अनेक पत्नियों का एक साथ रखना एक सामान्य रीति हो गई और इसे महत्ता का प्रतीक समझा जाने लगा। मध्ययुग में विशेषतया राजपरिवारों में बहुपत्नीत्व अति प्रचलित हो गया। इसलिये जब यह स्थिति हो गई तो सपत्नियों के संघर्ष को हटाने के लिये शास्त्रकारों ने कुछ विधान बनाना आवश्यक समझा। मध्ययुगीन स्मृतिकार देवल[1] का मत है कि ऐसी दशा में पति पत्नियों के पास वर्ण-क्रम के अनुसार जाय या उनके कोई सन्तति न हो तो विवाह के ज्यैष्ठ्य के अनुसार जाय।

---

(१) यौगपद्ये तु तीर्थानां विप्रादिक्रमशो व्रजेत्।
रक्षणार्थमपुत्राणां ग्रहणक्रमशोऽपि वा॥ देवल, वी. मि. सं भाग १ में उद्धृत।

७. कर्ता

दूसरी समस्या यह थी कि इस संस्कार को कौन करे ? उत्तरवर्ती धर्मशास्त्रकार इस प्रश्न का समाधान नहीं करते क्योंकि उनके अनुसार पति के अतिरिक्त इस संस्कार को दूसरा नहीं कर सकता था। प्राचीन लेखकों ने इस प्रश्न को उठाया है। प्रायः पति ही स्वभावतः संस्कारकर्ता था। किन्तु उसकी अनुपस्थिति में प्रतिनिधित्व भी विहित था। प्राचीन काल में नियोग-प्रथा प्रचलित थी, क्योंकि परिवार और मृत पूर्वजों के लौकिक तथा पारमार्थिक लाभ के लिये किसी भी प्रकार सन्तति का होना आवश्यक था। वैदिक साहित्य में हमें ऐसे प्रसंग मिलते हैं जहाँ कि एक विधवा अपने देवर को पति के लिये सन्तति उत्पन्न करने के लिये आमन्त्रित करती है[1]। मनु[2] तथा अन्य स्मृतियाँ विधवा, नपुंसक की स्त्री, या अयुक्त पति की पत्नी को देवर, सगोत्र या ब्राह्मण से सन्तति प्राप्त करने की अनुमति प्रदान करती हैं; यद्यपि अन्यत्र वे इस विचार से असहमति भी प्रकट करती हैं[3]। महाभारत[4] में भीष्म सत्यवती से अपनी वधुओं में पुत्र उत्पन्न करने के लिये ब्राह्मण को बुलाने के लिये कहते हैं और इस रीति के गुणों का वर्णन करते हैं। याज्ञवल्क्य[5] भी प्रतिनिधित्व की आज्ञा प्रदान करते हैं, 'वृद्धों की आज्ञा से मृत पति का भाई उसकी पत्नी के साथ ऋतुकाल में अपने शरीर पर घी मल कर सहवास करे। उसके न होने पर सगोत्र या सपिण्ड ऐसा करे।' एक अन्य स्मृति में उल्लेख है कि 'गर्भाधान संस्कारों का पिता सर्वोत्तम कर्ता है

---

(१) को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ।
ऋ. वे. १०. ४०. २।

(२) देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ म. स्मृ. ९. ५९।

(३) वही ९. ६६–६८।

(४) बीजार्थं ब्राह्मणः कश्चिद्धनेनोपनिमन्त्र्यताम्। महाभारत, वी. मि. सं. भाग, १, पृ. १६५ पर उद्धृत।

(५) अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया।
सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋतावियात् ॥ या. स्मृति, १. ६८।

किन्तु उसकी अनुपस्थिति में या तो उसी कुल का कोई व्यक्ति अथवा किसी अन्य कुल का मित्र इन संस्कारों को करे[1]।'

कालान्तर में जब कि पारिवारिक पवित्रतासम्बन्धी विचार परिवर्तित हो गये और सन्तति-प्राप्ति गृहस्थ का आवश्यक कर्तव्य नहीं रह गया तो पति के प्रतिनिधि उपेक्षित होने लगे और अन्त में निषिद्ध। यहाँ तक कि मनुस्मृति में नियोग को 'पशुधर्म' बताया गया और प्रतिनिधित्व का विरोध किया गया है[2]। परवर्ती स्मृतियाँ प्रतिनिधित्व का गर्भाधान के अतिरिक्त संस्कारों में विधान करती हैं। आश्वलायनस्मृति[3] में विधान है कि 'यदि पति मृत, जाति से च्युत या गृहस्थी को छोड़ चुका हो या विदेश चला गया हो तो उसी गोत्र का बड़ा व्यक्ति पुंसवन आदि संस्कारों को करे।' कौटिल्य के समय तो विधवा से सन्तति उत्पन्न करना नियम के विरुद्ध था। आदित्य[4] और ब्रह्मपुराण[5] दोनों में नियोग भी कलिवर्ज्य की सूची में से एक है। इस समय तो केवल पति ही गर्भाधान-संस्कार का अधिकारी माना जाता है।

८. गर्भ अथवा क्षेत्र-संस्कार

मध्यकालीन निबन्धों में इस प्रश्न पर भी विवेचन हुआ है कि गर्भाधान गर्भ-संस्कार है या क्षेत्र-संस्कार। इस विषय में दो सम्प्रदाय थे। पहले का मत था कि यह गर्भ या भ्रूण का संस्कार था और इसके तर्क मनु[6] और

(१) गर्भाधानादिसंस्कर्ता पिता श्रेष्ठतमः स्मृतः।
अभावे स्वकुलीनः स्याद् बान्धवो वाऽन्यगोत्रजः॥ वी. मि. सं. में उद्धृत।

(२) अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः। म. स्मृ. ९. ६६।

(३) पत्यौ मृते वा पतिते संन्यस्ते वा विदेशगे।
तद्गोत्रजेन श्रेष्ठेन कार्याः पुंसवनादयः॥
वी. मि. सं. भाग, १ पृ. १६५ पर उद्धृत।

(४) विधवायां प्रजोत्पत्तौ देवरस्य नियोजनम्। ना. स्मृ. पृ. २६२ पर उद्धृत।

(५) वही, पृष्ठ २६१।

(६) निषेकादिः श्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः। म. स्मृ. २. १६।

याज्ञवल्क्य[1] पर आधारित थे जिनका मत था कि 'द्विज के गर्भाधान से अग्निदाह पर्यन्त समस्त संस्कार समंत्र किये जाने चाहियें।' गौतम धर्मसूत्र[2] में उल्लेख है कि पुरुष के ४० संस्कार होने चाहियें। दूसरे सम्प्रदाय के अनुसार गर्भाधान क्षेत्र-संस्कार या स्त्री की शुद्धि था। वे इन प्रमाणों से अपने मत की पुष्टि करते हैं: 'विधि-विधान से स्त्री के साथ एक बार सहवास करने के उपरान्त भविष्य में स्त्री के पास साधारणतया (बिना किसी विधान के) जाना चाहिये।' पत्नी की जननेन्द्रिय का स्पर्श करते हुए पुरुष 'विष्णुर्योनिम्' इसका उच्चारण करे। बिना गर्भाधान के स्त्री में उत्पन्न बच्चा अशुचि होता है[3]।' उनका यह भी मत था कि यह संस्कार प्रथम गर्भधारण के समय किया जाय,[4] क्योंकि एक बार पवित्र हुआ क्षेत्र भविष्य के प्रत्येक गर्भ को पवित्र बनाता है। वस्तुतः आरम्भ में गर्भाधान गर्भसंस्कार ही था और दूसरे मत में तो संस्कार को सरल और समाप्त करने की प्रवृत्ति है जो अवश्य ही आगे चलकर उत्पन्न हुई।

९. पवित्र और आवश्यक कर्तव्य

ऋतुकाल में पत्नी से सहवास करना प्रत्येक विवाहित व्यक्ति का पवित्र एवं अनिवार्य कर्तव्य माना जाता था। मनु का आदेश है कि[5] 'अपनी पत्नी के प्रति सच्चा रहते हुए पुरुष प्रत्येक ऋतु में उसके समीप जाए।' पराशर[6] न केवल ऐसा आदेश ही देते हैं अपितु ऐसा न करनेवाले को पाप का भागी भी बताते हैं। 'स्वास्थ्य ठीक रहते हुए भी जो व्यक्ति ऋतुकाल में पत्नी के समीप नहीं जाता, वह भ्रूणहत्या का दोषी होता है।' ऋतुकाल में पवित्र स्त्री का भी पति के

---

(१) निषेकाद्याश्श्मशानान्तास्तेषां वै मंत्रतः क्रियाः॥ या. स्मृ. १. १०।

(२) ८. २४।

(३) विष्णुर्योनि-जपेत्सूक्तं योनिं स्पृष्ट्वा त्रिभिर्व्रती।
गर्भाधानस्याकरणादस्यां जातस्तु दुष्यति॥
वी. मि. सं. भाग १ पृष्ठ १५७ पर अज्ञातकर्तृक उद्धरण।

(४) ऋतुमत्यां प्राजापत्यमृतौ प्रथमे।

(५) ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा। म. स्मृ. ३. ४५।

(६) ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति।
घोरायां ब्रह्महत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥ पा. स्मृ. ४. १५।

समीप पहुँचने का समान कर्तव्य था। पराशर[1] कहते हैं 'स्नान के उपरान्त पति के समीप न जानेवाली स्त्री पुनर्जन्म में शूकरी होती है।' यम[2] और भी आगे बढ़ उसके लिये दण्डविधान करते हैं: 'उसे भ्रूणहत्या का दोषी घोषित कर ग्राम के मध्य छोड़ देना चाहिये।'

उपर्युक्त अनिवार्यता उस प्राचीन समाज का चित्रण करती है जब कि बहुत सी सन्तति परिवार के लिये आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से बड़े महत्त्वकी थी। आर्य लोग भारत में अपने उत्कर्ष-काल में अपनी जाति के विस्तार के लिए उत्सुक थे। अतः वे देवों से कम से कम दस पुत्रों की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते थे। प्राचीन काल में परिवार के विस्तार की कोई चिन्ता न थी। इसके अतिरिक्त अधिक से अधिक सन्तति होना धार्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ माना जाता था। जितनी अधिक सन्तान होगी उतने ही अधिक श्राद्ध आदि से पूर्वज स्वर्ग में सन्तुष्ट होंगे। पितृ-ऋण केवल सन्तति से ही चुकाया जा सकता था और परिवार का नाश एक पाप समझा जाता था। इन्हीं परिस्थितियों के कारण गर्भाधान अनिवार्य संस्कार बन गया।

१०. अपवाद

शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक आधार पर कुछ अपवाद भी मान्य थे। 'उस स्त्री के समीप न पहुँचने में पाप का कोई डर नहीं है जो बहुत वृद्धा हो, वन्ध्या हो, दुश्चरित्रा हो, जिसे आर्तव न होता हो, जो अल्पायु की कन्या हो या अनेकों पुत्रों की माँ हो[3]।' विष्णुपुराण के अनुसार उस स्त्री के

---

(१) ऋतुस्नाता तु या नारी भर्तारं नानुमन्यते।
सा मृता तु भवेन्नारी शूकरी च पुनः पुनः॥ वही ४. १४।

(२) ऋतुस्नाता तु या भार्या भर्तारं नोपगच्छति।
सा ग्राममध्ये विख्याप्य भ्रूणघ्नीं (तु) परित्यजेत्॥
वी. मि. सं भाग १, पृ. १६२ पर उद्धृत।

(३) वृद्धां वन्ध्यामसद्वृत्तां मृतापत्यामपुष्पिणीम्।
कन्यां च बहुपुत्रां च वर्जयन् मुच्यते भयात्॥
मदनरत्न, गदाधर द्वारा पा. गृ. सू. १. ११-७ पर उद्धृत।

९. पवित्र और आवश्यक कर्तव्य
१०. अपवाद

समीप नहीं जाना चाहिये 'जिसने स्नान न किया हो, जो पीड़ित हो, जो आर्तवावस्था में हो, जो प्रशंसनीया न हो, जो क्रुद्ध हो, जो बुरा सोचती हो··· जो उदार न हो, जो किसी अन्य पुरुष का चिन्तन कर रही हो, जिसे उत्कण्ठा न हो···जो भूखी हो या अत्यधिक भोजन किये हो[1]।'

समयानुसार हिन्दुओं के सामाजिक और राजनीतिक विचार बदल गये। जब आर्य पूरे देश में फैल गये तथा उनका आधिपत्य स्थापित हो गया और उनकी संख्या बढ़ गई तो परिवार के सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्यों के लिये प्रत्येक गृहस्थ को दश पुत्रों की आवश्यकता न रह गई। बहुत पुत्रों के तर्पण से स्वर्ग भोगने की कल्पना भी व्यक्ति के नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन पर आधारित मुक्ति की कल्पना से कम महत्त्वपूर्ण हो गई। इसलिये प्रतिमास पत्नी से सहवास की अनिवार्यता शिथिल हो गई और अन्त में समाप्त हो गई। यह बन्धन उन्हीं के लिये था जो सन्ततिहीन थे। एक पुत्र की उत्पत्ति के पश्चात् यह वैकल्पिक हो गया। 'एक पुत्र होने तक पुरुष स्त्री से प्रतिमास सहवास करे। दश पुत्रों के लिये वैदिक प्रार्थना केवल स्तुतिमात्र है।[2] मनु का कथन है 'अकेले पहले पुत्र से ही व्यक्ति पुत्री (पुत्रवाला) हो जाता है और पितृ-ऋण चुका देता है। जिसकी उत्पत्ति से व्यक्ति पूर्वजों के ऋण से मुक्त हो जाता है, परम आनन्द पाता है वही अकेला धर्म से उत्पन्न पुत्र है, शेष तो

---

(१) नास्नातां तां स्त्रियं गच्छेन्नातुरां न रजस्वलाम्।
नाप्रशस्तां न कुपितां नानिष्टां न च गुर्विणीम्॥
नादक्षिणां नान्यकामां नाकामां नान्ययोषितम्।
क्षुत्क्षामां नातिभुक्तां वा स्वयं चैभिर्गुणैर्युतः॥
विष्णुपुराण, हरिहर द्वारा पा. गृ. सू. १. ११. ७ पर उद्धृत।

(२) ऋतुकालाभिगामी स्याद्यावत्पुत्रोऽभिजायते।
दशास्यां पुत्रानाधेहि इति प्रशंसार्था श्रुतिः॥
कूर्मपुराण, सं. चं. आह्निक प्रकरण १ में उद्धृत।

लिप्सा से उत्पन्न होते हैं।[1] अब हिन्दू समाज में अधिक बच्चों के लिये कोई उत्कट इच्छा नहीं है।

११. महत्त्व

सांस्कृतिक दृष्टिकोण से गर्भाधान संस्कार का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हम न तो उस आदिम मनुष्य को देखते हैं जो सन्तति को देखकर आश्चर्य प्रकट करता था और उसकी प्राप्ति के लिये सदा देवताओं की सहायता खोजता फिरता था और न गर्भधारण, बिना सन्तति की इच्छा के ही कोई आकस्मिक घटना थी। यहाँ हम उन व्यक्तियों को पाते हैं जो अपनी स्त्री के समीप, सन्तति-उत्पत्ति-रूप एक निश्चित उद्देश्य को लेकर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सन्तान की उत्पत्ति के लिये एक पूर्व-नियत रात्रि में निश्चित प्रकार से ऐसी धार्मिक पवित्रता को लेकर जाते थे जो भावी सन्तान को निर्मल करती थी।

---

(१) ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः।
पितॄणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति॥
यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते।
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः॥

म. स्मृ. ९.१०६. १०७।

द्वितीय परिच्छेद

पुंसवन

१. शब्द का अर्थ

गर्भ-धारण का निश्चय हो जाने के पश्चात् गर्भस्थ शिशु को पुंसवन नामक संस्कार के द्वारा अभिषिक्त किया जाता था। पुंसवन का अभिप्राय सामान्यतः उस कर्म से था जिसके अनुष्ठान से 'पुं=पुमान् (पुरुष) सन्तति का जन्म हो'।[1] इस अवसर पर पठित तथा गीत ऋचाओं में पुमान् अथवा पुत्र का उल्लेख किया गया है तथा वे पुत्र-जन्म का अनुमोदन करती हैं।[2] पुत्र को जन्म देने-वाली माता की प्रशंसा की जाती थी तथा समाज में उसे सम्मानित स्थान प्राप्त था। यह परम्परा उस युग से चली आती थी जब युद्ध के लिये पुरुषों की अधिक आवश्यकता होती थी और प्रत्येक युद्ध के बाद पुरुष-संख्या में कमी आ जाती थी। यदि संतति स्त्री भी हो तो आशा की जाती थी कि वह पुरुष संतान को आगे चलकर जन्म देगी।

२. वैदिक काल

अथर्ववेद तथा सामवेद मन्त्र-ब्राह्मण[3] में पुमान् (पुरुष) सन्तति की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ उपलब्ध होती हैं। पति पत्नी के निकट प्रार्थना करता है:'जिस प्रकार धनुष पर बाण का सन्धान किया जाता है, उसी प्रकार तेरी योनि (गर्भाशय) में पुत्र को जन्म देने वाले गर्भ (पुमान् गर्भः) का आधान हो। दस मास व्यतीत होने पर तेरे गर्भ से वीर पुत्र का जन्म हो। तू पुरुष को,

---

(१) पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमीरितम्।
शौनक, वीरमित्रोदय संस्कार-प्रकाश, भा. १. पृ. १६६ पर उद्धृत।

(२) पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननुजायताम्।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान्॥ अ. वे. ३. २३. ३. ३।

(३) १. ४. ८-९।

पुत्र को जन्म दे, उसके पश्चात् पुनः पुंसन्तति का प्रसव हो। तू पुत्रों की माता बन, उन पुत्रों की जो उत्पन्न हो चुके हैं, तथा जिनका तू भविष्य में प्रसव करेगी' आदि[1]। यह अज्ञात है कि इस अवसर पर अनुष्ठान किये जाने वाले कर्म का यथार्थ स्वरूप क्या था। किन्तु उपर्युक्त ऋचाएँ इस तथ्य की साक्षी हैं कि किसी न किसी प्रकार का कृत्य इन प्रार्थनाओं के साथ सम्पन्न किया जाता था। इन मन्त्रों में इस कृत्य को प्राजापत्य कहा गया है—'मैं प्राजापत्य (प्रजापति-सम्बन्धी संस्कार) करता हूँ आदि'[2]। गर्भिणी स्त्री को किसी प्रकार की औषधीय वनस्पति भी इस मन्त्र के साथ दी जाती थी—'जिन वीरुधों (पौधों) का द्यौ पिता है, पृथ्वी माता है तथा समुद्र मूल है; वे दिव्य ओषधियाँ पुत्र की प्राप्ति में (पुत्रविद्याय) तेरी सहायता करें'[3]। इस प्रकार इस परवर्ती संस्कार के प्रमुख तत्त्व वैदिक काल में ही प्राप्त होने लगते हैं। किन्तु इस संस्कार के विविध पार्श्वों की नियामक विधियों का उल्लेख वेदों में नहीं मिलता।

३. सूत्रयुग

गृह्यसूत्रों के युग में पुंसवन-संस्कार गर्भ-धारण के पश्चात् तीसरे अथवा चौथे मास में या उसके भी पश्चात् उस समय सम्पन्न किया जाता था जब चन्द्र किसी पुरुष नक्षत्र, विशेषतः तिष्य में संक्रमण कर जाता था[4]। गर्भिणी स्त्री को उस दिन उपवास करना पड़ता था। स्नान के पश्चात् वह नये वस्त्र पहनती थी। तब रात्रि में वट-वृक्ष की छाल को कूट कर और उसका रस निकाल कर स्त्री की नाक के दाहिने रन्ध्र में 'हिरण्यगर्भ' आदि शब्दों से आरम्भ होने वाली ऋचाओं के साथ छोड़ा जाता था[5]। कतिपय गृह्यसूत्रों के अनुसार उपर्युक्त मन्त्रों के साथ कुशकण्टक तथा सोमलता भी कूटी जाती थी[6]। यदि पिता यह

(१) आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।
आवीरोऽत्र जायताम् पुत्रस्ते दशमासस्य॥ वही, ३. २३।
(२) कृणोमि ते प्राजापत्यम्। वही।
(३) यासां द्यौः पिता पृथ्वी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवी प्रावन्त्वोषधः॥ वही, ३.२३.६।
(४) पा. गृ. सू. १. १४. २; बौ. गृ. सू. १. ९. १।
(५) पा. गृ. सू. १ १४. ३। (६) वही, १. १४. ४।

चाहता कि उसका पुत्र वीर्यवान् तथा बलवान् हो तो एक जलपात्र स्त्री के अङ्क में रख देता तथा उसके उदर का स्पर्श करता हुआ 'सुपर्णोऽसि' आदि मन्त्र का उच्चारण करता था।[1]

४. परवर्ती नियम और विचार

धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में संस्कार के कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में किसी विशिष्ट नवीन विधि का विधान नहीं किया गया है। प्रयोग और पद्धतियाँ पूर्णतः उन वैदिक चरणों के गृह्यसूत्रों पर आधारित हैं, जिनका उनमें अनुसरण किया गया है। किन्तु उनमें मातृ-पूजा तथा आभ्युदयिक श्राद्ध, इन दो नवीन कृत्यों का उल्लेख मिलता है।[2]

५. उचित काल

स्मृतियों में संस्कार के अनुष्ठान के लिए उचित समय का विचार किया गया है। मनु तथा याज्ञवल्क्य[3] के अनुसार गर्भाशय में गर्भ के गतिशील होने के पूर्व यह संस्कार सम्पन्न करना चाहिए। शङ्ख भी इस विषय में उनका अनुसरण करते हैं।[4] बृहस्पति के अनुसार गर्भ के स्पन्दनशील होने के पश्चात् ही इस कृत्य के लिए उचित काल होता है।[5] जातुकर्ण्य[6] तथा शौनक[7] का मत है कि गर्भ-धारण के स्पष्ट हो जाने पर उसके तीसरे मास में यह संस्कार करना चाहिये।

संस्कार के अनुष्ठान का समय गर्भ के द्वितीय से अष्टम मास तक माना जाता था। इसका कारण यह था कि विभिन्न स्त्रियों में गर्भ-धारण के चिह्न विभिन्न काल में व्यक्त होते हैं। कुलाचार या पारिवारिक प्रथाएँ भी इस वैविध्य के लिए उत्तरदायी थीं। इन कालों में बृहस्पति इस प्रकार भेद स्थापित करते हैं—'प्रथम गर्भ में यह संस्कार तीसरे मास में करना चाहिए। किन्तु उस स्त्री के विषय में जो इसके पूर्व भी सन्तति का प्रजनन कर चुकी हो, यह

(१) वही, १. १४. ५। (२) प्रायः समस्त पद्धतियों में।

(३) गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरा। याज्ञ. स्मृ. १. ११

(४) शङ्खस्मृति, २. १।

(५) सवनं स्पन्दिते शिशौ। वी. मि. सं. भा. १, पृ. १६६ पर उद्धृत।

(६) वही। (७) वही।

कृत्य गर्भ के चौथे, छठे अथवा आठवें मास में भी सम्पन्न किया जा सकता है'।[1] परवर्ती गर्भों की अपेक्षा पहली बार गर्भ-धारण होने पर उसके चिह्न कुछ पूर्व ही स्पष्ट हो जाते हैं। इसी कारण द्वितीयादि गर्भों में अपेक्षाकृत परवर्ती काल विहित किया गया है।

६. क्या पुंसवन प्रत्येक गर्भ-धारण में किया जाता था ?

स्मृतियों में इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है कि यह संस्कार प्रत्येक गर्भ-धारण में सम्पन्न करना चाहिए अथवा नहीं। शौनक के अनुसार यह कृत्य प्रत्येक गर्भ-धारण के पश्चात् करना चाहिए, क्योंकि स्पर्श करने तथा ओषधि-सेवन से गर्भ पवित्र व शुद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस संस्कार के अवसर पर उच्चारित तथा पठित मन्त्रों के प्रभाव से व्यक्ति में विगत जन्मों को स्मरण करने की क्षमता का सञ्चार होता है[2]। याज्ञवल्क्य-स्मृति पर विज्ञानेश्वर प्रणीत मिताक्षरा टीका में इस संस्कार की उपेक्षा की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। वहाँ कहा गया है : 'ये पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन के कृत्य क्षेत्र-संस्कार हैं, अतः इनका सम्पादन एक ही बार करना चाहिए, प्रत्येक गर्भ-धारण में नहीं[3]।'

७. विधि-विधान तथा उसका महत्त्व

संस्कार का महत्त्व उसके प्रमुख तत्त्वों में निहित था। यह कृत्य उस समय किया जाता था जब चन्द्रमा किसी पुरुष नक्षत्र में होता था। यह काल पुंसन्तति के जन्म में सहायक माना जाता था। गर्भिणी स्त्री की घ्राणेन्द्रिय के दाहिने रन्ध्र में वटवृक्ष का रस गर्भपात के निरोध तथा पुंसन्तति के जन्म के निश्चय के उद्देश्य से छोड़ा जाता था। सुश्रुत के मतानुसार वटवृक्ष में ऐसे गुण हैं जिनमें गर्भ-कालीन समस्त कष्टों—तिल्ली का आधिक्य, दाह आदि—के

(१) तृतीये मासि कर्तव्य गृष्टेरन्यत्र शोभनम्।
गृष्टेश्चतुर्थे मासे तु षष्ठे मासेऽथवाऽष्टमे ॥
वी॰ मि॰ स॰ भा॰ १, पृ॰ १६८ पर उद्धृत।

(२) वही।

(३) एते च पुंसवन-सीमन्तोन्नयने क्षेत्रसंस्कारकर्मत्वात् सकृदेव कार्ये न प्रतिगर्भम्। याज्ञ॰ स्मृ॰ १. ११ पर मिताक्षरा।

निवारण की क्षमता है[1]। उनका कथन है कि 'पुत्र की प्राप्ति के लिए सुलक्षणा, वटशुङ्ग, सहदेवी तथा विश्वदेवी, इनमें से अन्यतम ओषधि को दूध के साथ घोंटकर उसके रस की तीन या चार बूँद गर्भिणी स्त्री के दक्षिण नासापुट में छोड़ना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं स्त्री उसे थूककर फेंक तो नहीं देती[2]।' नासा-रन्ध्रों में ओषधि का छोड़ना हिन्दूसमाज में प्रचलित एक सामान्य प्रथा है। अतः यह स्पष्ट है कि वह कृत्य जिसमें इसका विधान किया गया है, निस्सन्देह जनता के आयुर्वेदिक अनुभव पर आधारित था। स्त्री के अङ्क में जल से भरा पात्र रखना एक प्रतीकात्मक कृत्य था। जल से पूर्ण पात्र भावी शिशु में जीवन तथा उत्साह के आविर्भाव का सूचक था। गर्भाशय के स्पर्श के माध्यम से भावी माता द्वारा पूर्ण सावधानी बरतने की आवश्यकता पर बल दिया जाता था, जिससे गर्भस्थ शिशु स्वस्थ तथा सबल हो और गर्भपात की सम्भावना न रहे। 'सुपर्णोऽसि' आदि मन्त्रों द्वारा सुन्दर तथा स्वस्थ शिशु के जन्म की कामना व्यक्त की जाती थी।

---

(१) सुश्रुत, सूत्रस्थान, अध्याय, ३८।

(२) लब्धगर्भायाश्चैतेष्वहः सुलक्ष्मणा-वटशुङ्ग-सहदेवी-विश्वदेवानामन्यतमं क्षीरेणाभिषुत्य त्रींश्चतुरो वा बिन्दून् दद्याद्दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै न च तन्निष्ठीवेत्। वही; शरीरस्थान, अध्याय २।

तृतीय परिच्छेद

सीमन्तोन्नयन

१. सीमन्तोन्नयन का अर्थ

गर्भ का तीसरा संस्कार सीमन्तोन्नयन[1] था। इस नाम का कारण यह है कि इस कृत्य में गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमन्त) को ऊपर उठाया (उन्नयन) जाता था।

२. प्रयोजन

इस संस्कार का प्रयोजन आंशिक रूप से विश्वासमूलक तथा व्यावहारिक था। जनसाधारण का यह विश्वास था कि गर्भिणी को अमङ्गलकारी शक्तियाँ ग्रस्त कर सकती हैं। अतः उनके निराकरण के लिए विशेष संस्कार की आवश्यकता प्रतीत हुई। आश्वलायन-स्मृति में इस विश्वास का उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि 'रुधिराशन में तत्पर कतिपय दुष्ट (सुदुर्भगा) राक्षसियाँ पत्नी के प्रथम गर्भ को खाने के लिए आती हैं। पति को चाहिए कि उनके निरसन के लिए वह श्री का आवाहन करे, यतः उसके द्वारा रक्षित स्त्री को उक्त राक्षसियाँ मुक्त कर देती हैं। ये अलक्ष्य क्रूर मांसभक्षी प्रथम गर्भ-काल में स्त्री पर अधिकार जमा लेती हैं तथा उसे पीड़ा पहुँचाती हैं। अतः उनके भगाने के लिए ही सीमन्तोन्नयन नामक संस्कार का विधान किया गया है।'[2] संस्कार

---

(१) सीमन्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत् सीमन्तोन्नयनमिति कर्मनामधेयम्।
वी. मि. सं. भा. १, पृ. १७२।

(२) पत्न्याः प्रथमजं गर्भमत्तुकामाः सुदुर्भगाः।
आयान्ति काश्चिद्राक्षस्यो रुधिराशनतत्पराः॥
तासां निरसनार्थाय श्रियमावाहयेत् पतिः।
सीमन्तकरणी लक्ष्मीस्तामावहति मन्त्रतः॥
(आश्वलायनाचार्य, वी. मि. सं. भा. १, पृ १७२ पर उद्धृत)

का धार्मिक प्रयोजन माता के ऐश्वर्य तथा अनुत्पन्न शिशु के लिए दीर्घायुष्य की प्राप्ति था, जैसा कि इस अवसर पर पठित ऋचाओं से प्रकट होता है। इस कृत्य के प्रचलन के लिए हिन्दुओं का मनोविज्ञान-विषयक ज्ञान भी दायी था। गर्भ के पाँचवें मास से भावी शिशु का मानसिक निर्माण आरम्भ हो जाता है।[1] इस कारण गर्भिणी स्त्री के लिए इस प्रक्रिया को सुविधाजनक बनाने के उद्देश्य से अधिकतम सावधानी रखना आवश्यक था, जिससे गर्भ को किसी भी प्रकार का शारीरिक आघात न पहुँचे। उसके केशों को सँवार कर प्रतीकात्मक रूप से इस तथ्य पर बल दिया जाता था। इस संस्कार का एक अन्य प्रयोजन था गर्भिणी स्त्री को यथासम्भव हर्षित तथा उल्लसित रखना। 'राका' (पूर्णिमा की रात्रि) तथा 'सुपेषा' (सुडौल अवयवों वाली) आदि शब्दों द्वारा उसका सम्बोधन और स्वयं पति द्वारा उसके केशों को सजाना तथा सँवारना आदि साधनों को इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए उपयोग में लाया जाता था।[2]

३. प्राचीन इतिहास

इस संस्कार का एकमात्र प्राक्-सूत्र उल्लेख मन्त्र-ब्राह्मण में उपलब्ध होता है—'जिस प्रकार प्रजापति महान् ऐश्वर्य के लिए (सौभगाय) अदिति की सीमा निर्धारित करता है, उसी प्रकार मैं सन्तति के दीर्घायुष्य के लिए इसके केशों को विभक्त करता या सँवारता (सीमानं नयामि) हूँ[3]।' इसी ब्राह्मण में उदुम्बर वृक्ष तथा बहुप्रजा स्त्री के मध्य उपमा का उल्लेख है। 'यह वृक्ष उर्वर है, इसी के समान यह भी फलवती हो,'[4] आदि। गृह्यसूत्रों में इस संस्कार का

---

(१) पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति, षष्ठे बुद्धिः।

सुश्रुत, शरीरस्थान, अध्याय ३३।

(२) बौ. गृ. सू. १. १०. ७।

(३) ओम्। येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि॥

सामवेद-मन्त्रब्राह्मण, १. ५. २।

(४) पा. गृ. सू. १. १५. ६।

विस्तृत वर्णन किया गया है, तथा उनमें इसके सभी अंगों का पूर्ण विकास हो चुका था।

४. संस्कार का विहित काल

✓गृह्यसूत्रों, स्मृतियों तथा ज्योतिष-विषयक ग्रन्थों में इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि इस संस्कार के लिए उचित काल क्या है। गृह्यसूत्र प्रायः गर्भ के चतुर्थ अथवा पञ्चम मास को उचित ठहराते हैं।[1] स्मृतियों के अनुसार यह काल छठे अथवा आठवें मास तक हो सकता है।[2] ज्योतिष-ग्रन्थों के अनुसार यह काल शिशु के जन्म तक कभी भी हो सकता है। कतिपय लेखक इस विषय में और भी अधिक उदार हैं। उनके अनुसार यदि सीमन्तोन्नयन के पूर्व ही सन्तान का प्रसव हो जाए तो शिशु के जन्म के पश्चात् उसे माता के अङ्क अथवा किसी पेटक में रखकर यह संस्कार सम्पन्न किया जा सकता था।[3] परवर्ती कालों का विधान सूचित करता है कि संस्कार का मूल आशय लुप्त होता जा रहा था तथा वह निर्जीव प्रथा के रूप में परिणत हो गया था।

५. शुद्धि का प्रयोजन

धर्मशास्त्रकारों में इस विषय पर मतभेद है कि यह संस्कार प्रत्येक गर्भावस्था में करना चाहिए अथवा केवल प्रथम गर्भधारण में। आश्वलायन, बौधायन, आपस्तम्ब तथा पारस्कर के मतानुसार यह एक क्षेत्र संस्कार है अतः केवल एक

---

(१) प्रथमगर्भाच्चतुर्थे मासि सीमन्तोन्नयनम्।
बौ. गृ. सू. १ १०. १; आ. गृ. सू. १. १४. १, आप. गृ. सू. १४ १।

(२) षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्त.। याज्ञ. स्मृ. १. ११।

(३) स्त्री यदकृतसीमन्ता प्रसूयेत कदाचन।
गृहीतपुत्रा विधिवत् पुनः संस्कारमर्हति॥
सत्यव्रत—तदानीं पेटके गर्भं स्थाप्य संस्कारमाचरेत्।

गार्ग्य, वी. मि. सं. भा. १, पृ. १७७ पर उद्धृत

ही बार करना चाहिए। हारीत तथा देवल का भी यही मत है[1]। 'सीमन्तोन्नयन द्वारा स्त्री के एक बार पवित्र होने पर उसके द्वारा प्रसूत प्रत्येक शिशु स्वतः अभिषिक्त हो जाता है[2]।' किन्तु अन्य आचार्यों के अनुसार यह एक गर्भ-संस्कार है तथा प्रत्येक गर्भ में इसे सम्पन्न करना चाहिए[3]। इस मतभेद का कारण यह तथ्य था कि गर्भस्थ शिशु माता के माध्यम से अभिषिक्त किया जाता था। अतः प्रथम सम्प्रदाय भावी माता के मन पर अनुत्पन्न शिशु की रक्षा का भाव एक ही बार अङ्कित कर देना पर्याप्त समझता था, या अमङ्गलकारी शक्तियों से उसकी रक्षा एक ही बार पूर्णतः निश्चित कर दी जाती थी।

६. विधि

यह संस्कार भी किसी पुरुष नक्षत्र के समय सम्पन्न किया जाता था। भावी माता को उस दिन उपवास करना होता था। वास्तविक विधि-विधान मातृपूजा, नान्दिश्राद्ध तथा प्राजापत्य आहुति[4] आदि प्रास्ताविक कृत्यों के साथ आरम्भ होता था। तब पत्नी अग्नि के पश्चिम में एक कोमल आसन पर आसीन हो जाती थी और पति उदुम्बर के समसंख्यक कच्चे फलों के गुच्छों, दर्भ अथवा कुश के तीन गुच्छों, तीन श्वेत चिह्नवाले साही के काँटे, वीरतर काष्ठ की यष्टि तथा पूर्ण तकुवे के साथ 'भूर्भुवः स्वः' आदि मन्त्र अथवा महाव्याहृतियों में से प्रत्येक का उच्चारण करता हुआ पत्नी के सीमन्तों को ऊपर की ओर (यथा शिर के अग्रभाग से आरम्भ कर) सँवारता था।[5] इस विधि के लिए बौधायन दो अन्य मन्त्रों का भी उल्लेख करते हैं।[6]

भूत-प्रेतों को आतङ्कित करने के उद्देश्य से पत्नी के ऊपर एक लाल चिह्न बनाने की परवर्ती प्रथा भी प्रचलित थी।[7] सीमन्तों को सँवारने के पश्चात् पति

---

(१) आ. गृ. सू. १. १४; बौ. गृ. सू. १. १०; पा. गृ. सू. १. १५. १।
(२) वी. मि. सं. भा. १, पृ. १७६ पर उद्धृत।
(३) केचिद् गर्भस्य संस्कारात् प्रतिगर्भं प्रयुज्यते। विष्णु, वही।
(४) पारस्कर-गृह्यपद्धति।
(५) पा. गृ. सू. १. १५. ४।
(६) १. १०. ७-८।
(७) व. गृ. सू. १६।

तीवटे हुए सूत्रों के धागे के साथ उदुम्बर की शाखा पत्नी के गले के चारों ओर बाँध देता था। इस अवसर पर वह एक मन्त्र पढ़ता था जो इस प्रकार है 'यह वृक्ष ऊर्जस्वी है, तू भी इसी वृक्ष के समान ऊर्जस्वती तथा फलवती हो'।[1] उदुम्बर वृक्ष की शाखा के स्थान पर बौधायन जौ के पौधे का विधान करते हैं।[2] यह कृत्य स्त्री की उर्वरता तथा फलवत्ता का प्रतीक था। यह भाव उदुम्बर वृक्ष की शाखा तथा जौ के पौधों के असंख्य फलों द्वारा परामृष्ट था। इसके पश्चात् पति पत्नी से चावल की राशि, तिल तथा घी की ओर देखने तथा सन्तति, पशु, सौभाग्य और अपने (पति के) दीर्घायुष्य की कामना के लिए कहता था।[3] कतिपय धर्मशास्त्रियों के मतानुसार गर्भिणी स्त्री के आस-पास बैठी हुई ब्राह्मण स्त्रियों को इन माङ्गल्य-सूचक वाक्यों का उच्चारण करना चाहिए- 'तू वीर पुत्रों की माता हो, तू जीव-पुत्रा हो,' आदि, आदि।[4] तब पति दो वंशी-वादकों से कहता था, 'ओ राजन्, गान करो, क्या इससे भी अधिकवीर्यवान् कोई कहीं पर है[5]?' इस अवसर पर गान के लिए अधोलिखित मन्त्र विहित था—'एक सोम ही हमारा राजा है। ओ नदि! तेरी सीमा अविच्छिन्न है। ये मनुष्यजन तेरे तट पर निवास करें'।[6] इन प्रार्थनाओं से ऐसा ज्ञात होता है कि आर्य अभी तक एक योद्धा जाति थे, जो नित्य नवीन विजय के लिए उत्सुक थे तथा इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए वे वीर्यवान् पुत्रों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते थे। उपर्युक्त वचन एक प्रकार का वीररस से ओतप्रोत गीत था जिसका प्रयोजन वीरतापूर्ण वातावरण प्रस्तुत करना तथा उसके द्वारा अनुत्पन्न शिशु को प्रभावित करना था। ब्राह्मण-भोजन के साथ संस्कार समाप्त होता

---

(१) अयमूर्ज्जस्वितो वृक्ष ऊर्ज्जीव फलिनी भव। पा गृ. सू. १. १५. ६।

(२) १ १०. ८।

(३) किं पश्यसि। प्रजा पशून् सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः।
सामवेद मन्त्रब्राह्मण, १ ५ १-५; गो गृ सू. २. ७. १० १२, वही।

(४) वीरसूर्जीवपत्नीति ब्राह्मण्यो मङ्गल्यानि वाग्भिरुपासीरन् सूर्जीव पत्नीति।
२, ७।

(५) पा. गृ. सू. १. १५. ७।

(६) वही।

था। संस्कार के पश्चात् गगन-मण्डल में तारों के प्रकट होने तक भाविनी माता मौन रखती थी। तब वह एक गौ के बछड़े का स्पर्श करती थी, जो पुंसन्तति का प्रतीक माना जाता था। व्याहृतियों—भूर्भुवः स्वः—का उच्चारण कर वह मौन समाप्त कर देती थी।[1]

७. गर्भिणी स्त्री के धर्म

स्मृतिकार तथा धर्मशास्त्री इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे कि गर्भिणी स्त्री की प्रत्येक गति-विधि का प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। अतः प्राग्-जन्म संस्कारों के सम्बन्ध में विधियों तथा नियमों का उल्लेख करने के पश्चात् उन्होंने गर्भिणी स्त्री तथा उसके पति के कर्तव्यों तथा धर्मों का भी विधान किया है। वे कर्तव्य तीन भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। प्रथम वर्ग इस विश्वासपूर्ण धारणा पर आधारित है कि अमङ्गलकारी शक्तियाँ गर्भिणी स्त्री को क्षति पहुँचाती हैं, अतः उनसे उसकी रक्षा करना आवश्यक है। द्वितीय वर्ग में ऐसे नियमों का समावेश है जो गर्भिणी स्त्री के लिए अति शारीरिक श्रम का निषेध करते हैं। तीसरे वर्ग में समाविष्ट नियमों का प्रयोजन माता के मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा करना था।

प्रथम वर्ग केसम्बन्ध में मार्कण्डेय पुराण में इस प्रकार उल्लेख मिलता है—'अनेक दुष्ट तथा सुदुर्भग पिशाचिनियाँ तथा राक्षसियाँ गर्भिणी स्त्री के गर्भ के भक्षण और रुधिर-पान के लिए तत्पर रहती हैं। अतः शुचिता, पवित्र मन्त्रों के लेखन तथा सुन्दर व सुरभित माला आदि के धारण द्वारा सदा उसकी रक्षा करनी चाहिए। हे ब्राह्मण, विरूप तथा विकृति प्रायः वृक्षों, गड्ढों, 'टीलों तथा समुद्रों में निवास करते हैं। वे सदा गर्भिणी स्त्री की ताक में रहते हैं। अतः उसे इन स्थानों पर नहीं जाना चाहिए। विघ्न गर्भहन्ता का पुत्र है और मेहिनी उसकी दुहिता है। विघ्न गर्भाशय में प्रवेश कर गर्भ-पिण्ड को खा लेता है। मेहिनी उसमें प्रवेश कर गर्भपात करा देती है। मेहिनी की दुष्टता के परिणामस्वरूप ही स्त्री के गर्भाशय से सर्प, मेंढक, मगर-मच्छ आदि जन्म लेते हैं।[2]

---

(१) गो. गृ. सू. २. ७।

(२) मार्कण्डेय पुराण, वी. मि. सं. भा. १, पृ. १८० पर उद्धृत।

पुनश्च, पद्म-पुराण में गर्भिणी स्त्री के कर्तव्यों के विषय में कश्यप और अदिति के मध्य एक सुदीर्घ संलाप का उल्लेख है। कश्यप अदिति से कहते हैं: 'उसे अशुचि स्थान, गदा और चूने-बालू आदि पर नहीं बैठना चाहिए। उसे नदी में स्नान नहीं करना चाहिए......और न ही किसी उजड़े घर में जाना चाहिए। उसे दीमक आदि के बनाये हुए (मिट्टी के) ढेरों पर नहीं बैठना चाहिए। उसे मानसिक अशान्ति से सदा अपना बचाव करना चाहिए। उसे नखों, कोयलों तथा राख से भूमि पर चिह्न आदि नहीं बनाना चाहिए। उसे सदा निद्रालु व अलस नहीं रहना चाहिए। श्रम का उसे यथासम्भव वर्जन करना चाहिए। उसे रूक्ष पदार्थ, कोयला, राख तथा सिर की अस्थियों का स्पर्श नहीं करना चाहिए। उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके अङ्गों को किसी प्रकार की क्षति न हो। उसे अपने केश खुले न छोड़ने चाहिएँ और न उसे कभी अशुचि रहना चाहिए। सोते समय उत्तर की ओर सिर नहीं करना चाहिए और न अपने अङ्गों को ही खुला छोड़ना चाहिए। उसे अशान्त नहीं रहना चाहिए और न अपने पैर ही भीगे रखने चाहिएँ। न उसे अमङ्गल्य शब्दों का व्यवहार करना चाहिए और न बहुत अधिक हँसना ही चाहिए। वह सदा उत्तम कार्यों में व्यस्त रहे और सास तथा श्वसुर की पूजा करती तथा पति की मङ्गल-कामना करती हुई प्रसन्न रहे'।[1] मत्स्यपुराण में कश्यप अपनी द्वितीय पत्नी दिति से कहते हैं: 'सुवर्णे! गर्भिणी स्त्री को गोधूलि के समय भोजन नहीं करना चाहिए। उसे वृक्ष के नीचे न तो जाना और न ठहरना ही चाहिए। वह सदा सोती ही न रहे। वह वृक्षों की छाया से दूर रहे। उसे औषध से मिश्रित उष्ण जल से स्नान करना चाहिए। उसे सुरक्षित तथा अलंकृत रहना चाहिए, देवताओं की पूजा करना और भिक्षा-दान आदि देना चाहिए। वह महीने के तीसरे दिन पार्वती-व्रतों का पालन करे। उसे हाथी-घोड़े आदि पर सवारी नहीं करनी चाहिए और पहाड़ अथवा अनेक मंजिलों वाले भवन पर नहीं चढ़ना चाहिए। उसे व्यायाम, भ्रमण, बैलगाड़ी में यात्रा, दुःख-शोक, रक्त-स्राव, मुर्गे की तरह बैठने, श्रम, दिवा-शयन, रात्रि-जागरण, खासा, खट्टा, उष्ण, रूक्ष तथा भारी भोजन, इन सभी का वर्जन करना चाहिए।

(१) पद्म-पुराण, ५. ७. ४१-४७।

उपर्युक्त नियमों का पालन करने वाली स्त्री का पुत्र दीर्घ-जीवी तथा प्रतिमा-सम्पन्न होता है; अन्यथा निस्सन्देह गर्भ-पात हो जाता है[1]।'

स्मृतियों, कारिकाओं तथा प्रयोगों में उक्त नियमों की पुनरावृत्ति मात्र की गई है। वाराह-स्मृति गर्भ-काल में सामिष भोजन का निषेध करती है।[2]

८. पति के कर्तव्य

पति का प्रथम व सबसे प्रधान कर्तव्य था अपनी गर्भिणी पत्नी की इच्छाओं की पूर्ति करना। याज्ञवल्क्य के मतानुसार 'गर्भिणी स्त्री की इच्छाओं (दौहद) की पूर्ति न करने से गर्भ दोषयुक्त हो जाता है। उसमें वैरूप्य आ जाता है या वह गिर जाता है। अतः पति को अपनी गर्भिणी पत्नी का अभीष्ट प्रिय करना चाहिए'।[3] आश्वलायन-स्मृति में पति के अन्य कर्तव्यों का भी उल्लेख पाया जाता है। उसके अनुसार 'गर्भ के छठे मास के पश्चात् पति को केशों का कटवाना (वपन), मैथुन, तीर्थ-यात्रा तथा श्राद्ध का वर्जन करना चाहिए[4]।' कलि-विधान क्षौर, शव-यात्रा में सम्मिलित होने, नख काटने, युद्ध में भाग लेने, नया घर बनवाने (वास्तुकरण), बहुत दूर जाने, परिवार में विवाह तथा समुद्र के जल में स्नान का निषेध करता है, क्योंकि इनसे गर्भिणी स्त्री के पति की आयु का क्षय होता है।[5] एक अन्य स्मृति पेड़ काटने को भी निषिद्ध ठहराती है।[6]

---

(१) मत्स्य-पुराण, वीरमित्रोदय, भा. १, पृ १८० पर उद्धृत।

(२) सामिषमशनं यत्नात् प्रमदा परिवर्जयेदतः प्रभृति।
वराह, हरिहर द्वारा पा. गृ. सू. १. १५ पर उद्धृत।

(३) दौहृदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्।
वैरूप्यं निधनं वाऽपि तस्मात् कार्यं प्रियं स्त्रियः॥ या. स्मृ. ३. ८९।

(४) वपनं मैथुनं तीर्थं वर्जयेद् गर्भिणीपतिः।
श्राद्धं च सप्तमान्मासादूर्ध्वं चान्यत्र वेदवित्॥
आश्वलायन, हरिहर द्वारा पा गृ. सू. १. १५ पर उद्धृत।

(५) क्षौरं शवानुगमनं नखकृन्तनं च युद्धं च वास्तुकरणं त्वतिदूरयानम्।
उद्वाहमम्बुधिजलं स्पृशनोपयोगमायुःक्षयो भवति गर्भिणिकापतीनाम्॥

(६) सिन्धुस्नानं द्रुमच्छेदं वपनं प्रेतवाहनम्।
वी. मि. सं. भा. १, पृ. १८४ पर उद्धृत।

९. आयुर्वेदिक आधार

गर्भिणी स्त्री के स्वास्थ्य के लिए विहित नियम हिन्दुओं के आयुर्वेदिक ज्ञान पर आधारित हैं। सुश्रुत में प्रायः ऐसे ही नियमों का विधान किया गया है। 'गर्भ धारण के समय से उसे मैथुन, अति-श्रम, दिवा-शयन, रात्रि-जागरण, वाहन पर चढ़ने, भय, मुर्गे की तरह बैठने, रेचन, रक्त बाहर निकालने तथा *मल-मूत्र के असामयिक स्थगन आदि का वर्जन करना चाहिए।*'[1] इस प्रकार गर्भिणी स्त्री के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा के लिए प्रत्येक सम्भव सावधानी बरती जाती थी।

---

(१) सुश्रुत, शारीरस्थान, अध्याय ११।

षष्ठ अध्याय

बाल्यावस्था के संस्कार

प्रथम परिच्छेद

जातकर्म

१. प्रादुर्भाव

आदिम मानव के लिए शिशु का जन्म एक अत्यन्त प्रभावकारी तथा मर्मस्पर्शी दृश्य था। इसकी विस्मय-जनकता से अभिभूत होकर उसने इसका श्रेय किसी अतिमानव शक्ति को प्रदान किया। ऐसे अवसर पर अनेक सङ्कटों तथा विपदाओं की आशङ्का भी उसे हुई, जिनकी शान्ति के लिए अनेक निषेध, व्रत तथा विधि-विधान अस्तित्व में आये।[1] स्त्री और नवजात शिशु की प्रसव-जन्य अशौचकालीन असहायता के लिए सहज सावधानी तथा सुरक्षा अपेक्षित थी, जिसके फलस्वरूप जातकर्म से सम्बद्ध अनेक विधि-विधान आवश्यक हुये। अति प्राचीन काल में भी साधारण मानव-हृदय सद्यःप्रसूता माता के दृश्य को देख कर स्वभावतः विचलित हो गया होगा। अपनी पत्नी के सहवास का सुखोभोग करनेवाले पुरुष के लिए इस कठिन समय में प्राकृत तथा अतिप्राकृत सङ्कटों से स्त्री तथा शिशु की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार जातकर्म संस्कार का प्राकृतिक आधार प्रसव-जन्य शारीरिक आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों में निहित था। आदिम मानव का विस्मय, प्राकृत तथा अतिप्राकृत शक्तियों से भय और चिन्ता का भाव कालक्रम से माता और शिशु की रक्षा तथा शुद्धि के सांस्कृतिक उपायों तथा आकांक्षाओं से संयुक्त हो गया।

२. इतिहास

ऋग्वेद में 'जन्मन्' शब्द का प्रयोग दो स्थानों पर मिलता है।[2] किन्तु वहाँ इसका व्यवहार पुत्र आदि सम्बन्धियों के अर्थ में हुआ है।[3] इसके अतिरिक्त

---

(१) तुलनीय, गार्डनर और जेवन्स, ग्रीक एण्टिक्विटीज़, पृ. २९९।

(२) २.१५.२; २.२६.३।

(३) जनेन विश, जन्मना पुत्रैः।

जिस सन्दर्भ में यह शब्द व्यवहृत हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि उन मन्त्रों का, जिनमें यह शब्द आता है, जातकर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु अथर्ववेद के एक सम्पूर्ण सूक्त में सरल तथा सुरक्षित प्रसव के लिए प्रार्थनाएँ तथा उपचार वर्णित हैं। वह सूक्त इस प्रकार है: 'हे पूषन्! प्रसूति के इस अवसर पर विद्वान् और श्रेष्ठ (अर्यमा) होता तेरा यजन करे। नारी भलीभाँति शिशु का प्रसव करे। स्त्री के शरीर के सन्धिस्थान (पर्वाणि) प्रसव करने के लिए विशेष रूप से ढीले हो जाएँ। द्युलोक की चार दिशाएँ हैं तथा जिस प्रकार भूमि को चारों दिशाएँ घेरे हुए हैं, उसी प्रकार गर्भ भी चारों ओर से घिरा हुआ है। देव उसे गति देते हैं। वे ही प्रसूति के लिए उसे गर्भाशय से बाहर करें। सुख-प्रसविनी स्त्री जब अपने गर्भ को बाहर करती है, तो हम उसकी योनि को विस्तृत करते हैं। हे सूषणे (सुख-प्रसविनी स्त्री)! तू अपने अङ्गों को श्लथ छोड़ दे। हे विष्कले! तू गर्भ को नीचे की ओर प्रेरित कर। जरायु न तो मांस में, न वसा में और न मज्जा में ही सटा (आहत) रहता है। वह अङ्ग के अभ्यन्तर को स्पर्श करनेवाला, जल में उतरानेवाले शैवल या सेवार के समान जरायु कुत्ते आदि के खाने के लिए बाहर आवे। मैं तेरे मेहन अथवा मूत्रद्वार को भिन्न करता हूँ तथा योनि को विस्तृत करता हूँ। योनि-मार्ग में स्थित दो नाड़ियों को पृथक् करता हूँ, माता और पुत्र को पृथक् करता हूँ तथा कुमार अथवा शिशु को जरायु से पृथक् करता हूँ। जिस प्रकार वायु, मन तथा पक्षी बाहर निकल कर उड़ने लगते हैं, उसी प्रकार दस मास पर्यन्त गर्भ में रहनेवाले शिशु (दशमास्य)! तू जरायु के साथ बाहर आ जा, जरायु भी बाहर आवे'।[1] इस सूक्त में प्रार्थना तथा अभिचार दोनों का समावेश है। पत्नी की इस प्रसवकालीन गम्भीर वेदना को देखकर पति का हृदय स्वभावतः ही विचलित हो जाता था। वह उसे इस पीड़ा से यथाशीघ्र मुक्त करने के लिए व्यग्र था। माता की इस प्रसव-वेदना को सरल तथा सह्य कर देने के लिए देवताओं की सहायता और अभिचारिकों की शुभेच्छा के लिए प्रार्थना की जाती थी। गृह्यसूत्रों में सोष्यन्ती-कर्म की विधि में शीघ्र प्रसव के लिए उक्त सूक्त के तृतीय मन्त्र का विनियोग किया गया है। किन्तु प्रार्थनाओं तथा चमत्कारों

(१) अ. वे १. ११. कौशिक इसे सुरक्षित प्रसव के लिए एक दीर्घ तथा जटिल कृत्य के आरम्भ में उद्धृत करते हैं।

के अतिरिक्त उनसे संयुक्त विधि-विधानों के विषय में विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता।

गृह्यसूत्रों में इस संस्कार का विशद वर्णन किया गया है, किन्तु वहाँ भी इसके विधि-विधान विशुद्ध रूप से धार्मिक हैं, और लौकिक तथा विश्वासमूलक तत्त्वों को समुचित स्थान नहीं दिया गया है। धर्मसूत्रों और स्मृतियों में इसका विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है। किन्तु मध्ययुगीन पद्धतियों में मातृगृह का प्रबन्ध, उसमें प्रवेश के समय का विधि-विधान तथा प्रसव करनेवाली माता के निकट वाञ्छनीय व्यक्तियों की उपस्थिति और कतिपय अन्य विश्वासों तथा अनुष्ठानों का वर्णन पाया जाता है, जिनसे पूर्ववर्ती ग्रन्थ अपरिचित हैं।

३. आरम्भिक सावधानी तथा विधि-विधान

परवर्ती ग्रन्थों से विदित होता है कि प्रसव के लिए तैयारियाँ शिशु के जन्म के एक मास पूर्व ही आरम्भ हो जाती थीं। 'जिस मास में प्रसव आसन्न हो, उसके पूर्व ही विशेष प्रबन्ध करना चाहिए[1]।' इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम कार्य था घर में उपयुक्त कमरे का चुनाव। 'किसी शुभ दिन तथा अनुकूल राशि में अनुकूल दिशा में चुने हुए कमरे को बुध-गण सूतिका-भवन कहते हैं[2]।' वसिष्ठ सूतिका-भवन के चुनाव को स्वेच्छा पर न छोड़कर उसके लिए नैर्ऋत्य दिशा का विधान करते हैं[3]: 'उस रम्य भवन का निर्माण वास्तु-विद्याविशारदों द्वारा समतल भूमि में किया जाना चाहिए। उसका द्वार पूर्व अथवा उत्तर दिशा में होना चाहिए। वह सुदृढ़ तथा शुभ होना चाहिए[4]।' शङ्ख और लिखित के अनुसार

---

(१) आसन्नप्रसवे मासि कुर्याच्चैव विशेषतः।
रत्नाकर, वी. मि. सं. भा. १, पृ. १८४ पर उद्धृत।

(२) वारेऽनुकूले राशौ तु दिने दोषविवर्जिते।
स्वानुकूलदिशं प्रोक्तं सूतिकाभवनं बुधैः॥
गर्ग, वी. मि. सं. भा. १. पृ. १८४ पर उद्धृत।

(३) नैर्ऋत्यां सूतिकागृहम्। वही।

(४) सुभूमौ निर्मितं रम्यं वास्तुविद्याविशारदैः।
प्राग्द्वारमुत्तरद्वारमथवा सुदृढं शुभम्॥ विष्णुधर्मोत्तर, वही।

अन्य वाद्यों की ध्वनि तथा शुभसूचक मन्त्रों के पाठ के बीच देवताओं, ब्राह्मणों तथा गायों की पूजा कर भावी माता प्रसव के एक या दो दिन पूर्व सभी ओर से सुरक्षित सूतिका-गृह में प्रवेश करती थी। अनेक अन्य स्त्रियाँ भी, जो शिशुओं को जन्म दे चुकी हों और कठिनाइयों के सहन की क्षमता रखती हों, तथा जिनका व्यवहार हर्षकर हो और जो विश्वस्त हों, उसकेसाथ रहती थीं। वे आसन्नप्रसवा को प्रसन्न रखतीं तथा उपयुक्त लेप और भोजन व निवास-विषयक नियमों के द्वारा उसे सुरक्षित प्रसव के लिए प्रस्तुत करती थीं। वास्तविक प्रसव का समय आने पर वे उसे पीठ के बल लिटा देती थीं।[1] तब दुष्ट शक्तियों से घर की रक्षा के लिए कतिपय विधि-विधान किये जाते थे। भूत प्रेतों के निवारण के लिए वह स्थान अभिषिक्षित किया जाता था। कोई ब्राह्मण घर की सभी ग्रन्थियों या बन्धनों को ढीला कर देता था।[2] यह माता के गर्भाशय में जरायु को ढीला करने का प्रतीक था। घर में अग्नि, जल, यष्टि, दीपक, शस्त्र, दण्ड और सरसों के बीज रखे जाते थे।[3] 'तूर्यन्ति' पौधे भी माता के समक्ष रखे जाते थे।[4] यह विश्वास प्रचलित था कि उनके अभाव में घोर पिशिताशन अथवा मांस-भक्षी भूत प्रेत नवजात शिशु का वध कर देंगे।[5] वास्तविक जातकर्म के पूर्व अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र की शक्ति से प्रसव को शीघ्रतर करने के लिए शोष्यन्ती-कर्म नामक कृत्य किया जाता था: 'जरायु न तो मांस में, न वसा और न मज्जा में ही सटा है। वह जल में उतरानेवाले सेवार के समान जरायु कुत्तों के भोजन के लिए बाहर आ जावे।' जन्म के समय में ही शिशु की मृत्यु हो जाने पर विशेष कृत्य विहित थे। सुरक्षित प्रसव तथा शिशु के जीवित उत्पन्न होने पर बर्तनों को गरम करने तथा माता और

---

(१) वही।

(२) इससे मिलती-जुलती एक प्रथा जर्मनी में पायी जाती है, जिसमें लोग घर के सभी द्वार तथा ताले खोल देते हैं।

(३) मार्कण्डेय-पुराण, वी. मि सं भा १, पृ. १८५ पर उद्धृत।

(४) आप. गृ. सू. १४. १४; हि. गृ. सू. २. २-८।

(५) सा जातहारिणी नाम सुघोरा पिशिताशना।
तस्मात् संरक्षणं कार्यं यत्नतः सूतिका-गृहे॥ मार्कण्डेयपुराण, वही।

शिशु को धूम से पवित्र करने के लिए कमरे में अग्नि प्रदीप्त की जाती थी[1]। कुछ दिनों तक यह अग्नि प्रदीप्त रखी जाती थी। विविध प्रकार के भूत-प्रेतों को दूर करने के लिए उपयुक्त मन्त्रों के साथ उसमें धान के कण तथा सरसों के बीजों की आहुति दी जाती थी। सूतिकाग्नि अशुद्ध मानी जाती थी और दसवें दिन, जब कि माता तथा शिशु की शुद्धि के पश्चात् गृह्य अग्नि का व्यवहार आरम्भ हो जाता था, यह शान्त कर दी जाती थी।

४. संस्कार सम्पन्न करने का समय

जातकर्म संस्कार नाभिवंधन के पूर्व सम्पन्न होता था।[2] प्रतीत होता है कि संस्कार के लिए मूलतः यही समय नियत था, किन्तु परवर्ती लेखकों के अनुसार किसी कारण उक्त समय बीत जाने पर जन्म से उत्पन्न अशौच के पश्चात् संस्कार किया जाता था और यदि मृत्यु के कारण होनेवाले अशौच के मध्य शिशु का जन्म होता तो अशौच की अवधि समाप्त होने तक जातकर्म स्थगित कर दिया जाता था।[3] परवर्ती काल में जन्म-कुण्डली बनाने के लिए जन्म के समय के विषय में विलक्षण सावधानी बरती जाती थी, क्योंकि यह शिशु के जीवन का एक निर्णायक तत्त्व माना जाता था। इसके पश्चात् पिता को शुभ-समाचार दिया जाता था। पुत्र अथवा पुत्री के जन्म पर विभिन्न भाव व्यक्त किये जाते थे, क्योंकि उन पर विभिन्न आशाओं की पूर्ति निर्भर थी। यह इच्छा की जाती थी कि प्रथम बार पुत्र का जन्म हो, क्योंकि उससे पिता पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है। किन्तु

---

(१) शां. गृ. सू. १. २५. ४; पा. गृ. सू. १. १६. २३; बौ. गृ. सू. १. ८। यूनानी कर्मकाण्ड में भी जल का शुद्धिकर प्रभाव स्वीकृत है। वहाँ शक्ति तथा गति के लिए शीघ्रतापूर्वक शिशु अग्नि के चारों ओर ले जाया जाता है।

(२) प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रतः प्राशनञ्चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्॥
वी. मि. सं. भा. १, पृ. १८७ पर उद्धृत।

(३) मृताशौचस्य मध्ये तु पुत्रजन्म यदा भवेत्।
अशौचापगमे कार्यं जातकर्म यथाविधि॥
स्मृति-संग्रह, गदाधर द्वारा पा. गृ. सू. पर उद्धृत।

एक बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए कन्या का जन्म भी कम पुण्यमय न था, क्योंकि विवाह में उसके दान से पिता को पुण्य प्राप्त होता है, ऐसी धारणा थी। इसके पश्चात् पिता पुत्र का मुख देखने के लिए पत्नी के निकट जाता था, क्योंकि नवजात पुत्र का मुख देखते ही पिता समस्त ऋणों से मुक्त हो जाता तथा अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।[1] पुत्र का मुख देखकर वह सवस्त्र स्नान कर वयोवृद्धों को आमन्त्रित करता तथा नान्दी-श्राद्ध[2] और जातकर्म संस्कार[3] सम्पन्न करता था। साधारण रूप से श्राद्ध एक अशुभ कृत्य है। किन्तु इस अवसर पर किया जानेवाला श्राद्ध शुभ व माङ्गलिक माना जाता था। इसका प्रयोजन पितरों का संमोदन करना था। हारीत लिखते हैं कि 'शिशु के जन्म के अवसर पर पितरों की प्रसन्नता से पुण्य होता है। अतः ब्राह्मणों को आमन्त्रित कर तिल तथा स्वर्णपूर्ण पात्रों से उनका श्राद्ध करना चाहिए[4]।' ब्रह्मपुराण भी पुत्रजन्म के अवसर पर नान्दी-श्राद्ध का विधान करता है[5]।'

५. विधि-विधान तथा उनका महत्त्व

(१) मेधाजनन: अब वास्तविक जातकर्म संस्कार आरम्भ होता था[6]। प्रथम कृत्य था मेधा-जनन। यह निम्नलिखित प्रकार से सम्पन्न होता था। पिता अपनी चौथी अंगुली और एक सोने की शलाका से शिशु को मधु और घृत अथवा केवल घी चटाता था। अन्य लेखकों के अनुसार दही, भात, जौ तथा काले बैल के श्वेत-कृष्ण और लाल बाल भी दिये जाते थे। साथ में इस मंत्र का उच्चारण किया

---

(१) ऋणमस्मिन् सन्नयति अमृतत्वञ्च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवितो मुखम्॥ व. स्मृ. १७. १.।

(२-३) जात कुमारं स्वं दृष्ट्वा स्नात्वाऽऽनीय गुरुन् पिता।
नान्दीश्राद्धावसाने तु जातकर्म समाचरेत्॥
ब्रह्म-पुराण, वी. मि. सं. भा. १, पृ. १८२ पर उद्धृत।

(४) जाते कुमारे पितॄणामामोदात् पुण्यम्, आदि। हारीत, वही।

(५) वही पृ. १९१।

(६) पा. गृ. सू. १. १६, गो. गृ. सू. १७; आ. गृ. सू. १. १५; शां. गृ. सू. १. २४; मा. गृ. सू. १. १७; हि. गृ. सू. २. ३; भा. गृ. सू. १. २४, बौ. गृ. सू. २. १।

जाता था : 'मैं तुझमें भूः निहित करता हूँ; भुवः निहित करता हूँ, स्वः निहित करता हूँ, भूः, भुवः, स्वः सभी तुझमें निहित करता हूँ।' मेधा-जनन शिशु के बौद्धिक विकास में, जिसे वे उसके प्रति अपना प्रथम कर्तव्य समझते थे, हिन्दुओं की प्रगाढ रुचि का सूचक है। इस अवसर पर उच्चरित व्याहृतियाँ बुद्धि की प्रतीक हैं। इनका पाठ गायत्री मन्त्र के साथ किया जाता था, जिसमें बुद्धि को प्रेरित करने की प्रार्थना की गई है। जो पदार्थ शिशु को खिलाये जाते थे, वे भी उसके मानसिक विकास में सहायक थे। सुश्रुत के अनुसार घी के गुण निम्नलिखित हैं: 'यह सौन्दर्य का जनक है, मेधा बढ़ानेवाला तथा मधुर है; यह योषापस्मार, शिरो-वेदना, मृगी, ज्वर, अपच तथा तिल्ली का निवारक है; यह पाचनशक्ति, स्मृति, बुद्धि, प्रज्ञा, तेज, मधुरध्वनि, वीर्य और आयु का वर्धक है[1]।' मधु तथा स्वर्ण के गुण भी शिशु के मानसिक विकास में समानरूप से सहायक हैं। गोभिल गृह्यसूत्र के अनुसार[2] शिशु के कान में 'तू वेद है' इस वाक्य का उच्चारण करते हुए शिशु का एक नाम रखा जाता था। यह गुह्य नाम था, जिसे केवल माता-पिता जानते थे। इस नाम को प्रकट नहीं किया जाता था, क्योंकि यह आशङ्का रहती थी कि उस नाम पर किसी अभिचार (जादू-टोना) का प्रयोग कर शत्रु शिशु को क्षति पहुँचा सकते हैं।

(२) आयुष्य : जातकर्म संस्कार का द्वितीय कृत्य था आयुष्य। शिशु की नाभि अथवा दाहिने कान के निकट पिता गुनगुनाता हुआ कहता था, 'अग्नि दीर्घजीवी है; वह वृक्षों में दीर्घजीवी है। मैं उस दीर्घ आयु से तुझे दीर्घायु करता हूँ। सोम दीर्घजीवी है; वह वनस्पतियों द्वारा दीर्घजीवी है, आदि। ब्रह्म दीर्घजीवी है; वह अमृतत्व के द्वारा दीर्घजीवी है, आदि। ऋषि दीर्घजीवी हैं; वे अपने ज्ञान के द्वारा दीर्घजीवी हैं आदि। यज्ञ दीर्घजीवी है; वह यज्ञिय अग्नि के द्वारा दीर्घजीवी है, आदि। समुद्र दीर्घजीवी है; वह नदियों द्वारा दीर्घजीवी है, आदि[3]।' इस प्रकार शिशु के समक्ष दीर्घायुष्य के सभी सम्भव उदाहरण प्रस्तुत किये जाते थे तथा विचारों के संयोग से यह विश्वास किया जाता था कि उक्त उदाहरणों के कथन से शिशु भी दीर्घायुष्य प्राप्त कर लेगा। दीर्घायुष्य

(१) शरीरस्थान, अध्याय ४५। (२) २. ७।
(३) पा. गृ. सू. १. १६. ६।

के लिए अन्य कृत्य भी किये जाते थे। यह सोचते हुए कि इससे शिशु की आयु बढ़कर तिगुनी हो जाएगी, पिता 'तिगुनी आयु' आदि मन्त्र का तीन बार उच्चारण करता था। यदि पिता यह चाहता कि पुत्र अपनी पूर्ण आयु पर्यन्त जीवित रहे, तो वह वातस्पर सूक्त के साथ उसका स्पर्श करता था। केवल अपनी एकाकी इच्छा से सन्तुष्ट न होकर पिता पाँच ब्राह्मणों को निमन्त्रित करता, उन्हें पाँच दिशाओं में आसीन कर उनसे शिशु पर श्वास-प्रश्वास छोड़ने की प्रार्थना करता था। ब्राह्मण निम्नलिखित प्रकार से शिशु में जीवन का सञ्चार करने में सहायता पहुँचाते थे। एक ब्राह्मण दक्षिण में कहता था, 'प्रतिश्वास'; दूसरा पश्चिम की ओर कहता था 'निश्वास'; एक ब्राह्मण उत्तर की ओर देखता हुआ कहता था 'बहिःश्वास' तथा एक ब्राह्मण ऊपर की ओर देखता हुआ कहता था, 'उच्छ्वास'[1], आदि। यदि पाँच ब्राह्मणों का सहयोग प्राप्त नहीं हो पाता था, तो पिता स्वयं शिशु के चारों ओर घूमकर उक्त शब्दों का उच्चारण करता था। श्वास जीवन का जनक समझा जाता था। अतः यह चमत्कारपूर्ण कृत्य शिशु के श्वास को सबल करने तथा उसका जीवन दीर्घतर करने के उद्देश्य से सम्पन्न किया जाता था।

उस भूमि को जहाँ शिशु का जन्म होता था, जन-साधारण शिशु के सुरक्षित प्रसव का कारण समझता था, अतः उसका आदर किया जाता था। पिता उसे कृतज्ञतापूर्ण धन्यवाद देता था : 'हे पृथ्वी, मैं तेरा हृदय जानता हूँ, वह हृदय जो आकाश में, जो चन्द्रमा में रहता है। मैं उसे जानता हूँ, वह मुझे जाने।' वह उसमें आगे प्रार्थना करता था : 'हम सौ शरद्-ऋतु देखें, हम सौ शरद्-ऋतु पर्यन्त सुनें[2]।'

(३) बल : इसके पश्चात् पिता शिशु के दृढ़, वीरतापूर्ण तथा शुद्ध जीवन के लिये प्रार्थना करता था। वह शिशु से कहता था, 'तू पत्थर (अश्मा) हो, तू परशु हो, तू अमृत स्वर्ण बन। तू यथार्थ में पुत्र नाम से आत्मा है; तू सौ शरद्-ऋतु पर्यन्त जीवित रह[3]।'

---

(१) पा. गृ. सू. १. १६. १०-१२।
(२) पा. गृ. सू. १. १६. १३।
(३) अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यममृतं भव। वही. १. १६. १४।

इसके पश्चात् कुल की आशाओं के केन्द्रभूत पुत्र को जन्म देने के लिए माता की स्तुति की जाती थी। उसके सम्मान में पति निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करता था : 'तू इडा है; तू मित्रावरुण की पुत्री है; तुझ वीर-माता ने वीर पुत्र को जन्म दिया। जिसने हम लोगों को वीर पुत्र प्रदान किया, वह तू वीरवती हो[1]।'

तब नाभि की गुण्डी पृथक् की जाती, शिशु को स्नान तथा माता का स्तन्य-पान कराया जाता था। निम्नलिखित मन्त्र के साथ पिता एक जलपूर्ण पात्र माता के सिर के निकट रखता था : 'हे जल (आपः), तुम देवताओं के साथ निरीक्षण करते हो। जिस प्रकार तुम देवों के साथ देखभाल करते हो, उसी प्रकार इस सूतिका-गृह में स्थित माता और उसके शिशु की देख-भाल करो।' जल भूत-प्रेतों का निवारक समझा जाता था। अतः माता को उसके संरक्षण में सौंप दिया जाता था। सूतिका-गृह के द्वार के निकट उस अग्नि की विधिवत् स्थापना कर, जो पत्नी के सूतिका-गृह के प्रवेश के समय से निरन्तर प्रदीप्त रखी जाती थी, पति उसमें प्रतिदिन प्रातः-सायं भूत-प्रेतों के निवारण के लिए धान के छिलकों से मिश्रित सरसों के बीजों की आहुति देता रहता था, जब तक कि वह प्रसव-शय्या को त्याग न देती थी। निम्नलिखित अभिचारपूर्ण वचनों का विनियोग किया जाता था : 'शुण्ड और मर्क, उपवीर और शौण्डिकेय, उलूखल और मलिम्लुच, द्रोणाश और च्यवन यहाँ से दूर हों, स्वाहा! अलिखत, अनिमिष, किम्वदन्त, उपश्रुति, हर्यक्ष, कुम्भिनशत्रु, पात्रपाणि, नृमणि, हन्त्रमुख, सर्षपारुण और च्यवन यहाँ से दूर हों, स्वाहा[2]!' उपर्युक्त नाम उन रोगों और विकारों के हैं, जो शिशु पर आक्रमण कर सकते हैं। आदिम मानव भूत-प्रेतों के रूप में उनकी धारणा कर उन्हें सम्बोधित करता था। यहाँ उनकी धारणा काल्पनिक किन्तु चित्रमय है, उसी प्रकार उनके प्रतीकार के उपाय भी आभिचारिक किन्तु उपयोगी थे।

---

(१) इडाऽसि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथः।
सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरदिति ॥ वही. १. १६. १५।

(२) वही. १६. १९।

यदि शिशु पर रोगवाही भूत-प्रेत कुमार आक्रमण करता था, तो पिता उसे एक जाल अथवा उत्तरीय से ढँक कर अपने अङ्क में ले लेता और इस प्रकार गुनगुनाता था : 'शिशुओं पर आक्रमण करनेवाले कुर्कुर, सुकुर्कुर, कुर्कुर, उसे मुक्त कर दो। हे सिसर, मैं तुम्हारे प्रति आदर व्यक्त करता हूँ आदि[1]।' इन वचनों का प्रयोजन सम्भावित भूत-प्रेतों का प्रतीकार करना था। संस्कार में पिता अपनी अन्तिम कामना इन शब्दों के साथ प्रकट करता था : 'जब हम उससे बोलते हैं और जब हम उसका स्पर्श करते हैं तो वह न तो पीड़ित ही हो और न कराहे, न तो अनम्र अथवा कठोर ही हो और न रुग्ण ही हो[2]।' यह शिशु के प्रति पिता की हार्दिक कामना थी।

संस्कार समाप्त होने पर ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा दी जाती थी और दान तथा भिक्षा का वितरण किया जाता था। ब्रह्म तथा आदित्य-पुराण में कहा गया है : 'पुत्र के जन्म होने पर द्विजाति के घर पर संस्कार को देखने के लिए देव और पितर आते हैं। अतः यह दिन शुभ तथा महत्त्वपूर्ण है। उस दिन स्वर्ण, भूमि, गौ, अश्व, छत्र, अज, माला, शय्या, आसन आदि का दान करना चाहिए[3]।' व्यास के अनुसार 'पुत्रजन्म की रात्रि में दिये हुए दान से अक्षय पुण्य होता है।[4]'

---

(१) वही. १. १६. २०।

(२) वही. १. १६. २१।

(३) वी. मि. सं. भा. १, पृ. १९९ पर उद्धृत।

(४) पुत्रजन्मनि यात्रायां शर्वर्यां दत्तमक्षयम्। व्यास, वही।

द्वितीय परिच्छेद

नाम-करण

१. नाम-करण का महत्त्व

जिस समय मनुष्य ने भाषा का विकास किया, उसी समय से वह अपने जीवन में दैनिक व्यवहार की वस्तुओं के नामकरण के लिए प्रयत्नशील रहा है। सामाजिक चेतना के विकास के साथ मनुष्यों का भी नाम-करण किया जाने लगा, क्योंकि व्यक्तियों के विशिष्ट तथा निश्चित नामों के बिना संस्कृत समाज के व्यवहार का सञ्चालन असम्भव था। हिन्दुओं ने अति प्राचीन काल में ही व्यक्तिगत नामों के महत्त्व का अनुभव किया तथा नामकरण की प्रथा को धार्मिक संस्कार में परिणत कर दिया। बृहस्पति कवित्वपूर्ण अतिशयोक्ति के साथ नामकरण की वाञ्छनीयता का उल्लेख इस प्रकार करते हैं : 'नाम अखिल व्यवहार का हेतु है, वह शुभावह तथा कर्मों में भाग्य का हेतु है। नाम से ही मनुष्य कीर्ति प्राप्त करता है, अतः नामकरण (कर्म) अत्यन्त प्रशस्त है'[1]।

२. उद्भव

नाम-करण का उद्भव एक भाषा-शास्त्रीय समस्या है, जो प्रकृत ग्रन्थ के क्षेत्र से परे है। हमारा यहाँ पर केवल व्यक्तियों के सांस्कारिक नामकरण से सम्बन्ध है। यह प्रायः दृष्टिगत होता है कि शिशु के नाम का चुनाव सामान्यतः धार्मिक भावनाओं से सम्बन्धित रहता है। बहुधा उस देवता के नाम पर ही बालक का नामकरण कर दिया जाता है, जो उसका रक्षक माना जाता है अथवा उसका नाम किसी सन्त-महात्मा के नाम पर रख दिया जाता है जिसके आशिष उसके

---

(१) नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म॥
बृहस्पति, वी. मि. सं. भा. १ पृ. २४१ पर उद्धृत।

लिये अभीष्ट होते हैं। लौकिक भाव भी नामों के निश्चय के लिये उत्तरदायी हैं। वे व्यक्ति के किसी विशिष्ट गुण की ओर सकेत करते हैं। किसी गुह्य समाज में प्रवेश करने पर भी दीक्षित व्यक्ति का नवीन नाम-करण किया जाता है[1]। पिता के नाम का स्वीकरण भी प्रचलित है, जो पारिवारिक सम्बन्ध तथा आत्मगौरव पर आधारित है। गुह्य नामों के ग्रहण की प्रथा भी उपलब्ध होती है। इसमें मनुष्य का व्यक्तित्व निहित रहता है, अतः यह शत्रुओं से गुप्त रखा जाता है। इस प्रकार व्यक्ति के नाम-करण की पृष्ठभूमि में अनेक प्रेरक तत्त्व निहित हैं।

३. वैदिक काल

'नामन्' शब्द संस्कृत साहित्य में प्रायः उपलब्ध होता है तथा भारतीय आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी इसका उल्लेख है[2]। पदार्थों तथा व्यक्तियों के नाम वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। सूत्रों तथा स्मृतियों में परामृष्ट अन्य विलक्षण नाम भी वैदिक तथा ब्राह्मण साहित्य में प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद गुह्य नाम को मान्यता प्रदान करता है,[3] तथा ऐतरेय[4] और शतपथ[5] ब्राह्मण इसका उल्लेख करते हैं। किन्तु सूत्रों में वर्णित नक्षत्र-नाम के आधार पर गुह्य नाम देने की प्रथा वैदिक साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। द्वितीय नाम का ग्रहण जीवन में सफलता तथा विशिष्ट स्थान की प्राप्ति के लिए किया जाता है[6]। दो नाम ग्रहण करने की प्रथा प्राचीन काल में व्यापक रूप से प्रचलित थी। एक नाम प्रचलित तथा द्वितीय नाम मातृक अथवा पैतृक होता था। उदाहरणार्थ काक्षीवन्त-औशिज[7] में प्रथम लोक-प्रचलित नाम है तथा द्वितीय माता के नाम 'उशिज' से निष्पन्न है। बृहदुक्थ वामनेय[8] में द्वितीय नाम 'वामनी' से निष्पन्न है। इस प्रकार के उदाहरणों में यह स्मरणीय है कि पैतृक सम्बन्ध आवश्यक रूप से प्रत्यक्ष नहीं होता था। किसी व्यक्ति का

---

(१) ऐच. वेब्स्टर, प्रिमिटिव सेक्रेड सोसाइटीज़, पृ. ४० तथा आगे।
(२) १०. ५५. २; ७१ १।
(३) वही.। (४) १. ३. ३।
(५) ६. ६. १. ३, ९; ३. ६. २. २४; ५. ४. ३. ७; बृ उप, ६. ४. ५।
(६) श. ब्रा. ३. ६. २४; ५. ३. ३. १४।
(७) पञ्च. ब्रा. १४. ११. १७। (८) वही, १४. ९. ३८।

नाम-करण सुदूर पूर्वज के नाम के आधार पर भी हो सकता था। कौशाम्बेय ('कौशाम्बी' से व्युत्पन्न) तथा गाङ्गेय ('गङ्गा' से व्युत्पन्न) आदि कतिपय स्थानीय नाम, जो धर्मशास्त्रों में विहित नहीं हैं, ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं[1]। इन आकस्मिक उल्लेखों के अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण[2] में नवजात शिशु के नामकरण संस्कार के विषय में एक विध्यात्मक नियम भी मिलता है : 'पुत्र के उत्पन्न होने पर उसका नाम रखना चाहिये।'

४. सूत्र तथा परवर्ती काल

ब्राह्मणों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्राक्-सूत्र काल में भी नामकरण की प्रथा प्रचलित थी किन्तु यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि कौन से विधि-विधान उससे सम्बद्ध थे। गोभिल के अतिरिक्त अन्य गृह्यसूत्र भी इस अवसर पर उच्चारण के लिये वैदिक ऋचाओं को उद्धृत नहीं करते, यद्यपि नाम के प्रकार आदि से सम्बन्धित नियमों का उल्लेख उनमें किया गया है। प्रतीत होता है कि आरम्भ में नाम-करण संस्कार की अपेक्षा एक लौकिक चलन था। किन्तु अति सामाजिक महत्त्व का अवसर होने के कारण परवर्ती काल में इसका समावेश संस्कारों में कर लिया गया। पद्धतियों में जाकर ही सामान्य आरम्भिक कृत्यों का विधान किया गया तथा 'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे' आदि वैदिक मन्त्र उच्चारण के लिये उद्धृत किया गया।

(अ) नाम-रचना

प्रथम प्रश्न जिस पर गृह्यसूत्रों तथा अन्य परवर्ती ग्रन्थों में विचार किया गया है, नाम-विधान से सम्बन्धित है। पारस्कर गृह्यसूत्र[3] के अनुसार नाम दो अथवा चार अक्षरों का होना चाहिये, वह व्यञ्जन से आरम्भ होना चाहिये, उसमें अर्धस्वर होना चाहिये तथा नाम का अन्त दीर्घ स्वर अथवा विसर्ग के साथ होना चाहिये। नाम में कृत् प्रत्यय का प्रयोग किया जा सकता है, तद्धित का नहीं। बैजवाप के मतानुसार[4] अक्षरों का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उनके

---

(१) वही, ८. ६. ८।

(२) तस्मात्पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्यात्। ६. १. ३. ९।

(३) १. १७. १।

(४) पिता नाम करोति एकाक्षरं द्यक्षरं त्र्यक्षरम् अपरिमिताक्षरं वा। वी. मि. सं. भा. १. पृ. २४१ पर उद्धृत।

अनुसार 'पिता को एकाक्षर, द्यक्षर, त्र्यक्षर अथवा अपरिमिताक्षर नाम रखना चाहिये।' किन्तु वसिष्ठ उक्त संख्या को दो अथवा चार अक्षरों तक सीमित कर देते हैं तथा लकारान्त और रेफान्त नामों का वर्जन करते हैं[1]। आश्वलायन गृह्यसूत्र अक्षरों की विभिन्न संख्याओं के साथ विभिन्न प्रकार के गुणों का योग करता है: 'प्रतिष्ठा अथवा कीर्ति के लिए इच्छुक व्यक्ति को द्यक्षर तथा ब्रह्मवर्चस-काम व्यक्ति को चतुरक्षर नाम रखना चाहिए[2]।' बालकों के लिए अक्षरों की सम संख्या विहित थी।

(आ) बालिका का नाम

बालिका के नाम-करण का आधार भिन्न ही था। बालिका का नाम अक्षरों की विषम संख्या वाला तथा आकारान्त होना चाहिए और उसमें तद्धित का प्रयोग करना चाहिए[3]। वैजवाप लिखता है: 'स्त्री का नाम त्र्यक्षर तथा ईकारान्त होना चाहिए[4]।' मनु स्त्रीनामों की अन्य विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार करते हैं: 'वह उच्चारण में सुखकर और सरल, सुनने में अक्रूर, विस्पष्टार्थ तथा मनोहर, मङ्गलसूचक, दीर्घवर्णान्त और आशीर्वाद-युक्त होना चाहिए[5]।' उनका 'नक्षत्र (ऋक्ष), वृक्ष, नदी, पर्वत, पक्षी, सर्प तथा सेवक के नामपर और भीषण नाम नहीं रखना चाहिए[6]।' मनु उक्त प्रकार के नामवाली कन्याओं से विवाह का निषेध करते हैं। इसका सर्वाधिक सम्भव कारण यह प्रतीत होता है कि इस प्रकार के नाम वन्य तथा पार्वत्य जनों में प्रचलित थे, जिनसे सभ्य लोग वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहते थे।

(इ) सामाजिक स्थिति एक निर्णायक तत्त्व

व्यक्ति की सामाजिक स्थिति भी उसके नाम-विधान में एक निर्णायक तत्त्व

---

(१) तद् द्यक्षरं चतुरक्षरं वा विवर्जयेदन्त्यलकाररेफम्। व. ध. सू. ४।

(२) द्यक्षरं प्रतिष्ठाकामश्चतुरक्षरं ब्रह्मवर्चसकाम'। १. १५. ५।

(३) अयुजाक्षरमाकारान्तं स्त्रियै तद्धितम्। पा. गृ. सू. १. १७. ३।

(४) त्र्यक्षरमीकारान्तं स्त्रिया'। वी. मि. सं. भा १, पृ. २४३ पर उद्धृत।

(५) स्त्रीणां च सुखमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मान्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्॥ म. स्मृ. २. ३३।

(६) वही ३. ९।

थी। मनु के अनुसार 'ब्राह्मण का नाम मङ्गलसूचक, क्षत्रिय का बलसूचक, वैश्य का धनसूचक तथा शूद्र का नाम जुगुप्सित अथवा कुत्सासूचक रखना चाहिए[1]।' उदाहरणार्थ, 'ब्राह्मण का नाम लक्ष्मीधर, क्षत्रिय का नाम युधिष्ठिर, वैश्य का महाधन तथा शूद्र का नाम नरदास होना चाहिए।' पुनश्च, 'ब्राह्मण का नाम सुख तथा आनन्द का सूचक होना चाहिए, क्षत्रिय का रक्षा तथा शासन की क्षमता का सूचक, वैश्य का पुष्टि तथा ऐश्वर्य का सूचक तथा शूद्र का नाम दास्य अथवा आज्ञाकारिता का व्यञ्जक होना चाहिए[2]।' विभिन्न वर्णों के भिन्न-भिन्न उपनाम होने चाहिएँ : 'ब्राह्मण के नाम के साथ शर्मा, क्षत्रिय के नाम के साथ वर्मा, वैश्य के नाम के साथ गुप्त तथा शूद्र के नाम के साथ दास शब्द का योग किया जाता था[3]।' वर्णभेद की भावना हिन्दू-मानस में बहुत गहरी जम चुकी थी तथा एक विशिष्ट कुल में जन्म बालक के भावी जीवन का निर्णायक था। व्यक्ति का संसार में क्या स्थान होगा, यह पहले से ही निश्चित हो जाता था तथा उसी के अनुरूप उसे सामाजिक महत्त्व के विशेषाधिकार उपलब्ध होते थे। किन्तु यह जातिगत जटिलता प्राचीन हिन्दुओं तक ही सीमित रही हो, यह बात नहीं है। यह अन्य भारोपीय जनों में प्रचलित प्रथा है[4]।

(ई) चार प्रकार के नाम

उस नक्षत्र के अनुसार जिसमें शिशु का जन्म हुआ हो, उस मास के देवता, कुल-देवता तथा लोकप्रचलित सम्बोधन के अनुसार चार प्रकार के नाम प्रचलित थे। प्राक्सूत्र अथवा सूत्र-युग में यह पद्धति पूर्ण विकसित नहीं हो पाई थी। गृह्यसूत्र केवल नक्षत्र-नाम तथा लौकिक नाम से परिचित थे। अन्य नाम उन्हें अज्ञात थे। इस पद्धति का पूर्ण विस्तार परवर्ती स्मृतियों तथा

---

(१) मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥ म. स्मृ. २. ३१।

(२) वही, २. ३२।

(३) शर्मेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रियस्य तु।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः॥ व्यास।

(४) कुल्तूर दरइन्डो जर्मन, पृष्ठ ३०२ तथा आगे।

ज्योतिष-विषयक ग्रन्थों में हुआ। इस विकास का कारण धार्मिक मतों तथा ज्योतिष का उत्थान था। साम्प्रदायिक धर्मों ने कुलदेवताओं को जन्म दिया। ज्योतिष जनसाधारण को नक्षत्रलोक के प्रभाव में ले आया तथा यह विश्वास प्रचलित हो गया कि प्रत्येक काल पर कोई न कोई अधिष्ठातृ-देवता शासन करता है। इस विश्वास से दिन तथा मास आदि के देवताओं का उदय हुआ।

१. नक्षत्र-नाम

यह उस नक्षत्र के नाम से निष्पन्न होता था जिसमें शिशु का जन्म हुआ होता अथवा उस नक्षत्र के अधिष्ठातृ-देवता के नाम पर उसका नाम रखा जाता था[1]। शङ्ख तथा लिखित विधान करते हैं कि 'पिता अथवा कुलवृद्ध को शिशु का नक्षत्र से सम्बद्ध नाम रखना चाहिये[2]।' नक्षत्रों तथा उनके देवताओं के नाम इस प्रकार हैं: अश्विनी–अश्विन्, भरणी–यम, कृत्तिका–अग्नि, रोहिणी–प्रजापति, मृगशिरा–सोम, आर्द्रा–रुद्र, पुनर्वसु–अदिति, पुष्य–बृहस्पति, अश्लेषा–सर्प, मघा–पितृ, पूर्वाफाल्गुनी–भग, उत्तराफाल्गुनी–अर्यमन्, हस्त–सवितृ, चित्रा–त्वष्टा, स्वाति–वायु, विशाखा–इन्द्राग्नि, अनुराधा–मित्र, ज्येष्ठा–इन्द्र, मूल–निर्ऋति, पूर्वाषाढ–आप्, उत्तराषाढ–विश्वेदेवा, श्रवण–विष्णु, धनिष्ठा–वसु, शतभिष्–वरुण, पूर्वभाद्रपद–अजैकपाद, उत्तरभाद्रपद–अहिर्बुध्न्य तथा रेवती–पूषन्। यदि बालक अश्विनी नक्षत्र में उत्पन्न होता तो उसका नाम अश्विनीकुमार रखा जाता और यदि रोहिणी नक्षत्र में तो रोहिणीकुमार आदि। नक्षत्र के आधार पर शिशु के नामकरण का एक अन्य प्रकार भी प्रचलित था। यह विश्वास प्रचलित है कि संस्कृत वर्णमाला के विभिन्न अक्षरों के विभिन्न नक्षत्र अधिष्ठाता हैं। किन्तु क्योंकि अक्षर ५२ हैं और नक्षत्र केवल २७, अतः प्रत्येक नक्षत्र के प्रभाव में एक से अधिक अक्षर हैं। शिशु का नाम उस विशिष्ट नक्षत्र द्वारा अधिष्ठित किन्हीं अक्षरों से आरम्भ होना चाहिये। एक शिशु, जिसका जन्म अश्विनी नक्षत्र में हुआ हो, जो चू–चे–चो–ल इन अक्षरों का अधिष्ठाता है, तो उसका नाम नक्षत्र की विभिन्न गतियों के अनुसार चूडामणि, चेदीश, चोलेश अथवा लक्ष्मण रखा जाता था।

---

(१) आ. गृ. सू. १. १५. ४।

(२) नक्षत्रनाम सम्बद्धं पिता वा कुर्यादन्यो कुलवृद्ध इति।

वी. मि. सं. भा. १, पृ. २३७ पर उद्धृत।

बौधायन के अनुसार नक्षत्र पर आधारित नाम गुह्य रखा जाता था[1]। यह वयोवृद्धों का सत्कार करने के लिये द्वितीय नाम था तथा उपनयन के काल तक यह केवल माता-पिता को विदित रहता था। कतिपय आचार्यों के मतानुसार यह गुह्यनाम जन्म के दिन रखा जाता था। अभिवादनीय नाम के विषय में आश्वलायन भी कहते हैं कि यह नामकरण के दिन निश्चित किया जाना चाहिये तथा उपनयनपर्यन्त केवल माता-पिता को ही ज्ञात होना चाहिए[2]। शौनक का भी यही विचार है कि 'वह नाम जिसके द्वारा बालक उपनीत होने के पश्चात् वयोवृद्धों का अभिवादन करता है, उसे दिया जाना चाहिए। इस पर विचार करने के पश्चात् पिता को धीमे स्वर से शिशु के कान में कहना चाहिए, जिससे कि अन्य व्यक्ति उसे न जान सकें। उपनयन के समय माता-पिता को यह स्मरण करना चाहिये[3]।' नक्षत्र पर आधारित नाम व्यक्ति के जीवन से घनिष्ठतया सम्बद्ध था। अतः यह गुह्य रखा जाता था, अन्यथा इसके द्वारा शत्रु उस व्यक्ति को कोई न कोई क्षति पहुँचा सकता था. ऐसा विश्वास था।

२. मास के देवता पर आधारित नाम

नामकरण का एक अन्य प्रकार उस मास के देवता पर आधारित था जिसमें बालक का जन्म हुआ हो। गार्ग्य के अनुसार मार्गशीर्ष से आरम्भ होनेवाले नाम हैं : कृष्ण, अनन्त, अच्युत, चक्री, वैकुण्ठ, जनार्दन, उपेन्द्र, यज्ञ-पुरुष, वासुदेव, हरि, योगीश तथा पुण्डरीकाक्ष[4]। मास के देवता के आधार पर बालक का द्वितीय नाम रखा जाता था। उपर्युक्त समस्त नाम वैष्णव मत से सम्बद्ध हैं तथा प्रादुर्भाव की दृष्टि से वे सूत्रकाल की अपेक्षा अत्यन्त परवर्ती हैं।

---

(१) नक्षत्रनामधेयेन द्वितीयं नामधेयं गुह्यम्।
बौ. गृ. सू., वी. मि. सं. भाग १, पृ. ३३८ पर उद्धृत।

(२) अभिवादनीयं च समीक्षेत तन्मातापितरौ विद्यातामुपनयात्।
आ. गृ. सू. १. १५. ९।

(३) वी. मि. सं. भा. १, पृ. २३८ पर उद्धृत।

(४) कृष्णोऽनन्तोऽच्युतश्चक्री वैकुण्ठोऽथ जनार्दनः।
उपेन्द्रो यज्ञपुरुषो वासुदेवस्तथा हरिः।
योगीशः पुण्डरीकाक्षो मासनामान्यनुक्रमात्॥ वही, पृ. २३७।

३. कुल-देवता पर आधारित नाम

✓ तृतीय नाम कुल-देवता के अनुसार रखा जाता था[1]। कुल-देवता वह देवी या देवता था जिसकी पूजा कुल अथवा जन में अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आती हो[2]। इस आधार पर शिशु का नाम रखने समय लोग यह सोचते थे कि शिशु को कुल-देवता का संरक्षण प्राप्त होगा। वह इन्द्र, सोम, वरुण, मित्र, प्रजापति आदि वैदिक अथवा कृष्ण, राम, शङ्कर, गणेश आदि पौराणिक देवता हो सकते थे। शिशु का नाम रखते समय, देवता के नाम के साथ 'दास' अथवा 'भक्त' शब्द का योग कर दिया जाता था।

४. लौकिक नाम

✓ नामकरण का अन्तिम प्रकार लौकिक था। लौकिक नाम समाज के साधारण व्यवहार के लिए रखा जाता था तथा व्यावहारिक दृष्टि से वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। नाम-करण के समय नाम-रचना-विषयक उपर्युक्त नियमों का ध्यान रखा जाता था। इस नाम की रचना प्रधानतः कुल की संस्कृति तथा शिक्षा पर निर्भर करती थी। इस नाम का मङ्गलसूचक तथा अर्थपूर्ण होना वाञ्छनीय था।[3]

नामकरण में जिन सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाता था, वे निम्नलिखित थे। सर्वप्रथम, नाम उच्चारण में सरल तथा श्रवण-सुखद होना चाहिए। इस प्रयोजन के लिए विशिष्ट अक्षर तथा स्वर चुने जाते थे। दूसरे, नाम लिङ्ग-भेद का द्योतक होना चाहिए। प्रकृति ने शारीरिक रचना द्वारा लिङ्गों में पार्थक्य स्थापित किया है। पुरुष प्रकृति से ही कठोर तथा सबल होते हैं और नारी कोमल तथा सुन्दर होती है। अतः, पुरुषों और स्त्रियों के लिए इस प्रकार के नामों का चुनाव, जो उनकी प्राकृतिक रचना तथा स्वभाव के द्योतक हों,

---

(१) कुलदेवतासम्बद्धं पिता नाम कुर्यादिति। शङ्ख, वही।

(२) कुलदेवता कुलपूज्या देवता तया सम्बद्धं तत्प्रतिपादकमित्यर्थः। अस्मिन्नर्थ व्याख्याने अनादिरविच्छिन्नः शिष्टाचारो मूलम्।

वी. मि. सं. भा १, पृ २३७।

(३) बृहस्पति, वही, पृ. २४१।

उपयुक्त ही था। इसी कारण स्त्री-नाम स्त्रीलिङ्ग—आकारान्त अथवा ईकारान्त—होते हैं। स्त्री-नाम में अक्षरों की विषम संख्या का भी यही प्रयोजन था। तृतीय सिद्धान्त यह था कि नाम यश, ऐश्वर्य, शक्ति आदि का द्योतक होना चाहिए। अन्ततः नाम व्यक्ति की अपनी जाति का भी सूचक होता था। यह किसी प्रकार की पूछ-ताछ के बिना ही व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को स्पष्ट कर देता था। नामकरण की उपर्युक्त पद्धति तर्कसङ्गत है तथा उसकी अवज्ञा किसी भी प्रकार लाभप्रद नहीं है, भले ही संस्कार के विश्वास-मूलक और धार्मिक पार्श्वों की उपेक्षा की जाए। शिशु के नामकरण के प्रति इस विलक्षण सावधानी का कारण यह था कि वह मनुष्य के जीवन-पर्यन्त उससे संयुक्त रहता था। यह उस आदर्श का अनवरत स्मारक था, जिसके प्रति व्यक्ति से निष्ठावान् तथा सच्चे रहने की अपेक्षा की जाती थी।

५. प्रतीकारात्मक तथा भर्त्सनासूचक नाम

यहाँ तक नामकरण के धर्मशास्त्रीय प्रकारों पर प्रकाश डाला गया। किन्तु जनसाधारण ने अन्य अनेक विषयों पर भी विचार किया होगा, जैसा कि वे आज भी करते हैं। वे भाग्यहीन माता-पिता, जिनकी पूर्वसन्तान मृत्यु को प्राप्त हो चुकती थी, भूत-प्रेतों, रोगों तथा मृत्यु को भयतीत करने के लिए, अपने शिशु का कुरुचि-पूर्ण, प्रतीकारात्मक तथा निन्दा-सूचक नाम रख दिया करते थे, जैसे शुनः शेप आदि।

६. विधि-विधान तथा उनका महत्त्व

गृह्यसूत्रों के सामान्य नियम के अनुसार[1] नामकरण संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् दसवें अथवा बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता था। इसका एकमात्र अपवाद था गुह्यनाम, जो कतिपय आचार्यों के अनुसार जन्म के दिन रखा जाता था। किन्तु परवर्ती विकल्प के अनुसार नामकरण जन्म के पश्चात् दसवें दिन से लेकर द्वितीय वर्ष के प्रथम दिन तक सम्पन्न किया जा सकता था। एक आचार्य

---

(१) शां. गृ. सू. १. २४. ४; आ. गृ. सू. १. १५. ४; पा. गृ. सू. १. १७; गो. गृ. सू. २. ७. १५; खा. गृ. सू. २. २. ३०; हि. गृ. सू. २. ४. १०; आप. गृ. सू. १५२।

के अनुसार 'नामकरण दसवें, बारहवें, सौवें दिन अथवा प्रथम वर्ष के समाप्त होने पर करना चाहिए[1]।' इस व्यापक विकल्प का कारण परिवार की सुविधा तथा माता और शिशु का स्वास्थ्य था। किन्तु दसवें से से बत्तीसवें दिन पर्यन्त के विकल्प के कारण विभिन्न वर्णों के लिए विहित सांस्कारिक अशौच की विभिन्न अवधियाँ थीं। बृहस्पति के मतानुसार 'शिशु का नामकरण जन्म से दसवें, बारहवें, तेरहवें, सोलहवें, उन्नीसवें अथवा बत्तीसवें दिन सम्पन्न करना चाहिए[2]।' किन्तु ज्योतिष-विषयक ग्रन्थों के अनुसार प्राकृतिक असाधारणता अथवा धार्मिक अनौचित्य होने पर उक्त दिनों में भी संस्कार स्थगित किया जा सकता था। 'संक्रान्ति, ग्रहण अथवा श्राद्ध के दिन सम्पन्न संस्कार मङ्गलमय नहीं माना जाता था[3]।' इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य निषिद्ध दिन भी थे, जिनका वर्जन किया जाता था।

जननाशौच समाप्त होने पर घर प्रक्षालित तथा शुद्ध किया जाता था तथा शिशु और माता को स्नान कराया जाता था। वास्तविक संस्कार के पूर्व आरम्भिक कृत्य सम्पन्न किये जाते थे। तब माता शिशु को शुद्ध वस्त्र से ढँककर तथा उसके सिर को जल से आर्द्र कर पिता को हस्तान्तरित कर देती थी[4]। इसके पश्चात् प्रजापति, तिथि, नक्षत्र तथा उनके देवता, अग्नि और सोम को आहुतियाँ दी जाती थीं।[5] पिता शिशु के श्वास-प्रश्वासों को स्पर्श करता था, जिसका उद्देश्य सम्भवतः शिशु की चेतना का उद्‌बोधन तथा उसका ध्यान संस्कार की ओर आकृष्ट करना था। तब नाम रखा जाता था। इसकी विधि क्या थी इसका वर्णन गृह्यसूत्रों में नहीं किया गया है, किन्तु पद्धतियों[6] में

---

(१) गोभिल गृह्यसूत्र-परिशिष्ट।

(२) द्वादशाहे दशाहे वा जन्मतोऽपि त्रयोदशे।
षोडशैकोनविंशे वा द्वात्रिंशे वर्णतः क्रमात्॥
वी मि. सं. भा. १, पृ. २३४ पर उद्धृत।

(३) वी. मि सं. भा १, पृ. २३४ पर उद्धृत किसी अज्ञात लेखक का वचन।

(४) गो. गृ. सू. २. ७. १५।

(५) स्वामी दयानन्द, संस्कार-विधि।

(६) पण्डित भीमसेन शर्मा, षोडश-संस्कार-विधि।

निम्नलिखित विधि प्राप्त होती है। शिशु के दाहिने कान की ओर झुकता हुआ पिता उसे इस प्रकार सम्बोधित करता था : 'हे शिशो, तू कुलदेवता का भक्त है, तेरा नाम··· ··· ···है, तू इस मास में उत्पन्न हुआ है, अतः तेरा नाम··· ··· ···है, तू इस नक्षत्र में जन्मा है, अतः तेरा नाम··· ··· ···है, तथा तेरा लौकिक नाम··· ··· ···है।' वहाँ पर एकत्र ब्राह्मण कहते थे : 'यह नाम प्रतिष्ठित हो।' इसके पश्चात् पिता औपचारिक रूप से शिशु से ब्राह्मणों को अभिवादन कराता था, जो उसे 'सुन्दर शिशु, दीर्घायु हो', आदि आशिष देते थे। वे 'तू वेद है', आदि ऋचा का भी उच्चारण करते थे। अन्त में उसका अभिवादनीय नाम रखा जाता था। ब्राह्मण-भोजन तथा आदरपूर्वक देवताओं तथा पितरों को अपने अपने स्थानों को प्रेषित करने पर संस्कार समाप्त होता था।

तृतीय परिच्छेद

निष्क्रमण-संस्कार

१. प्रादुर्भाव

शिशु के उन्नतिशील जीवन में प्रत्येक महत्वपूर्ण पग और परिवर्तन माता-पिता तथा परिवार के लिए हर्ष और आनन्द का अवसर था तथा वह अवसरोचित धार्मिक विधि-विधानों के साथ मनाया जाता था। प्रसूति-गृह में सीमित रहने की अवधि समाप्त हो जाने पर माता उस छोटे से कमरे से बाहर आती और पुनः पारिवारिक जीवन में भाग लेना आरम्भ कर देती थी। इसके साथ ही शिशु का संसार भी कुछ अधिक विस्तृत हो जाता था। अब वह घर के किसी भी भाग में ले जाया जा सकता था। माता पिता तथा परिवार के प्रौढ़ तथा वयोवृद्ध सदस्य उसे खिलाते और बच्चे उसके साथ खेलते। बालक के छोटे-छोटे जिज्ञासु नेत्र घर के प्रत्येक सदस्य को एकाग्रतापूर्वक देखते और वह किसी भी वस्तु को अनदेखी न रहने देता। किन्तु एक या दो मास में ही शिशु का विश्व बहुत छोटा प्रतीत होने लगता। उसकी जिज्ञासा तथा उसके विभिन्न अङ्गों की गति-विधि की तुष्टि के लिए अपेक्षाकृत व्यापक क्षेत्र अपेक्षित होता। अतः यह उपयुक्त समझा गया कि बाहरी संसार से शिशु को परिचित कराया जाए। वस्तुतः यह शिशु के जीवन में एक महत्वपूर्ण चरण था और माता-पिता ने इस अवसर पर अपने हर्ष और आनन्द के भाव को अभिव्यक्ति प्रदान की। किन्तु जीवन घर से बाहर प्राकृत तथा अतिप्राकृत संकटों से सुरक्षित न था। अतः शिशु की रक्षा के लिए देवताओं का अर्चन और उनकी सहायता प्राप्त करने का यत्न किया जाता था।

२. इतिहास

निष्क्रमण अथवा शिशु को विधि-विधानपूर्वक घर से प्रथम बार बाहर लाने की प्रथा भले ही अत्यन्त प्राचीन रही हो, किन्तु हम वैदिक साहित्य में इसका कोई भी उल्लेख नहीं पाते। इस संस्कार के अवसर पर उच्चारण किया

जानेवाला 'तच्चक्षुर्देवहितम्'[1] मन्त्र सामान्य प्रयोगवाला है और किसी भी स्थान पर सूर्य की ओर देखते समय इस मन्त्र का व्यवहार किया जाता है। अतः प्रस्तुत संस्कार की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। गृह्यसूत्रों में दी हुई विधि भी अत्यन्त साधारण है। इसके अनुसार पिता बालक को बाहर ले जाता और 'तच्चक्षुर्देवहितम्', आदि मन्त्र के साथ उसे सूर्य का दर्शन कराता था[2]।

परवर्ती स्मृतियों तथा निबन्धों में आकर इससे सम्बद्ध प्रथाओं तथा कर्मकाण्ड का विस्तार हुआ।

३. उपयुक्त समय

निष्क्रमण संस्कार करने का समय जन्म के पश्चात् बारहवें दिन से चतुर्थ मास तक भिन्न-भिन्न था[3]। भविष्यपुराण तथा बृहस्पति-स्मृति इस संस्कार के लिए बारहवें दिन का विधान करते हैं[4]। सम्भवतः यह तभी सम्भव था, जब कि यह नाम-करण के साथ सम्पन्न किया जाता और शिशु सूतिका-गृह से बाहर लाया जाता था। किन्तु गृह्यसूत्रों तथा स्मृतियों के अनुसार सामान्य नियम जन्म के पश्चात् तीसरे या चौथे मास में संस्कार करने का था। यम ने तृतीय और चतुर्थ मास में विकल्प का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है : 'तृतीय मास में शिशु को सूर्यदर्शन कराना चाहिए तथा चतुर्थ मास में चन्द्र-दर्शन'[5]। शिशु को रात्रि में घर से बाहर लाने के लिए दीर्घतर काल अपेक्षित था। परवर्ती काल में जब कि यह संस्कार कुछ विलम्ब से भी किया जा सकता था, दोनों संस्कार परस्पर मिश्रित हो गये। यदि किसी प्रकार उपर्युक्त अवधि में संस्कार संपन्न नहीं हो पाता था, तो आश्वलायन के अनुसार वह अन्नप्राशन के साथ किया जाता था[6]। ज्योतिष की

(१) पा. गृ. सू. १. १७. ५. ६। (२) वही।
(३) वही; म. स्मृ. २. १३४।
(४) वी. मि. सं. भा. १, पृ. २५० पर उद्धृत।
(५) ततस्तृतीये कर्त्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम्।
चतुर्थमासि कर्त्तव्यं शिशोश्चन्द्रस्य दर्शनम्॥
यम, वी. मि. सं. भा. १, पृ. २५० पर उद्धृत।
(६) वही. पृ. २५१।

दृष्टि से अनेक आपत्तिजनक तिथियाँ हैं, जब कि संस्कार स्थगित कर देना चाहिये। उपर्युक्त विकल्प माता-पिता की सुविधा, बालक के स्वास्थ्य तथा परिस्थिति की अनुकूलता पर आधारित थे।

४. संस्कर्ता

गृह्यसूत्रों के अनुसार माता-पिता इस संस्कार को सम्पन्न करते थे। किन्तु पुराण और ज्योतिष-विषयक ग्रन्थ इस विशेषाधिकार को अपेक्षाकृत व्यापक कर देते हैं। मुहूर्तसङ्ग्रह के मतानुसार इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए मामा को आमन्त्रित करना वाञ्छनीय था[१]। इसका कारण अपनी बहन के शिशु के लिए उसके हृदय के स्नेहपूर्ण भाव ही थे। विष्णुधर्मोत्तर धात्री के द्वारा शिशु के बाहर लाये जाने का विधान करता है[२]। इस प्रथा का उदय सम्भवतः उस समय हुआ, जब पर्दा-प्रथा के कारण प्रतिष्ठित परिवार की स्त्रियाँ घर के बाहर नहीं निकल सकती थीं। किन्तु व्यवहार में यह प्रतिबन्ध केवल धनी परिवारों तक ही सीमित था। ये प्रथाएँ अ-वैदिक और लौकिक हैं। जब संस्कार को एक गृह्य-यज्ञ माना जाता था, उस समय केवल पिता ही इसे समुचित रूप से सम्पन्न कर सकता था। किन्तु इस स्थिति में परिवर्तन होने पर संस्कार को सम्पन्न करने का अधिकार उससे इतर व्यक्तियों को भी प्राप्त हो गया।

५. विधि-विधान तथा उनका महत्त्व

संस्कार के लिए नियत दिन माता बरामदे या आँगन के ऐसे वर्गाकार भाग को, जहाँ से सूर्य दिखाई देता, गोबर और मिट्टी से लीपती, उस पर स्वस्तिक का चिह्न बनाती तथा धान्य-कणों को विकीर्ण करती थी। सूत्रकाल में पिता के द्वारा शिशु को सूर्य-दर्शन कराने के साथ संस्कार समाप्त हो जाता था। किन्तु परवर्ती रचनाओं से अधिक विस्तृत विधि-विधानों का ज्ञान होता है।[३] भलीभाँति अलंकृत कर बालक कुल-देवता के समक्ष लाया जाता था। वाद्य-सङ्गीत के

---

(१) उपनिष्क्रमणे शस्ता मातुलो वाहयेच्छिशुम्। मुहूर्तसङ्ग्रह, वी. मि. सं. भा. १, पृ. २५३ पर उद्धृत।

(२) ततस्त्वलङ्कृता धात्री बालमादाय पूजितम्।
बहिर्निष्क्रासयेद् गेहात् शङ्खपुण्याहनिःस्वनैः॥ विष्णुधर्मोत्तर, वही।

(३) आश्वलायनाचार्य तथा विष्णुधर्मोत्तर, वही।

साथ देवता की पूजा की जाती थी। आठ लोकपालों, सूर्य, चन्द्र, वासुदेव और आकाश, की भी स्तुति की जाती थी। ब्राह्मणों को भोजन दिया जाता और शुभसूचक श्लोकों का उच्चारण किया जाता था। शङ्ख-ध्वनि तथा वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के साथ शिशु बाहर लाया जाता था। बाहर लाते समय पिता शाकुन्त-सूक्त अथवा निम्नलिखित श्लोक का उच्चारण करता था : 'यह शिशु अप्रमत्त हो या प्रमत्त, दिन हो या रात्रि, इन्द्र के नेतृत्व में (शक्र-पुरोगमाः) सब देव इसकी रक्षा करें'।[1] तब शिशु किसी देवालय में ले जाया जाता, जहाँ धूप, पुष्प, माला आदि से देवार्चन होता था। शिशु देवता को प्रणाम करता और ब्राह्मण उसे आशीर्वाद देते थे। इसके पश्चात् शिशु को मन्दिर के बाहर लाकर मामा की गोद में दे दिया जाता, जो उसे घर लाता था। अन्त में बालक को खिलौने आदि उपहार और आशिष दिये जाते थे।

बृहस्पति[2] इससे कुछ भिन्न विधि प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार यथावत् अलंकृत कर शिशु पिता के द्वारा किसी वाहन पर अथवा स्वयं मामा के द्वारा बाहर लाया जाना चाहिए। वाद्यध्वनि के बीच मित्र तथा सम्बन्धी भी शिशु के साथ रहते थे। तब शिशु को गोबर और मिट्टी से लीपे हुए पवित्र स्थान पर रखा जाता था, जिस पर धान के दाने बिखरे रहते थे। रक्षा-विधि सम्पन्न करने के पश्चात् पिता 'त्र्यम्बकं यजामहे' आदि मृत-सञ्जीवन मन्त्र का जप करता था। अन्त में शिव और गणेश का पूजन किया जाता और बालक को फल तथा अन्य खाद्य पदार्थ दिये जाते थे।

सम्पूर्ण संस्कार का महत्त्व शिशु की दैहिक आवश्यकता और उसके मन पर सृष्टि की असीमित महत्ता के अङ्कन में निहित है। संस्कार का व्यावहारिक अर्थ केवल यही है कि एक निश्चित समय के पश्चात् बालक को घर से बाहर उन्मुक्त वायु में लाना चाहिए और यह अभ्यास निरन्तर प्रचलित रहना चाहिए। प्रस्तुत संस्कार शिशु के उदीयमान मन पर यह भी अङ्कित करता था कि यह विश्व ईश्वर की अपरिमित सृष्टि है और उसका आदर विधिपूर्वक करना चाहिए।

—o—

(१) अप्रमत्तं प्रमत्तं वा दिवा रात्रावथापि वा।
रक्षन्तु सततं सर्वे देवाः शक्रपुरोगमाः॥ विष्णुधर्मोत्तर, वही।

(२) वी. मि. सं. भा. १. पृ. २५४ पर उद्धृत।

चतुर्थ परिच्छेद

अन्नप्राशन

१. प्रादुर्भाव

ठोस भोजन या अन्न खिलाना शिशु के जीवन में एक अन्य महत्त्वपूर्ण सोपान था। अब तक अपने भोजन के लिए वह केवल माता के स्तन्य (दूध) पर ही आश्रित था। किन्तु छः या सात मास पश्चात् उसका शरीर विकसित हो जाता और उसके लिए अधिक मात्रा में भिन्न प्रकार का भोजन अपेक्षित होता, जब कि दूसरी ओर माता के दूध की मात्रा घट जाती थी। अतः शिशु और माता दोनों के हित की दृष्टि से यह आवश्यक समझा गया कि शिशु को माता के स्तन से पृथक् कर दिया जाय और माता के दूध के स्थान पर शिशु के लिए किसी अन्य खाद्य की व्यवस्था की जाय। इस प्रकार यह संस्कार शिशु की शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति से सम्बद्ध था। सुश्रुत भी षष्ठ मास में बालक को माता के स्तन्य से पृथक् करने का विधान तथा उसके लिए पथ्य भोजन के प्रकारों का वर्णन करता है।[1] परवर्ती काल में आकर ही शिशु को पहली बार भोजन कराने की प्रथा को धार्मिक रूप प्राप्त हुआ। भोजन एक जीवन-प्रद तत्त्व था। लोगों ने सोचा कि इसमें कोई न कोई रहस्यमयी शक्ति अवश्य है, जो मनुष्य को जीवन प्रदान करती है। अतः देवताओं की सहायता से शिशु में शक्ति के इस स्रोत को प्रविष्ट कराना अनिवार्य था।

२. इतिहास

विधिपूर्वक शिशु को प्रथम भोजन कराने की इससे मिलती-जुलती प्रथा का पारसियों में प्रचलित होना यह सूचित करता है कि यह एक सामान्य भारत-ईरानी संस्कार था और इसका प्रादुर्भाव उस युग में हुआ जब वे एक

(१) षण्मासश्चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितञ्च। सुश्रुत, शारीरस्थान, १०. ६४।

साथ रहते थे। भोजन की स्तुतियाँ वेदों[1] और उपनिषदों[2] में प्राप्त होती हैं, किन्तु वे साधारण भोजन के समय गायी जाती थीं अथवा प्रथम भोजन के अवसर पर, यह सन्दिग्ध है। प्रतीत होता है कि अन्नप्राशन संस्कार को उसका कर्मकाण्डीय आवरण सूत्र-काल में प्राप्त हुआ। सूत्रों में संस्कार के काल, भोजन के प्रकार तथा उच्चारण किये जानेवाले मन्त्रों का विधान किया गया है। उत्तरकालीन स्मृतियाँ और पुराण तथा निबन्ध उक्त नियमों में कतिपय परिवर्तन कर देते हैं, जब कि पद्धतियाँ उसी कर्मकाण्ड का अनुसरण करती हैं।

३. संस्कार का समय

गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् छठे मास में किया जाता था।[3] मनु[4] और याज्ञवल्क्य[5] आदि प्राचीन स्मृतियों का भी यही मत है। किन्तु लौगाक्षि संस्कार की गणितीय गणना के आधार पर निश्चित काल से सहमत नहीं हैं तथा यह व्यक्तिगत परीक्षा निर्धारित करते हैं। उनके अनुसार पाचन शक्ति के विकसित हो जाने अथवा दाँतों के निकलने पर अन्नप्राशन संस्कार करना चाहिए[6]। दाँत शिशु में ठोस अन्न ग्रहण करने की क्षमता के विकसित होने के प्रत्यक्ष चिह्न थे। चार मास के पूर्व अन्न देना कठोरतापूर्वक निषिद्ध था। दुर्बल शिशुओं के लिए यह अवधि अधिक बढ़ायी जा सकती थी। 'अन्नप्राशन संस्कार जन्म से छठे सौर मास में, अथवा स्थगित होने पर आठवें, नवें अथवा दसवें मास में करना चाहिए; किन्तु कतिपय पण्डितों के मतानुसार यह बारहवें मास में अथवा एक वर्ष सम्पूर्ण होने पर भी किया जा सकता था।'[7]

---

(१) य. वे. १८. ३३। (२) तै. उ. ३. ७. ९।

(३) आ. गृ. सू. १. १६; पा. गृ. सू. १. १९. २; शां. गृ. सू. १. २७; बौ. गृ. सू. २. ३; मा. गृ. सू. १. २०; भा. गृ. सू. १. २७।

(४) म. स्मृ. २. ३४। (५) या. स्मृ. १. १२।

(६) षष्ठे अन्नप्राशनं जातेषु दन्तेषु दन्तेषु वा। वी. मि. सं. भा. १, पृ. २६७ पर उद्धृत।

(७) जन्मतो मासि षष्ठे वा सौरेणोत्तममन्नदम्।
तदभावेऽष्टमे मासे नवमे दशमेऽपि वा॥
द्वादशे वाऽपि कुर्वीत प्रथमान्नाशनं परम्।
सम्वत्सरे वा सम्पूर्णे केचिदिच्छन्ति पण्डिताः॥ नारद, वही।

अन्तिम सीमा एक वर्ष थी, जिसके आगे संस्कार स्थगित नहीं हो सकता था, क्योंकि इसका और भी अधिक स्थगन माता के स्वास्थ्य और शिशु की पाचन-शक्ति के विकास के लिए हानिकर होता। बालकों के लिए सम तथा बालिकाओं के लिए विषम मास विहित थे। लिङ्ग पर आधारित यह भेद इस भाव का सूचक है कि संस्कारों में भी विभिन्न लिङ्गों के लिए किसी न किसी प्रकार का अन्तर अवश्य होना चाहिए।

४. भोजन के विभिन्न प्रकार

भोजन के प्रकार भी धर्मशास्त्रों द्वारा नियत थे। साधारण नियम यह था कि शिशु को समस्त प्रकार का भोजन और विभिन्न स्वादों का मिश्रण कर खाने के लिए देना चाहिए।[1] कतिपय धर्मशास्त्री दही, मधु और घी के मिश्रण का विधान करते हैं। विभिन्न प्रकार के भोजन, जिनमें मांस का भी समावेश था, विविध उद्देश्यों से दिये जाते थे। यदि पिता शिशु की वाणी में प्रवाह चाहता, तो उसे भारद्वाज पक्षी का मांस खिलाता, भोजन व पालन-पोषण की प्रचुरता के लिए कपिञ्जल पक्षी का मांस और घी, कोमलता के लिए मत्स्य, दीर्घजीवन के लिए कृकशा पक्षी का मांस अथवा मधु में मिला हुआ भात, तेज के लिए आटि पक्षी और तित्तिर का मांस, ओज व तीक्ष्ण बुद्धि के लिए घी-भात, दृढ़ इन्द्रियों के लिए दही-भात और यदि वह शिशु में उक्त सभी गुणों को चाहता तो सभी पदार्थों से उसे भोजन कराता था।[2] उपर्युक्त सूची से यह स्पष्ट है कि गृह्यसूत्रों के काल में हिन्दू घोर अहिंसावादी नहीं थे। उन्हें मांस ग्रहण करने में कोई भी सङ्कोच न होता, यदि वह उन्हें शारीरिक व मानसिक शक्ति प्रदान करता। गृह्यसूत्र अभी भी पशु-बलि तथा पशु-भोजन की वैदिक भावना से अनुप्राणित थे, अतः मांस आदि के भोजन का विधान करने में उनको किसी प्रकार की हिचकिचाहट का अनुभव नहीं हुआ। किन्तु परवर्ती काल का झुकाव शाकाहार की ओर था। इसका कारण था अहिंसावादी मतों का प्रसार जिसने हिन्दुओं के

(१) पा. गृ. सू. १. १९. ४।

(२) वही, शा. गृ. सू. १. २७, आप. गृ. सू. १. १६. १; आ. गृ. सू. १. १०; हा. गृ. सू. २. ५।

भोजन को बहुत दूर तक प्रभावित किया। किन्तु दही, घी और दूध आदि पशुओं से उत्पन्न पदार्थ अभी भी समाज में प्रचलित रहे और शिशु के भोजन के लिए श्रेष्ठतम पदार्थ माने जाते रहे। मार्कण्डेय-पुराण शिशु को मधु और घी के साथ खीर खिलाने का विधान करता है।[1] अन्त में शिशु को दूध और भात खिलाने का चलन अत्यन्त लोकप्रिय और प्रचलित हो गया। किन्तु कर्मकाण्ड-साहित्य अभी भी मांस-भोजन का आग्रह करता है। अनेक पद्धतियों में गृह्यसूत्रों में दिये हुए विधानों का समावेश है। इसका कारण यह है कि यद्यपि हिन्दुओं के उच्चतर धर्म में पशुभोजन निषिद्ध है और पशु-जीवन के लिए उनमें साधारण आदरभाव है, किन्तु निम्नतर प्रथाएँ इस पर विशेष ध्यान नहीं देतीं।

भोजन किसी भी प्रकार का क्यों न हो, यह बात सदा ध्यान में रखी जाती थी कि भोजन लघु तथा शिशु के लिए स्वास्थ्य-वर्धक हो। सुश्रुत कहता है 'षष्ठ मास में शिशु को लघु और हितकर अन्न खिलाना चाहिए[2]।'

५. कर्मकाण्ड तथा उसका महत्त्व

अन्नप्राशन संस्कार के दिन सर्वप्रथम यज्ञिय भोजन के पदार्थ अवसरोचित वैदिक मन्त्रों के साथ स्वच्छ किये और पकाये जाते थे। भोजन तय्यार हो जाने पर वाग्देवता को इन शब्दों के साथ एक आहुति दी जाती थी: 'देवताओं ने वाग्-देवी को उत्पन्न किया है, उसे बहुसंख्यक पशु बोलते हैं। वह मधुर ध्वनिवाली, अति प्रशंसित वाणी हमारे पास आवे, स्वाहा'।[3] द्वितीय आहुति ऊर्ज्ज को दी जाती थी: 'आज हम ऊर्ज्ज प्राप्त करें।' उपर्युक्त यज्ञों की समाप्ति पर पिता निम्नलिखित शब्दों के साथ चार आहुतियाँ और देता था: 'मैं उत्प्राण द्वारा भोजन का उपभोग कर सकूँ, स्वाहा! निम्न वायु द्वारा भी भोजन का उपभोग कर सकूँ, स्वाहा! अपने नेत्रों द्वारा मैं दृश्य पदार्थों का आनन्द ले सकूँ, स्वाहा! अपने श्रवणों के द्वारा मैं यश का उपभोग करूँ, स्वाहा!'[4] यहाँ भोजन शब्द का

(१) मध्वाज्यकनकोपेतं प्राशयेत् पायसन्तु तम्। वी. मि. सं. भा. १, पृ. २७५ पर उद्धृत।

(२) षण्मासश्चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितञ्च। शरीरस्थान, १०. ६४।

(३) पा. गृ. सू. १. १९. २।

(४) वही. १. १९. ३।

प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। शिशु की समस्त इन्द्रियों की सन्तुष्टि के लिए प्रार्थना की जाती थी, जिससे वह सुखी व सन्तुष्ट जीवन व्यतीत कर सके। किन्तु एक बात ध्यान में रखी जाती थी। सन्तुष्टि व तृप्ति की खोज में स्वास्थ्य और नैतिकता के नियमों का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे मनुष्य के यश का क्षय हो जाता है। अन्त में पिता बालक को खिलाने के लिए सभी प्रकार के भोजन तथा स्वाद को पृथक्-पृथक् रखता था और मौनपूर्वक अथवा 'हन्त' इस शब्द के साथ शिशु को भोजन कराता था। ब्राह्मण-भोजन के साथ संस्कार समाप्त होता था।

अन्न-प्राशन संस्कार का महत्त्व यह था कि शिशु उचित समय पर अपनी माता के स्तन से पृथक् कर दिये जाते थे। वे माता-पिता की स्वेच्छाचारिता पर नहीं छोड़ दिये गये थे, जो प्रायः उनकी पाचन की क्षमता पर बिना ध्यान दिए अति-भोजन द्वारा उनके शारीरिक विकास में बाधा पहुँचाती है। अन्न-प्राशन संस्कार माता को भी यह चेतावनी देता था कि एक निश्चित समय पर उसे शिशु को दूध पिलाना बन्द कर देना चाहिए। अनाड़ी शिशु के प्रति स्नेह के कारण उसे एक वर्ष या उससे भी अधिक समय तक वह अपना स्तन्य पिलाती ही रहती है। किन्तु वह इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देती कि इससे वह शिशु का यथार्थ कल्याण न कर अपनी शक्ति का निरर्थक क्षय करती है। शिशु और माता दोनों के हित के लिए इस संस्कार द्वारा सामयिक चेतावनी दे दी जाती थी।

पञ्चम परिच्छेद

चूडा-करण

१. प्रादुर्भाव

सभ्यता की प्रगति में दीर्घकाल के पश्चात् ही मनुष्य स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य के लिए छोटे-छोटे केश रखने की आवश्यकता का अनुभव कर सका। आदिम मानव के लिए शिर की खुजली एक बड़ी ही कष्टकर समस्या थी। शिर को स्वच्छ रखने के लिये किसी न किसी उपाय का आविष्कार होना अनिवार्य था। केश-च्छेदन का यही प्रयोजन था। किन्तु नवीन तथा लाभप्रद होने के कारण व्यक्ति के जीवन में यह एक महत्त्वपूर्ण घटना समझी जाने लगी। किसी लौह औजार के द्वारा केश-च्छेदन एक नवीन तथा भयपूर्ण दृश्य था। लोग जानते थे कि इससे शिर स्वच्छ हो जाएगा, किन्तु साथ ही वे इस आशङ्का से भयभीत भी थे कि कहीं यह उस व्यक्ति को जिसके केशों का छेदन किया जा रहा हो, आघात या किसी प्रकार की क्षति भी पहुँचा सकता है। आवश्यकता तथा भय दोनों परस्पर मिश्रित हो गये तथा उन्होंने चूडाकरण-सम्बन्धी विधि-विधानों को जन्म दिया। व्यावहारिक तथा लाभकर पार्श्वों को सहवर्ती ऋचाओं में अभिव्यक्ति प्राप्त हुई। शिशु के सम्पर्क में आते हुए तीक्ष्ण व तेज छुरे को देखकर शिशु के पिता के हृदय में आतङ्क तथा भय का सञ्चार होना स्वाभाविक ही था, जिसके कारण वह छुरे से शिशु के प्रति कोमल तथा अ-हानिकर होने की प्रार्थना करता था। चूडाकरण को धार्मिक रूप देने में उक्त भाव उत्तरदायी थे।

२. संस्कार का प्रयोजन

धर्मशास्त्रों के अनुसार संस्कार्य व्यक्ति के लिए दीर्घ आयु, सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति इस संस्कार का प्रयोजन था[1]। 'चूडा-करण से दीर्घायु प्राप्त होती है तथा इसके सम्पन्न न करने पर आयु का ह्रास होता है। अतः प्रत्येक दशा में यह संस्कार

(१) तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकाय स्वस्तये। आ. गृ. सू. १. १७. १२।

सम्पन्न करना ही चाहिए[1]।' हिन्दुओं के आयुर्वेदिक ग्रन्थों से भी चूडाकरण के इस धर्मशास्त्रोक्त प्रयोजन की पुष्टि होती है। सुश्रुत के अनुसार 'केश, नख तथा रोम अथवा केशों के अपमार्जन अथवा छेदन से हर्ष, लाघव, सौभाग्य और उत्साह की वृद्धि तथा पाप का उपशमन होता है[2]।' चरक का मत है कि 'केश, श्मश्रु तथा नखों के काटने तथा प्रसाधन से पौष्टिकता, बल, आयुष्य, शुचिता और सौन्दर्य की प्राप्ति होती है[3]।' चूडाकरण संस्कार के मूल में स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य की भावना ही मुख्य थी। किन्तु कतिपय मानवशास्त्रियों[4] के मत में, मूलतः इस संस्कार का प्रयोजन बलि था, अर्थात् केश काटकर किसी देवता को अर्पित कर दिये जाते थे। किन्तु जहाँ तक हिन्दू चूडाकरण सम्बन्धी विधि-विधानों का प्रश्न है, यह अनुमान सत्य नहीं है। उक्त बलिरूपी प्रयोजन गृह्यसूत्रों तथा स्मृतियों को ज्ञात नहीं था। निस्सन्देह, आजकल, यदा-कदा चूडाकरण संस्कार किसी देवता के मन्दिर में सम्पन्न किया जाता है, किन्तु यह बात केवल चूडाकरण संस्कार के ही विषय में नहीं है, उपनयन आदि संस्कार भी कभी-कभी देवालयों में सम्पन्न होते हैं। पुनश्च, केवल उन्हीं शिशुओं का संस्कार किसी देवायतन में किया जाता है, जिनका जन्म दीर्घ निराशा अथवा पूर्व-सन्तान की मृत्यु के पश्चात् होता है। इसके अतिरिक्त, यह प्रथा अधिक व्यापक भी नहीं है। इस प्रकार चूडाकरण संस्कार तथा उसका किसी देवता के लिए अर्पण, इन दोनों में कोई सहज सम्बन्ध नहीं है।

३. वैदिककाल

चूडाकरण संस्कार के अवसर पर गृह्यसूत्रों में व्यवहृत सभी मन्त्र वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं तथा उनसे यह सूचित होता है कि उनकी रचना केश-च्छेदन के प्रयोजन के लिए ही हुई थी। मुण्डन के लिये शिर के

---

(१) वसिष्ठ, वी. मि. सं. भा. १, पृ. २९६ पर उद्धृत।

(२) पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्।
हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्॥ चिकित्सास्थान, २४. ७२।

(३) पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपं विराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कर्तनं सम्प्रसाधनम्॥

(४) क्राफर्ड हावेल टॉयः इन्ट्रोडक्शन टु दि हिस्ट्री ऑव् रिलीजन्स, पृ. ८१।

भिगोने का अथर्ववेद[1] में उल्लेख है। मुण्डन में व्यवहृत छुरे की स्तुति तथा उससे अ-हानिकर होने की प्रार्थना की जाती है: 'नाम से तू शिव है। लोहा (स्वधिति) तेरा पिता है। मैं तुझे नमस्कार करता हूँ। तू शिशु की हिंसा अथवा क्षति न कर[2]।' आयु, अन्नाद्य, प्रजनन, ऐश्वर्य (रायस्पोष), सुसन्तति (सुप्रजास्त्व) तथा बल-वीर्य की प्राप्ति के लिए स्वयं पिता द्वारा केश-च्छेदन का उल्लेख भी प्राप्त होता है[3]। सविता अथवा सूर्य के प्रतिनिधीकृत नापित का भी स्वागत किया गया है[4]। केश-च्छेदन-विषयक अन्य अनेक पौराणिक संकेत भी वेदों में मिलते हैं[5]। इस प्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वैदिक काल में भी चूड़ाकरण एक धार्मिक संस्कार था, जिसमें शिर का भिगोना, छुरे की स्तुति, नापित को निमन्त्रण, वैदिक मन्त्रों के साथ केश-च्छेदन तथा दीर्घायुष्य, समृद्धि, वीर्य तथा शिशु की सन्तान के लिए भी कामना की जाती थी।

४. सूत्र तथा परवर्ती काल

सूत्रकाल में चूड़ाकरण के विधि-विधानों को व्यवस्थित रूप प्राप्त हुआ। गृह्यसूत्रों में इस संस्कार की विधि का वर्णन तथा विशिष्ट विषयों के लिए नियमों का निर्देश किया गया है[6]। उत्तर-काल में अनेक पौराणिक तत्त्वों का भी प्रवेश हो गया। स्मृतियाँ, टीकाएँ तथा मध्ययुगीन निबन्ध इसके साक्षी हैं। वे संस्कार के नवीन स्वरूप का प्रतिनिधित्व तथा अनेक सामाजिक व ज्योतिष-सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करती हैं। तथापि और भी

(१) ६. ६८. १।

(२) ओम् शिवोनामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते मा मा हिंसीः। य. वे. ३. ६३.

(३) ओम् निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय। य. वे. ३. ३३.।

(४) अ. वे. ६. ६८. ३.।

(५) वही. ६. ६८. ३; ८. ४. १७.।

(६) शां. गृ. सू. १. २८; आ. गृ. सू. १. १७; पा. गृ. सू. २. १; गो. गृ. सू. २. ९; खा. गृ. सू. २. ३-१६; आप. गृ. सू. १६. ३; बौ. गृ. सू. २. ४.।

परवर्ती पद्धतियों में गृह्यसूत्रों में निर्दिष्ट कर्मकाण्डीय विधि का अनुसरण किया गया है।

५. संस्कार के समय

गृह्यसूत्रों के मतानुसार चूडाकरण संस्कार जन्म के पश्चात् प्रथम वर्ष के अन्त में अथवा तृतीय वर्ष की समाप्ति के पूर्व संपन्न होता था[१]। प्राचीनतम स्मृतिकार मनु भी यही विधान करते हैं। वे लिखते हैं कि 'वेदों के नियमानुसार धर्मपूर्वक समस्त द्विजातियों का चूडाकर्म प्रथम अथवा तृतीय वर्ष में संपन्न करना चाहिए[२]।' परवर्ती लेखक आयु को पंचम तथा सप्तम वर्ष तक बढ़ा देते हैं। कतिपय आचार्यों का मत है कि यह उपनयन संस्कार के साथ भी किया जा सकता था, जो सात वर्ष की आयु के पश्चात् भी सम्पन्न हो सकता था। 'तृतीय अथवा पंचम वर्ष में चौलकर्म प्रशस्त माना जाता है, किन्तु यह सप्तम वर्ष में अथवा उपनयन के साथ भी किया जा सकता है[३]।' संस्कार को सम्पन्न करने के लिए अधिक आयु के विधान करने की प्रवृत्ति का कारण यह था कि सूत्रकाल के पश्चात् उसका प्रयोजन वास्तविक के स्थान पर केवल औपचारिक रह गया था। व्यवहार में बहुत पूर्व ही शिशु के केश काट दिये जाते थे, किन्तु इसका सांस्कारिक अनुष्ठान उपनयन तक स्थगित कर दिया जाता था, जब कि यह धर्मशास्त्रों में विहित विधि के अनुसार उपनयन के कुछ क्षण पूर्व सम्पन्न होता था। आजकल साधारणतः इसी प्रथा का अनुसरण किया जाता है। किन्तु धर्मशास्त्रकार इसकी अपेक्षा अल्पतर आयु को प्राथमिकता देते तथा उसे अधिक पुण्यकर समझते हैं। अत्रि के अनुसार 'प्रथम वर्ष में चौल संस्कार करने से दीर्घायुष्य तथा ब्रह्मवर्चस प्राप्त होता है। तृतीय वर्ष में करने से यह समस्त कामनाओं की पूर्ति करता है। पशुकाम व्यक्ति को पंचम वर्ष में यह संस्कार करना चाहिए, किन्तु युग्म अथवा सम वर्षों में इसका

(१) पा गृ सू. २. १. १-२.।
(२) म. स्मृ २. ३५.।
(३) तृतीये पंचमे वाऽब्दे चौलकर्म प्रशस्यते।
प्राग्वाऽसमे सप्तमे वा सहोपनयनेन वा॥ आश्वलायन, वी मि. सं. भा १. २९६ पर उद्धृत।

सम्पन्न करना गर्हित है[1]।' 'तृतीय वर्ष में सम्पन्न चूडाकरण को विद्वान् सर्वोत्तम समझते हैं। षष्ठ अथवा सप्तम वर्ष में यह साधारण है; किन्तु दसवें अथवा ग्यारहवें वर्ष में यह निकृष्टतम माना जाता है[2]।

६. संस्कार का समय

यद्यपि ज्योतिष-विषयक तथा अन्य नियामक तत्वों से गृह्यसूत्र परिचित नहीं हैं, किन्तु उत्तर-स्मृति-काल में चूडाकरण का समय निश्चित करते समय उन पर विचार किया जाता था। सूर्य के उत्तरायण में होने पर यह सम्पन्न होता था। राजमार्तण्ड के अनुसार चैत्र और पौष, किन्तु सारसंग्रह के अनुसार ज्येष्ठ तथा मार्गशीर्ष मास इस संस्कार के लिए वर्जित थे[3]। यह दिन के ही समय में किया जाता था। इसका प्रत्यक्ष कारण यह था कि रात्रि में केशच्छेदन भय से रहित नहीं था। शिशु की माता के गर्भिणी होने पर उसका चौर-कर्म निषिद्ध था,[4] क्योंकि वह संस्कार में भाग नहीं ले सकती थी। किन्तु यह नियम गर्भावस्था के पञ्चम मास के पश्चात् लागू हो सकता था[5]। इसके अतिरिक्त यह नियम उस अवस्था में लागू नहीं होता था, जब कि संस्कार शिशु की पाँच वर्ष की आयु के पश्चात् होता था[6]। शिशु की माता के रजस्वला होने पर उसके शुद्ध होने तक संस्कार स्थगित कर दिया जाता था। इस अवधि में संस्कार सम्पन्न होने पर उसके दुष्परिणामों की आशङ्का रहती थी। 'माता के रजस्वला होने पर विवाह, उपनयन तथा चूडाकरण संस्कार करने से नारी विधवा हो जाती है, ब्रह्मचारी जड़ हो जाता

---

(१) तृतीये वर्षे चौले तु सर्वकामार्थसाधनम्।
संवत्सरे तु चौलेन आयुष्यं ब्रह्मवर्चसम्॥
पञ्चमे पशुकामस्य युग्मे वर्षे तु गर्हितम्॥ अत्रि, वही. पृ. २९८।

(२) नारद-स्मृति, वी. मि. सं. भा. १. पृ. २९६ पर उद्धृत।

(३) वही. पृ. ३००।

(४) गर्भिण्यां मातरि शिशोः क्षौरकर्म न कारयेत्। बृहस्पति, वही. पृ. ३१२।

(५) वसिष्ठ, वही. पृ. ३१२।

(६) ना. स्मृ. वही।

है तथा शिशु की मृत्यु हो जाती है[1]।' निस्सन्देह, उक्त वचन में अशिक्षित तथा अर्धसभ्य लोगों को चेतावनी दी गई है, किन्तु इस निषेध के मूल में यह धारणा निहित थी कि रजस्वला अवस्था में माता अर्धरुग्ण रहती है, अतः वह संस्कार में योगदान नहीं कर सकती, जिसके बिना संस्कार का आधा हर्ष और आनन्द नष्ट हो जाता। चूडाकरण के पूर्ववर्ती संस्कारों में यह प्रश्न नहीं उठाया गया है। इसका कारण यह है कि यह प्रश्न उठता ही नहीं था, क्योंकि गर्भावस्था तथा प्रसव के पश्चात् कुछ मास पर्यन्त मासिक धर्म अवरुद्ध हो जाता है।

७. स्थान का चुनाव

गृह्यसूत्रों में अनुपलब्ध एक अन्य विकास जिसका उद्भव परवर्ती प्रथाओं से हुआ, उस स्थान के चुनाव से सम्बन्धित है, जहाँ संस्कार सम्पन्न होना चाहिए। वैदिक तथा सूत्र-काल में संस्कारों सहित समस्त गृह्ययज्ञों का केन्द्र गृह था। किन्तु परवर्ती युगों में यज्ञ व्यापक रूप से प्रचलित नहीं रहे तथा प्रत्येक घर में आहवनीय अग्नि प्रदीप्त नहीं रखी जाती थी। अतः गृहस्थ संस्कार सम्पन्न करने के स्थान को घर के बाहर भी स्थानान्तरित कर सकता था। कर्मकाण्डीय धर्म के ह्रास तथा भक्तिमार्ग और मूर्तिपूजा के प्रचलित होने पर देवालय ही धार्मिक क्रिया-कलापों के केन्द्र बन गये। निराशा तथा शिशुओं की मृत्यु के पश्चात् माता-पिता सन्तति के लिए देवताओं से मनौती मनाने लगे। यदि भाग्यवश सन्तति प्राप्त हो जाती तो वे यह समझते थे कि वह शिशु देवताओं का वरदान है। आराधित देवता के सम्मान में कतिपय संस्कार करना भी वे आवश्यक समझने लगे। सम्प्रति प्रत्येक कुल का कोई न कोई आराध्य देवता है, जिसके मन्दिर में चूडाकरण तथा उपनयन संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं[2]।

---

(१) विवाहे विधवा नारी जडत्व मतबन्धने।
चौले चैव शिशोर्मृत्युस्तस्मादेतन्त्रयं त्यजेत्॥
वृद्ध-गार्ग्य, वी. मि. सं. भा १. पृ. २१२ पर उद्धृत।

(२) किन्तु यह प्रथा अधिक व्यापक नहीं है।

८. शिखा की व्यवस्था

शिखा रखना चूडाकरण संस्कार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग था, जैसा कि स्वयं संस्कार के नाम से सूचित होता है। शिखा कुल की प्रथा के अनुसार रखी जाती थी—'केशों की व्यवस्था (केशवेशान्) अपने कुल-धर्म के अनुसार करनी चाहिए[1]।' शिखाओं की संख्या प्रवरों की संख्या—जो तीन या पाँच हो सकती है—के आधार पर निश्चित की जाती थी। लौगाक्षि विभिन्न कुलों में अधो-लिखित विभिन्न प्रथाओं के अनुसरण का इस प्रकार उल्लेख करते हैं: 'वसिष्ठ के वंशज सिर के मध्यभाग में केवल एक ही शिखा रखते हैं। अत्रि तथा कश्यप के वंशज दोनों ओर दो शिखायें रखते हैं। भृगु के वंशज मुण्डित रहते हैं। अङ्गिरस् के वंशज पाँच शिखायें रखते हैं। कुछ लोग केशों की एक पङ्क्ति रखते हैं तथा अन्य केवल एक शिखा[2]। 'आगे चलकर उत्तर भारत में सम्भवतः सादगी तथा शालीनता की दृष्टि से एक ही शिखा रखने की प्रथा व्यापक हो गयी, यद्यपि दक्षिण में अंशतः प्राचीन प्रथाएँ अद्यावधि जीवित हैं। भार्गवों की प्रथा बंगालियों में प्रचलित है, जो शिखा रखने पर विशेष ध्यान नहीं देते।

शिखाओं की विशिष्ट संख्या रखने की पद्धति प्राचीन जनों में प्रचलित थी तथा अपने कुल का चिह्न समझी जाती थी।

शिखा अपने विकास के क्रम में हिन्दुओं का एक अनिवार्य चिह्न बन गयी। सम्भव है यह बौद्ध धर्म तथा संन्यास के विरुद्ध प्रतिक्रिया हो। शिखा तथा यज्ञोपवीत द्विजों के अनिवार्य बाह्य-चिह्न हैं। शिखा तथा यज्ञोपवीत न धारण करनेवाला व्यक्ति धार्मिक संस्कारों का पूर्ण पुण्य नहीं प्राप्त करता। 'यज्ञोपवीत तथा शिखा अवश्य धारण करनी चाहिए; उनके बिना धार्मिक संस्कारों का अनुष्ठान न करने के समान है[3]। 'शिखा का छेदन करनेवाले व्यक्तियों के लिए प्रायश्चित का विधान किया गया है: 'जो द्विजाति मोह, द्वेष अथवा अज्ञान के वशीभूत होकर शिखा का छेदन करते हैं, वे तप्तकृच्छ्र व्रत के द्वारा

(१) यथाकुलधर्मं केशवेशान् कारयेत्। आ. गृ. सू. १. १७।

(२) वी. मि. सं. भा. १ पृ. ३१५ पर उद्धृत।

(३) विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम्।

देवल, वी. मि. सं. भा. १. पृ. ३१५ पर उद्धृत।

शुद्ध होते हैं [१]।' आधुनिक काल में शिखा रखने की प्रथा महान् सङ्कट-काल से गुज़र रही है। अंग्रेज़ी-शिक्षा में दीक्षित युवकों की एक विशाल संख्या इसका त्याग कर चुकी है। किन्तु नये फैशन के उत्साह में वे आज भी अपने पूर्वज भार्गवों के पदचिह्नों पर चल रहे हैं।

९. विधि

चूडाकरण संस्कार के लिए एक शुभ दिन निश्चित कर लिया जाता था [२]। आरम्भ में सङ्कल्प, गणेश की पूजा, मङ्गल श्राद्ध आदि प्रारम्भिक कृत्य सम्पन्न किये जाते थे, तब ब्राह्मण-भोजन होता था। इसके पश्चात् शिशु को लेकर माता उसे स्नान कराती, उसे एक ऐसे वस्त्र से ढँक देती जो अभी तक धोया न गया हो और उसे अपनी गोद में लेकर यज्ञिय अग्नि के पश्चिम ओर बैठ जाती थी। उसे पकड़े हुए पिता आज्य आहुतियाँ देता था तथा यज्ञशेष भोजन कर चुकने पर निम्नलिखित शब्दों के साथ उष्ण जल को शीतल जल में छोड़ता था : 'उष्ण जल के साथ यहाँ आओ, वायु ! अदिति ! केशों का छेदन करो।' वह घी अथवा दही का कुछ भाग पानी के साथ मिलाकर उससे दाहिने कान की ओर के केशों को इन शब्दों के साथ भिगोता था : 'सविता की प्रेरणा से दिव्य जल तेरी देह को शुद्ध करे, जिससे तू दीर्घायुष्य तथा तेज प्राप्त कर सके'। शल्यक के उस काँटे से, जिस पर दो श्वेत बिन्दु होते थे, केशों को विकीर्ण कर, उनमें कुश की तीन पत्तियों को—'हे कुश, शिशु की रक्षा कर। उसे पीड़ा न पहुँचा' इस वचन के साथ रखता था। तब पिता 'तू नाम से शिव है; स्वधिति तेरा पिता है; तुझे मैं नमस्कार करता हूँ; तू इस शिशु की हिंसा न कर' इस मन्त्र के साथ अपने हाथ में एक लोहे का उस्तरा उठाता और 'मैं आयुष्य, अन्नाद्य, प्रजनन, ऐश्वर्य (रायस्पोष), सुप्रजास्त्व तथा सुवीर्य के लिए केशों को काटता हूँ' इस मन्त्र के साथ केशों का छेदन करता था। 'वह क्षुरा, जिससे

(१) शिखां छिन्दन्ति ये मोहाद् द्वेषादज्ञानतोऽपि वा।
तप्तकृच्छ्रेण शुध्यन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥ लघु-हारीत, वही।

(२) पापग्रहाणां वारादौ विप्राणां शुभदं रवेः।
क्षत्रियाणां क्षमासूनोर्विट्शूद्राणां शनौ शुभम्॥
बृहस्पति, गदाधर द्वारा पा. गृ. सू. २. १. ४. पर उद्धृत।

विद्वान् सविता ने राजा सोम तथा वरुण का चौर किया था, हे महान्, दीर्घायुष्य तथा वृद्धावस्था की प्राप्ति के लिए उसी छुरे से इसके शिर का मुण्डन करो।'

केशों के साथ ही कुश की पत्तियों का भी छेदन कर वह उन्हें बैल के गोबर के पिण्ड पर छोड़ देता था, जो अग्नि के उत्तर में रखा रहता था। इसी प्रकार केशों की दो अन्य लटें भी मौनपूर्वक काट दी जाती थीं। शिर के पीछे के केशों को वह 'तिगुनी आयु' आदि मन्त्र के साथ काटता था। इसके पश्चात् 'उस प्रार्थना के द्वारा जिससे कि तू बलवान् हो तथा स्वर्ग प्राप्त कर सके; दीर्घकाल तक सूर्य को देख सके; आयुष्य, सत्ता, दीप्ति तथा कल्याण के लिए मैं तेरा मुण्डन करता हूँ।' इस मन्त्र के साथ बायीं ओर के केशों का छेदन करता था।

'जब नापित सुन्दर आकृतिवाले छुरे से शिशु के सिर का मुण्डन करता है, उस समय इसके सिर को शुद्ध करो, किन्तु इसके जीवन का हरण न करो।' इस मन्त्र के साथ पिता बायीं से दाहिनी ओर तक तीन बार केशों को काटता था। वह पुनः उस जल से उसके सिर को आर्द्र करता और 'बिना आघात पहुँचाए उसका मुण्डन कर' इन शब्दों के साथ छुरा नापित को दे देता था। शिर के ऊपर केशों के अवशिष्ट गुच्छे कुल की परम्परा के अनुसार व्यवस्थित किये जाते थे। अन्त में केशों के साथ ही वह गोमय-पिण्ड भी गो-शाला में गाड़ दिया जाता था, या किसी छोटे तालाब में फेंक दिया जाता अथवा जल के निकटवर्ती प्रदेश में कहीं आवृत कर दिया जाता था। आचार्य तथा नापित को दान-दक्षिणा देने के साथ संस्कार समाप्त हो जाता था।

१०. विधि-विधानों के प्रमुख तत्त्व

चूडाकरण-सम्बन्धी विधि-विधानों में निम्नलिखित प्रमुख तत्त्व स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होते हैं। प्रथम है शिर को आर्द्र करना। इसका प्रयोजन मुण्डन को सरल और सुविधाजनक बनाना था। अक्षति तथा अनाहति के लिए प्रार्थना के साथ केशों का छेदन संस्कार का द्वितीय अंग था। शिशु के कोमल शिर पर लोहे के छुरे को देखकर पिता के हृदय में भय का सञ्चार हो जाता था। वह उसकी स्तुति करता तथा बालक को क्षति न पहुँचाने के लिए उससे प्रार्थना करता था। संस्कार का तृतीय तत्त्व गोबर के पिण्ड के साथ कटे हुए केशों का छिपाना या फेंकना है। केशों को शरीर का एक अङ्ग माना जाता था और

परिणामस्वरूप शत्रुओं द्वारा उस पर जादू तथा अभिचार का प्रयोग सम्भव था। अतः वह उनकी पहुँच से दूर कर दिया जाता था। शिखा रखना चूड़ाकरण संस्कार का चतुर्थ तत्त्व है। यह एक जातीय प्रथा थी तथा विभिन्न कुलों में यह व्यापक रूप से प्रचलित थी। अनेक प्राचीन जन अपने सिर पर बालों का गुच्छा रखते थे तथा कतिपय एशियायी देशों में आज भी यह प्रथा प्रचलित है।[1]

११. दीर्घायुष्य के साथ शिखा का सम्बन्ध

इस संस्कार के अवसर पर उच्चारित प्रार्थनाओं की सर्वाधिक विस्मयजनक विशेषता यह है कि उनका प्रयोजन शिशु का दीर्घायुष्य था। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि हिन्दूशास्त्रकारों की इस धारणा का आधार क्या था कि चूड़ाकरण से दीर्घायुष्य की प्राप्ति होती है। क्या दीर्घजीवन और चूड़ाकरण के मध्य कोई सम्बन्ध है? सुश्रुत दोनों का सम्बन्ध जानने में पुनः हमारी सहायता करता है।[2] उसके अनुसार 'मस्तक के भीतर ऊपर की ओर शिरा तथा सन्धि का सन्निपात है। वहीं रोमावर्त में अधिपति है। इस अङ्ग को किसी भी प्रकार का आघात लगने पर तत्काल ही मृत्यु हो जाती है'। अतः इस महत्त्वपूर्ण अङ्ग की सुरक्षा आवश्यक मानी जाती थी तथा उसी अङ्ग पर शिखा रखने से इस प्रयोजन की पूर्ति हो जाती थी।

---

(१) एशिया से अलास्का की ओर जिन जनों ने प्रव्रजन किया, वे केशों के एक गुच्छे को छोड़कर अपने सिरों का मुण्डन करते थे (दि बुक ऑव् नौलेज, भा. १, पृ. १५–१६)। चीनी तथा तिब्बती इस समय भी अपने सिर पर केशों के गुच्छे रखते हैं।

(२) मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्टात् शिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिस्तत्रापि सद्यो मरणम्। शरीरस्थान, अध्या. ६. ८३।

षष्ठ परिच्छेद

कर्णवेध

१. प्रादुर्भाव तथा पूर्व इतिहास

आभूषण पहनने के लिए विभिन्न अङ्गों के छेदन की प्रथा सम्पूर्ण संसार की असभ्य तथा अर्धसभ्य जातियों में प्रचलित है। अतः इसका उद्भव अति प्राचीनकाल में ही हुआ होगा। किन्तु सभ्यता के उन्नत होने पर भी अलंकरण प्रचलित रहा, यद्यपि वह परिष्कृत हो गया था। जहाँ तक कानों के छेदने का प्रश्न है, निस्सन्देह आरम्भ में अलंकरण के लिए इसका प्रचलन हुआ, किन्तु आगे चलकर यह उपयोगी सिद्ध हुआ, और इसकी आवश्यकता पर बल देने के लिए इसे धार्मिक स्वरूप दिया गया। सुश्रुत कहता है कि 'रोग आदि से रक्षा तथा भूषण या अलंकरण के निमित्त बालक के कानों का छेदन करना चाहिए[1]।' अण्डकोश-वृद्धि तथा अन्त्र-वृद्धि के निरोध के लिए वह पुनः कर्ण-वेध का विधान करता है[2]। इस प्रकार यह जीवन के आरम्भ में किया जाने वाला पूर्व-उपाय था, जिससे उपर्युक्त रोगों का यथासम्भव निरोध किया जा सके।

कर्णवेध की संस्कार के रूप में मान्यता तथा उससे सम्बन्धित विधिविधानों का उद्भव अत्यन्त आधुनिक काल में हुआ। किसी भी गृह्यसूत्र में इसका उल्लेख नहीं है। पारस्कर-गृह्यसूत्र के परिशिष्टस्थ कात्यायन सूत्रों में ही इसका प्रथम वर्णन किया गया है। परवर्ती पद्धतियाँ इस संस्कार का वर्णन करती हुई

---

(१) रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येत्। शरीरस्थ.न, १६।१।

(२) शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्।
व्यत्यासाद्वा शिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये॥
वही, चिकित्सास्थान १९।२१।

'याज्ञिक लोग इस प्रकार कहते हैं,' आदि शब्दों में अपने प्रमाणों को उद्धृत करती हैं, जिससे अनुमान होता है कि मूल में इस संस्कार के लिए कोई धर्मशास्त्रीय प्रमाण नहीं था। संस्कारों की सूची में इसके आधुनिक समावेश का कारण यह है कि इसका मूल प्रयोजन अलंकरणात्मक था और कोई भी धार्मिक भावना इससे संयुक्त न थी। अत्यन्त विस्तृत अर्थ में ही संस्कारों के पवित्र क्षेत्र में इसका प्रवेश हुआ।

अथर्ववेद के एक सूक्त में कर्णवेध का उल्लेख किया गया है[1]। 'किन्तु कौशिक ने इसका व्यवहार पशुओं के कानों को चिह्नित करने में किया है[2], और कर्णवेध के प्रसंग में किसी भी परवर्ती आचार्य ने इसे उद्धृत नहीं किया है।

२. संस्कारयोग्य आयु और समय

बृहस्पति के अनुसार यह संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् दसवें, बारहवें अथवा सोलहवें दिन किया जाता था[3]। गर्ग के अनुसार षष्ठ, सप्तम, अष्टम अथवा द्वादश मास इस संस्कार के लिये उपयुक्त समय है। श्रीपति का मत है कि शिशु के दाँत निकलने के पूर्व और जब कि शिशु माता की गोद में ही खेलता हो, कर्णवेध संस्कार सम्पन्न करना चाहिए[4]। किन्तु कात्यायन-सूत्र कर्णवेध संस्कार के उपयुक्त समय के रूप में शिशु के तृतीय अथवा पंचम वर्ष का विधान करता है[5]। अल्प आयु के मूल में यह विचार निहित प्रतीत होता है कि कानों का छेदन अपेक्षाकृत सरल तथा अल्पकष्टकारी होगा। शारीरिक सुविधा का ध्यान रखते हुए सुश्रुत षष्ठ अथवा सप्तम मास को प्राथमिकता देता है[6]। पारस्कर के गृह्य-परिशिष्ट की रचना परवर्ती काल में हुई थी जबकि कर्णवेध ने एक संस्कार का

---

(१) ६। (२) कौ. सू.।

(३) जन्मतो दशमे वाह्नि द्वादशे वाऽथ षोडशे। बृहस्पति वी. मि. सं. भा. १, पृ. २५८ में उद्धृत।

(४) शिशोरजातदन्तस्य मातुरुत्संगसर्पिणः।
सौचिको वेधयेत्कर्णौ सूच्या द्विगुणसूत्रया॥
वी. मि सं. भा. १, पृ. २६१ पर उद्धृत।

(५) पा. गृ. सू. परिशिष्ट १।

(६) सुश्रुत, सूत्रस्थान, अ. १६-१।

रूप ग्रहण कर लिया था और बालक के कष्ट अथवा सुविधा की ओर इस समय कोई ध्यान दिये बिना संस्कार करना अनिवार्य हो गया था। तृतीय और पञ्चम वर्ष चूडाकरण संस्कार के लिए भी विहित हैं अतः यदि कात्यायनसूत्र के विचार को माना जाय तो दोनों संस्कार साथ-साथ सम्पन्न होते रहे होंगे। आजकल बहुधा चूडाकरण और कर्णवेध उपनयन के साथ किये जाते हैं।

३. संस्कार-कर्ता

कात्यायन सूत्र के मतानुसार यह संस्कार पिता द्वारा किया जाता था परन्तु इस विषय में वह मौन है कि कानों का छेदन किसे करना चाहिये। सुश्रुत के अनुसार भिषक् को बायें हाथ से कर्णवेध करना चाहिये[1]। किन्तु मध्यकालीन लेखक श्रीपति यह विशेषाधिकार व्यावसायिक सौचिक (सुई बनाने या उससे काम करनेवाला) और प्रायः सुनार को देते हैं[2]। अपने वंश-परम्परागत-अनुभव के कारण कर्णवेध के लिए अधिकांशतः सुनार ही आमन्त्रित किया जाता है।

४. सुई के प्रकार

कान छेदनेवाली सुई के प्रकार भी कर्मकाण्डीय लेखकों द्वारा नियत हैं। 'स्वर्णमयी सूची शोभादायिनी है किन्तु अपने सामर्थ्य के अनुसार चाँदी अथवा लोहे की सुई का भी व्यवहार किया जा सकता है[3]।' स्मृतिमहार्णव सभी के लिए ताँबे की सूचिका का विधान करता है। 'श्वेत सूत्र से आवृत ताम्र सूची से कर्णवेध करना चाहिए[4]।' शिशु की जाति के अनुसार इसमें भेद हो सकता था। 'राजपुत्र के लिए स्वर्णमयी-सूची, ब्राह्मण व वैश्य के

---

(१) भिषग्वामहस्तेन······विध्येत्। वही, अ. १६-२।

(२) सौचिको वेधयेत्कर्णौ सूच्या द्विगुणसूत्रया। श्रीपति।

(३) शातकुम्भमयी सूची वेधने शोभनप्रदा।
राजती चाऽयसी वाऽपि यथा विभवतः शुभा॥
बृहस्पति वी. मि. सं. में उद्धृत।

(४) स्मृति-महार्णव, वही।

लिये रजतनिर्मित सूची तथा शूद्र के लिये लौह-सूचिका व्यवहार में लानी चाहिए[1]।' इस भेदपूर्ण व्यवहार का आधार आर्थिक था।

५. संस्कार की अनिवार्यता

कर्णवेध के धार्मिक स्वरूप ग्रहण करने पर इसका करना अनिवार्य हो गया तथा इसकी अवहेलना पाप समझी जाने लगी। इसकी अवज्ञा करनेवाला अपने स्थान से पतित माना जाता था। मध्ययुगीन स्मृतिकार देवल लिखते हैं: 'जिस ब्राह्मण के कर्णरन्ध्र में सूर्य की छाया प्रवेश नहीं करती उस ब्राह्मण को देखते ही सम्पूर्ण पुण्य नष्ट हो जाते हैं। उसे श्राद्ध में आमन्त्रित नहीं करना चाहिये, अन्यथा आमन्त्रित करने वाला असुर हो जाता है'[2]।

६. विधि-विधान

कात्यायन-सूत्र में वर्णित कर्णवेध संस्कार अत्यन्त साधारण है। एक शुभ दिन में मध्याह्न के पूर्व दिन के पूर्वार्द्ध में यह संस्कार किया जाता था। शिशु को पूर्वाभिमुख बैठा कर उसे कुछ मिठाइयाँ दी जाती थीं। इसके पश्चात् अधोलिखित मन्त्र के साथ शिशु का दायाँ कान छेदा जाता था: 'हम अपने कानों से भद्र-वाणी सुनें' आदि। और बायाँ कान 'वक्ष्यन्ति' आदि मन्त्र के साथ छेदा जाता था। ब्राह्मण-भोजन के साथ संस्कार समाप्त होता था[3]।

७. कर्णवेध के विषय में सुश्रुत का मत

सुश्रुत इस संस्कार की विधि का अत्यन्त सतर्क वर्णन प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि कर्णवेध संस्कार षष्ठ अथवा सप्तम मास में, शुक्ल पक्ष में किसी

---

(१) सौवर्णी राजपुत्रस्य राजती विप्रवैश्ययो।
शूद्रस्य चायसी सूची मध्यमाष्टांगुलात्मिका॥
वी० मि० सं० भा० १, पृ० २६१ पर उद्धृत।

(२) कर्णरन्ध्रे रवेश्छाया न विशेदग्रजन्मन।
तं दृष्ट्वा विलयं यान्ति पुण्यौघाश्च पुरातना॥
तस्मै श्राद्धं न दातव्यं यदि चेदासुरं भवेत्। देवल, वही।

(३) पा० गृ० सू० परिशिष्ट कर्णवेधसूत्र १ २।

शुभ दिन में सम्पन्न करना चाहिये। आरम्भिक कार्यों के पश्चात् शिशु को माता अथवा धाई की गोद में रख उसे खिलाना चाहिये और खिलाने के माध्यम से संस्कार के लिये प्रस्तुत करना चाहिये। इसके पश्चात् भिषक् को अपने बायें हाथ से शिशु के कानों को खींचकर उनके प्राकृतिक छिद्रों को, जो सूर्य के प्रकाश में स्पष्ट दिखाई देते हैं, छेदना चाहिये। यदि कान कोमल हों तो सुई और यदि कठोर हों तो सूजे का व्यवहार करना चाहिये। कर्णवेध के पश्चात् रुई के धागे अथवा वर्तिका के द्वारा छिद्रों में तेल छोड़ना चाहिये।[1]

८. उत्तरकालीन स्वरूप

संस्कारों का विवेचन करने वाले परवर्ती लेखकों ने इस संस्कार में अनेक धार्मिक तत्वों और सामाजिक मनोविनोद का समावेश कर दिया जिनका उद्भव अत्यन्त आधुनिक काल में हुआ। संस्कार के दिन केशव (भगवान् विष्णु), हर (शिव), ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्र, दिक्पाल, नासत्य, सरस्वती, ब्राह्मण तथा गायों का पूजन किया जाता था। कुलगुरु को अलंकृत कर उन्हें एक आसन दिया जाता था। तब शुभ्र वस्त्रों से सुसज्जित धात्री भली-भाँति अलंकृत कर शिशु को लाती थी, जिसके कान लाल चूर्ण से रँगे रहते थे। शिशु को फुसलाया और शान्त रखा जाता था। वैद्य एक ही बार में किन्तु बहुत धीरे उसके कान छेद देता था। पहले बालक का दाहिना और कन्या का बायाँ कान छेदा जाता था। अन्त में ब्राह्मणों, ज्योतिषियों और वैद्य को दान-दक्षिणा दी जाती थी तथा स्त्रियों, मित्रों और सम्बन्धियों का सत्कार और मनोरञ्जन किया जाता था[2]।

---

(१) सुश्रुत, सूत्रस्थान अ० १६।१।

(२) विष्णुधर्मोत्तर, वी० मि० सं० भा० १, पृ० २६२ पर उद्धृत।

सप्तम अध्याय

शैक्षणिक संस्कार

प्रथम परिच्छेद

विद्यारम्भ संस्कार

१. संस्कार का नाम, अर्थ और प्रयोजन

जब बालक का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता था, तब शिक्षा का आरम्भ विद्यारम्भ संस्कार के साथ किया जाता था और उसे अक्षर सिखाए जाते थे। इस संस्कार के अनेक नाम दिये गये हैं। विभिन्न धर्मशास्त्रकारों ने विद्यारम्भ,[1] अक्षरारम्भ,[2] अक्षरस्वीकरण,[3] अक्षरलेखन आदि[4] नामों से इसका उल्लेख किया है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह प्राकृत संस्कार न होकर सांस्कृतिक संस्कार है। इसका उद्भव सभ्यता की अत्यन्त उन्नत अवस्था में हुआ, जब वर्णमाला का विकास हो चुका था और लिखने में उसका उपयोग किया जाने लगा था।

२. सूचना के स्रोत

यद्यपि क्रम की दृष्टि से विद्यारम्भ संस्कार उपनयन के पूर्व आता है, किन्तु उद्भव की दृष्टि से विद्यारम्भ उपनयन संस्कार की अपेक्षा अत्यन्त परवर्ती है। गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों और प्राचीन स्मृतियों में इसका उल्लेख नहीं किया गया है। संस्कार-विषयक मध्यकालीन और आधुनिक निबन्धों में भी इसका समावेश नहीं है। कतिपय निबन्ध, जैसे वीरमित्रोदय (संस्कार-प्रकाश, भा. १, पृ. ३२१), स्मृतिचन्द्रिका (संस्कार-काण्ड, पृ. ६७), गोपीनाथ भट्ट की

---

(१) वी. मि. सं., भा. १, पृ. ३२१, विश्वामित्र, वही।

(२) गोपीनाथ भट्ट : संस्कार रत्नमाला, १।

(३) वसिष्ठ, वी. मि. सं., भा. १, पृ. ३२१ पर उद्धृत।

(४) मार्कण्डेय, वही।

संस्कार-रत्नमाला तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति की अपरार्क-कृत व्याख्या ही इस संस्कार के विषय में प्रमाण हैं। उक्त सभी ग्रन्थ भारतीय कर्मकाण्ड साहित्य के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त आधुनिक हैं और साधारणतः उन्हें ग्यारहवीं शताब्दी से परवर्ती काल में रक्खा जा सकता है।[1] विश्वामित्र,[2] मार्कण्डेय[3] और बृहस्पति[4] आदि प्रमाणभूत आचार्यों के नाम पर जो उद्धरण दिये गये हैं, वे भी बहुत प्राचीन नहीं हैं। उक्त आचार्यों के नाम पर जो ज्योतिष सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत किये गये हैं, वे ईसा की सातवीं या आठवीं शताब्दी से प्राचीन नहीं हैं, अतः यह स्पष्ट है कि उक्त विवरण इन शताब्दियों के पश्चात् अस्तित्व में आये।[5]

३. परवर्ती उद्भव और इसका कारण

यह अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र, जिनमें निष्क्रमण (बालक का पहले पहल घर से बाहर निकलना) और अन्न-प्राशन (शिशु को पहले पहल अन्न खिलाना) जैसे साधारण संस्कारों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है, विद्यारम्भ जैसे महत्त्वपूर्ण संस्कार का उल्लेख ही नहीं करते, जिससे शिक्षा का आरम्भ होता था और इस कारण उसका बालक के जीवन के लिये अनिर्वचनीय महत्त्व था। यह संस्कार भूल से तो छूट नहीं सकता था। इसका स्पष्टीकरण केवल इस तथ्य द्वारा किया जा सकता है कि जब कि अधिकांश संस्कारों का उदय सूत्र युग में ही हो चुका था, यहाँ विद्यारम्भ संस्कार अत्यन्त परवर्ती काल तक भी अस्तित्व में नहीं आया था। संस्कृत उस समय बोलचाल की भाषा थी और प्राथमिक शिक्षा का आरम्भ उपनयन संस्कार से होता था। संस्कृत के अध्ययन के लिये लिखने और पढ़ने की प्राथमिक योग्यता अलग से आवश्यक नहीं थी। बालक की शिक्षा वैदिक ऋचाओं के कण्ठस्थ करने से लेखन-कला की सहायता के बिना ही आरम्भ होती

---

(१) पी. वी. काणे : हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, पृ. ४४०, ३४३, ३२८।
(२) वही, पृ. २३६। (३) वही, पृ. २०७।
(४) वही।
(५) वही; डॉ. अ. स. अल्तेकर, एज्यूकेशन इन एंश्येन्ट इण्डिया, पृ. २।

थी। इसके अतिरिक्त अतिप्राचीन काल में लेखनकला अज्ञात थी[1] या कम से कम बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा में उसका उपयोग नहीं होता था। अतः वर्णमाला की शिक्षा आरम्भ करने के लिये उपनयन के अतिरिक्त अन्य किसी संस्कार की आवश्यकता नहीं थी।

आगे चलकर संस्कृत बोल-चाल की जन-भाषा न रह गयी। हिन्दुओं का साहित्य समृद्ध हुआ और उसमें जटिलता आने लगी। व्याकरण, निरुक्त, शिक्षा आदि का विकास हुआ तथा अन्य अनेक विद्याएँ और शास्त्र भी अस्तित्व में आये। इस प्रकार साहित्य का भाण्डार निरन्तर विस्तृत होता जा रहा था और फलस्वरूप स्मरण द्वारा उसकी रक्षा करना प्रायः असम्भव हो गया। अतः विद्या के भाण्डार की सुरक्षा के लिए वर्णमाला और लेखन-कला का आविष्कार किया गया। अब संस्कृत साहित्य के अध्ययन के लिये पढ़ने और लिखने की प्राथमिक शिक्षा आवश्यक हो गयी। इस प्रकार अब उपनयन संस्कार प्राथमिक शिक्षा के आरम्भ का सूचक नहीं रह गया था। अब यह संस्कार माध्यमिक शिक्षा के आरम्भ का द्योतन करने लगा। अतः प्राथमिक शिक्षा आरम्भ करने के लिये एक नवीन संस्कार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये विद्यारम्भ संस्कार अस्तित्व में आया।

किन्तु विद्यारम्भ का उद्भव स्मृतियों में इसकी चर्चा होने के पूर्व ही हो चुका था। अक्षरारम्भ के संस्कार के रूप में विलम्ब से मान्य होने का कारण सम्भवतः यह था कि इस संस्कार का अनुष्ठान चौल या मुण्डन संस्कार के ही

(१) डॉ. बूलर (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, १९०४) के अनुसार भारतीयों को वर्णमाला का ज्ञान ई. पू. ८०० के पश्चात् हुआ, किन्तु उनकी यह धारणा सिन्धु घाटी की सभ्यता के आविष्कार और उसमें लेखन-कला का ज्ञान होने के कारण अब मान्य नहीं है। 'प्राचीन लिपि-माला' में महामहोपाध्याय रायबहादुर पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि भारत में लेखन-कला उत्तर-संहिता-काल (लगभग १६००-१२०० ई. पू.) में ज्ञात थी। इससे पूर्व भारतीयों को लेखन-कला का ज्ञात होना अनिश्चित है। पुनः देखिये लेखक की अन्य पुस्तक 'इंडियन पैलियोग्रॉफी' पृ. ६-१६।

साथ किया जाता था।[1] कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी इस धारणा की पुष्टि होती है,[2] जिसके अनुसार बालक की लिपि और संख्या की शिक्षा का आरम्भ चौल संस्कार के साथ होता था। भवभूति का नाटक उत्तर-रामचरित भी इसका साक्षी है। वाल्मीकि ने लव और कुश की शिक्षा चौल संस्कार के पश्चात् आरम्भ की और उन्होंने त्रयी (तीन वेद या चार वेद जिनमें तीन प्रकार के मन्त्र समाम्नात हैं) के अतिरिक्त अन्य अनेक विद्याओं का अध्ययन उपनयन संस्कार के पूर्व ही कर लिया था।[3] एक अन्य कारण भी था जिससे चूडाकरण संस्कार के साथ ही विद्यारम्भ का अनुष्ठान युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। चूडाकरण संस्कार चार से सात वर्ष की आयु के बीच किया जाता था और यही प्राथमिक शिक्षा आरम्भ करने की भी उपयुक्त आयु है। चूडाकरण के अवसर पर रखी जानेवाली शिखाओं की संख्या भी उस परिवार के प्रवरों की संख्या के अनुपात से निश्चित की जाती थी।[4] इस प्रकार चूडाकरण के साथ ही बालक की प्राथमिक शिक्षा आरम्भ करना अधिक सुविधाजनक था।

४. आयु

विश्वामित्र के अनुसार विद्यारम्भ संस्कार बालक की आयु के पाँचवें वर्ष में किया जाता था।[5] पण्डित भीमसेन शर्मा द्वारा षोडश-संस्कार-विधि में उद्धृत एक अज्ञातनामा स्मृतिकार के अनुसार यह संस्कार पाँचवें या सातवें वर्ष किया जा सकता था।[6] किन्तु यदि किन्हीं अनिवार्य परिस्थितियों के कारण इसे स्थगित करना पड़ जाता, तो उपनयन संस्कार के पूर्व किसी समय इसका किया जाना आवश्यक था। सुधी बालक को द्वितीय जन्म (उपनयन : माता के गर्भ से

(१) डॉ. अ. स. अल्तेकर, एज्यूकेशन इन एंश्येन्ट इण्डिया, (प्रथम संस्करण) पृ. २।

(२) वृत्तचौलकर्मा लिपिं सङ्ख्यानञ्चोपयुञ्जीत—१. २; रघुवंश, ३. २८।

(३) निवृत्तचौलकर्मणोश्च तयोस्त्रयीवर्जमितरास्तिस्रो विद्या' सावधानेन मनसा परिनिष्ठापिता। उत्तररामचरित, अङ्क १।

(४) यथर्षि शिखा निदधाति। आ. गृ. सू., १६. ६; व. गृ. सू. ४।

(५) वी. मि. स., भा. १, पृ. ३२१ पर उद्धृत।

(६) पञ्चमे सप्तमे वाब्दे। पण्डित भीमसेन शर्मा, षोडश संस्कारविधि।

बालक का भौतिक जन्म होता है और उपनयन के समय बालक का जीवन सांस्कृतिक दृष्टि से नये सिरे से आरम्भ होता है। अतः इसे द्वितीय जन्म और उपनयन के अधिकारी वर्णों को द्विज या द्विजन्मा कहा जाता है) के पूर्व अक्षरारम्भ अवश्य कर देना चाहिए[1]। इसके लिये उपयुक्त समय मार्गशीर्ष से ज्येष्ठ मास पर्यन्त था। आषाढ़ से कार्तिक तक विष्णु के शयन का समय माना जाता था, अतः इस समय विद्यारम्भ का अनुष्ठान निषिद्ध था[2]। इस सन्दर्भ में एक बात स्मरणीय है। सूत्र और प्राक्सूत्र युग में विशेष रूप से वर्षा ऋतु में ही शिक्षा-सत्र आरम्भ होता था। किन्तु उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार वही ऋतु इस संस्कार के लिये निषिद्ध थी।

५. विधि

सूर्य जब उत्तरायण में रहता था, उस समय कोई एक शुभ दिन संस्कार के लिए निश्चित कर लिया जाता था[3]। आरम्भ में बालक को स्नान कराया जाता और सुगन्धित पदार्थों तथा सुन्दर वेश भूषा से उसे अलंकृत किया जाता था। इसके पश्चात् विनायक, सरस्वती, बृहस्पति और गृहदेवता की पूजा की जाती थी। नारायण और लक्ष्मी का आराधन तथा अपने वेद और वैदिक चरण के सूत्रकारों के प्रति आदर प्रकट किया जाता था। तदनन्तर होम किया जाता था। गुरु, जो पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठता था, पश्चिम की ओर मुँह करके बैठे हुए बालक का अक्षरारम्भ करता था। रजतफलक पर केशर तथा अन्य द्रव्य बिखेर दिये जाते और सोने की लेखनी से उस पर अक्षर लिखे जाते थे। किन्तु क्योंकि यह केवल धनी परिवारों के लिए ही सम्भव था, अतः इस अवसर के लिये विशेष रूप से बनवायी लेखनी से चावल पर अक्षर लिखे जाते थे। इसके अतिरिक्त श्रीगणेशाय नमः, सरस्वत्यै नमः, गृहदेवताभ्यो नमः,

---

(१) द्वितीयजन्मतः पूर्वमारभेताक्षरान् सुधीः। बृहस्पति, वी. मि. सं. भा. १, पृ. ३२१ पर उद्धृत।

(२) अप्रसुप्ते जनार्दने विश्वामित्रः। वही।
आषाढशुक्लद्वादश्यां शयनं कुरुते हरिः।
निद्रां त्यजति कार्तिक्यां तयोः संपूज्यते हरिः॥ विष्णुधर्मोत्तर, वही।

(३) उदग्गते भास्वति। वसिष्ठ, वही।

लक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः, ये वाक्य भी लिखे जाते थे। इसके पश्चात् 'ॐनमः सिद्धाय' लिखा जाता था[1]। तब बालक गुरु का अर्चन करता था और गुरु बालक को लिखे हुए अक्षरों और उपर्युक्त वाक्यों को तीन बार पढ़ाता था। पढ़ने के पश्चात् बालक गुरु को वस्त्र और आभूषण आदि भेंट करता था और देवताओं की तीन प्रदक्षिणाएँ करता था। ब्राह्मणों को दक्षिणा दी जाती व सम्मानित किया जाता था और वे बालक को आशीर्वाद देते थे। जिनके पति और बच्चे जीवित रहते थे, ऐसी स्त्रियाँ आरती उतारती थीं। अन्त में गुरु को एक पगड़ी या साफा भेंट किया जाता था। देवताओं के अपने-अपने स्थानों को प्रत्यावर्तन के साथ संस्कार समाप्त होता था[2]।

---

(१) इससे हिन्दू संस्कारों पर जैन धर्म का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

(२) पद्धति के विवरण के लिये देखिये : मार्कण्डेय पुराण और पण्डित भीमसेन शर्मा द्वारा प्रणीत षोडश संस्कार विधि।

मुसलमानों में भी अक्षरारम्भ संस्कार किया जाता है। इसे बिस्मिल्ला खानि कहा जाता है। यह पाँचवें वर्ष के चौथे मास, चौथे दिन की जाती है। मुगल सम्राट् हुमायूँ को, जब वह पाँच वर्ष, चार महीने, चार दिन का था, मकतब में प्रविष्ट किया गया था और उपर्युक्त समारोह के साथ यह उत्सव मनाया गया था।

(शाहजहाँ नामा, एशियाटिक सोसायटी ऑव् बंगाल, पृ ४५)

द्वितीय परिच्छेद

उपनयन संस्कार

१. उद्भव

यौवन के पदार्पण के अवसर पर किन्हीं विशेष संस्कारों का अनुष्ठान सार्वकालिक तथा विश्वजनीन है। उपयुक्त संस्कार और समारोह के साथ सामाजिक जीवन में युवक के प्रवेश का स्वागत किया जाता है। पारसी, मुसलमान, ईसाई आदि सभी धर्मों में इस प्रयोजन के लिये कुछ विशिष्ट विधि-विधानों का अनुष्ठान किया जाता है। संसार की असभ्य जातियाँ भी किसी न किसी विधि-विधान से अपने समाज में पदार्पण करनेवाले युवक का स्वागत करती हैं। ये विधि-विधान उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितना महत्त्वपूर्ण कोई भी अन्य सामाजिक संस्कार हो सकता है। इनका मूल समाज में है। इनका उद्देश्य युवक को नागरिक कर्तव्यों का क्रियात्मक रूप से निर्वाह करने के योग्य बनाना है। जनसाधारण जाति के महत्त्व को समझने लगता है और वह सामुदायिक जीवन को किसी भी मूल्य पर सुरक्षित रखना चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये जाति के नवविकसित सुमनों को अनुशासित किया जाता है, जिससे वे सभ्यता व संस्कृति की रक्षा का भार वहन करने योग्य हो सकें। इस प्रकार प्रकृत संस्कार का उदय समुदाय की नागरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ। परन्तु धीरे-धीरे इस पर भी धर्म का रंग चढ़ता गया। आरम्भिक जीवन का प्रत्येक अङ्ग धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत था और धार्मिक अभिस्वीकृति द्वारा ही किसी सामुदायिक कृत्य को मान्यता प्राप्त हो सकती थी।

२. दीक्षा के प्रकार

विभिन्न धर्मों और जातियों में युवकों की सांस्कृतिक एवं सामाजिक दीक्षा के विभिन्न प्रकार हैं। कतिपय असभ्य जातियों में उनकी सहनशक्ति की परीक्षा

द्वारा युवकों को समुदाय में दीक्षित किया जाता है[1]। किन्हीं विशेष समुदायों में लड़कियों को अस्थायी एकान्तवास द्वारा दीक्षित किया जाता है[2]। कतिपय जातियों में सामाजिक जीवन में प्रवेश के लिये युवकों के लिये धार्मिक निषेधों का पालन अनिवार्य होता है। कुछ वन्य जातियों में किसी विशेष अङ्ग का भङ्ग कर युवक को समुदाय में प्रविष्ट किया जाता है[3]। इस्लाम में अभी भी शिश्न के चमड़े का अग्र भाग काटकर समाज में दीक्षित किया जाता है।

३. हिन्दुओं में दीक्षा

व्यक्ति को समाज की पूर्ण सदस्यता की प्राप्ति में समर्थ बनाने की प्राचीन हिन्दुओं द्वारा आयोजित शिक्षा-व्यवस्था दीक्षा-विषयक आदिम धारणाओं की तुलना में अत्यधिक उन्नत थी। उनमें जाति का आधार स्पष्ट रूप से सांस्कृतिक था और सांस्कृतिक क्षमता के आधार पर ही कोई भी व्यक्ति समाज की सदस्यता प्राप्त कर सकता और पूर्ण अधिकारों व विशेष सुविधाओं का दावा कर सकता था। उपनयन के बिना कोई भी व्यक्ति द्विज नहीं कहला सकता था। जिस व्यक्ति का उपनयन न हुआ हो, वह समाज से बहिष्कृत तथा अपने सभी प्रकार के विशेषाधिकारों से वञ्चित हो जाता था। उपनयन संस्कार एक प्रकार से हिन्दुओं के विशाल साहित्य-भाण्डार के ज्ञान का प्रवेशपत्र था। समाज में प्रवेश का भी यह साधन था, क्योंकि इसके बिना कोई व्यक्ति आर्य-कन्या से विवाह नहीं कर सकता था। इस प्रकार हिन्दुओं की आदर्श जीवन-योजना में व्यापक शिक्षा समाज का अनिवार्य लक्षण और चिह्न मानी जाती थी। उपनयन के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसके द्वारा दीक्षित व्यक्ति की गणना द्विजों में होती थी। इस प्रकार के धार्मिक विधि-विधानों के माध्यम से मनुष्य के व्यक्तित्व के परिवर्तन की तुलना ईसाइयों की दीक्षा की विधि (बैप्टिज़म : बालक को ईसाई धर्म में प्रविष्ट करने का धार्मिक कृत्य) से भलीभाँति की जा सकती है, जो एक संस्कार मानी जाती है।

---

(१) फ्रोबेनियस, चाइल्डहुड ऑव मैन, अध्याय ३; फ्रेज़र, गोल्डन बाउ, द्वितीय सं. ३. पृ. ४४२।

(२) फ्रेज़र, गोल्डन बाउ, १. पृ. ८२६, ३. २०४।

(३) हर्बर्ट स्पेन्सर, प्रिंसिपल्स ऑव सोश्योलोजी, १. १८९, ३९०।

और व्यक्ति के जीवन के परिष्कार के लिये उस पर आध्यात्मिक प्रभाव डालती है। यदि हम संस्कारों के मूल पर दृष्टिपात करें तो हमें मनुष्य की यह बद्धमूल धारणा दृष्टिगत होती है कि संसार के साथ सम्पर्क के कारण व्यक्ति अपनी जन्मजात पवित्रता खो देता है। अतः पुनः आध्यात्मिकता के राज्य में प्रविष्ट होने के लिए उसे नवजीवन देना आवश्यक है।

४. उपनयन की प्राचीनता

उपनयन संस्कार की प्राचीनता अज्ञात है। इससे मिलता-जुलता नौजात (नया जन्म[1]) नामक पारसी संस्कार, जिसके द्वारा बालक-बालिकाएँ छः वर्ष तीन महीने की आयु की हो जाने पर धार्मिक दीक्षा प्राप्त करती हैं, सूचित करता है कि उपनयन या बालक की दीक्षा के संस्कार का उद्भव उसी युग में हो चुका था जब भारतीय आर्य और ईरानी लोग एक साथ रहते थे।

५. वैदिक युग

धार्मिक विद्याध्ययन के अर्थ में ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में दो बार हुआ है[2]। ऐसे छात्र का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जिसका उपनयन अभी-अभी हुआ है[3]। अथर्ववेद के दो मन्त्रों में वैदिक छात्र की प्रशंसा की गई है, जिनमें उपनयन संस्कार की अनेक उत्तरवर्ती विधियों का मूल उपलब्ध होता है[4]। वैदिक काल में छात्र को ब्रह्मचारी और अध्यापक को आचार्य कहा जाता था। ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार उसका द्वितीय जन्म माना जाता था : 'आचार्य उपनयन करता हुआ ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करता है। वह तीन रात्रि पर्यन्त उसे उदर में रखता है। जब वह जन्म (नवीन या द्वितीय जन्म) ग्रहण करता है तो देवगण उसे देखने के लिये एकत्र होते हैं[5]।' ब्रह्मचारी

---

(१) यह हिन्दुओं के द्वितीय जन्म से अत्यधिक साम्य रखता है।

(२) १०. १०९. ५।

(३) वही, ३. ८. ४. ५।

(४) ११. ५; १५।

(५) आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥
अ. वे., ११. ५. ३।

पवित्र मेखला धारण करता, मृगचर्म पहनता, लम्बी-लम्बी दाढ़ी-मूँछ रखता, समिधाएँ एकत्र करता और यज्ञिय अग्नि में उनका होम करता था : 'वैदिक ब्रह्मचारी सम्पूर्ण लोकों को समिधाओं, मेखला, श्रम तथा उत्साह से पूर्ण कर देता है······। वैदिक ब्रह्मचारी कृष्ण मृग का चर्म धारण करता है, वह अभिषिक्त है और उसकी मूँछ और दाढ़ी लम्बी-लम्बी हैं'[1]। वैदिक ब्रह्मचारी की भिक्षावृत्ति का उल्लेख इस प्रकार है : 'यह विशाल पृथिवी और आकाश ब्रह्मचारी को भिक्षा में प्राप्त हुए हैं'।[2] ब्रह्मचारी की उक्त सभी विशेषताएँ उत्तर वैदिक युग के कर्मकाण्ड साहित्य में भी मिलती हैं।

ब्राह्मणकाल में उपनयन को पूर्णतः कर्मकाण्ड का रूप मिल गया और इसकी विधि शनैः शनैः स्थिर और निश्चित होती जा रही थी[3]। ब्रह्मचारी स्वयं आचार्य के समीप जाता और उसके छात्र होने की अपनी इच्छा व्यक्त करता था : 'मैं ब्रह्मचर्य के लिये आया हूँ, कृपया मुझे ब्रह्मचारी होने की अनुज्ञा प्रदान करें।' इस पर आचार्य ब्रह्मचारी का नाम पूछता और उसे अपने छात्र के रूप में ग्रहण करता था। इसके पश्चात् वह ब्रह्मचारी का हाथ पकड़कर अनेक ऋचाओं का उच्चारण करता हुआ उसकी रक्षा के लिये देवताओं से प्रार्थना करता था। वह उसके आचार और व्यवहार के मार्गदर्शन के लिये पाँच आज्ञाएँ भी (पञ्च यमों के पालन का आदेश) देता था। तब ब्रह्मचारी को गायत्री मन्त्र का उपदेश दिया जाता और आचार्य तीन दिनों तक पूर्णतः संयम (यम और नियम) का पालन करता था : 'जब आचार्य ने किसी ब्राह्मण को अपने ब्रह्मचारी के रूप में कर लिया हो, तो उसे मैथुन आदि नहीं करना चाहिए।' उपर्युक्त पद्धति वह आदर्श पद्धति है जिसके आधार पर उत्तरवर्ती विधि विकसित हुई[4]।

उपनिषद् काल में चार आश्रमों के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और ब्रह्मचर्य या छात्र-जीवन को एक सम्मानित संस्था का रूप मिल चुका था। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए भी आचार्य का महत्त्व मान्य हो गया था और

(१) वही, ११. ५. ६।
(२) वही, ११. ५. ९।
(३) शत. ब्रा., १, ३, १-८।
(४) पा. गृ. सू., २. २. ५।

आचार्य ही अन्तिम गति था[1]। उपनयन आचार्य के निकट जाने और ब्रह्मचर्य-जीवन (छात्र-जीवन) में प्रवेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं था[2]। किन्तु प्रवेश का द्वार सभी के लिए उन्मुक्त नहीं था। आचार्य द्वारा निश्चित शर्तों की पूर्ति करने पर ही ब्रह्मचारी प्रविष्ट किये जाते थे : 'यह गुह्यविद्या सन्देहशील व अशिष्ट विद्यार्थी को नहीं देनी चाहिए, अनन्य भक्त और सर्वगुण सम्पन्न छात्र ही इसका अधिकारी है[3]।'

ब्रह्मचारी आचार्य के कुल में ही रहते और भोजन करते थे[4] और इसके बदले में वे गुरु की सेवा करते थे, जैसे गायों को चराना तथा यज्ञिय अग्नि को निरन्तर प्रदीप्त रखना आदि। सत्यकाम जाबाल के आख्यान से विदित होता है कि उसे गुरु की गायों के साथ रहने और तब लौटने का आदेश दिया गया था जब उनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते एक सहस्र हो जाए। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी भिक्षाचरण में भी गुरु की सहायता करता था[5]। ब्रह्मचर्य जीवन की साधारण अवस्था बारह से चौबीस वर्ष तक थी[6]। किन्तु इससे अधिक काल का भी उल्लेख मिलता है। ब्रह्मचर्य-जीवन आरम्भ होने तथा आचार्यकुल में वास का समय व्यक्तिगत इच्छा और क्षमता के अनुसार भिन्न-भिन्न था। उदाहरण के लिये, श्वेतकेतु ने अपनी शिक्षा बारहवें वर्ष आरम्भ की और बारह वर्ष तक उसने अध्ययन किया। उपनिषदों से यह भी ज्ञात होता है कि जब भी कोई व्यक्ति नये गुरु के निकट अध्ययन के लिये जाता था, उसे नये सिरे से उपनयन संस्कार करना पड़ता था[7]। आरुणि का आख्यान सूचित करता है कि वृद्ध व्यक्ति भी कुछ समय के लिये छात्र हो सकते थे[8]। गुरु का स्थान अत्यन्त सम्मानित था। यह कहा गया है कि उच्चतम विद्या—ब्रह्मविद्या—की प्राप्ति के

---

(१) आचार्यस्तु ते गतिर्वक्ता। छा. उपनिषद्।

(२) उपत्वा अयानि। वही, ४. ४।

(३) एतद् गुह्यतमं नापुत्राय नाशिष्याय कीर्तयेदनन्यभक्ताय सर्वगुणसम्पन्नाय दद्यात्। तै. उपनिषद्।

(४) आचार्यकुलवासिन् या अन्तेवासिन्। छा. उ., २. २३. ५; ४. १०. १.।

(५) छा. उपनिषद्, ४. ३. ५। (६) वही. ६. १. २।

(७) वही। (८) बृहदारण्यक उपनिषद्, ६. १. ६।

लिये गुरु के प्रति भक्तिभावना आवश्यक है[१]। अध्ययन समाप्त करते समय अनेक व्यावहारिक शिक्षाएँ दी जाती थीं, जो सदा और सभी समाजों के लिये उपादेय और मूल्यवान् हैं, जैसे सत्य भाषण करो, धर्म का आचरण करो आदि[२]।

६. सूत्रयुग और परवर्ती काल

गृह्यसूत्रों के समय में उपनयन संस्कार पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका था। समस्त गृह्यसूत्र पहले से यह मानकर चलते हैं कि उपनयन शाश्वत तथा प्रत्येक द्विज के लिये अनिवार्य है। उनमें इसके सम्बन्ध में समस्त नियम और प्रत्येक सम्भव विवरण दिये गए हैं। इस संस्कार के कर्मकाण्ड का विकास गृह्यसूत्रों के समय तक पूर्ण हो चुका था। जहाँ तक कर्मकाण्ड का सम्बन्ध है, इसके विकास में धर्मसूत्रों और स्मृतियों का कोई हाथ नहीं है। वे संस्कारों के सामाजिक अङ्गों को गृह्यसूत्रों द्वारा प्रदत्त सम्बन्धसूत्र को लेकर उन्हें आगे बढ़ाते हैं। उनमें उपनयन के समय बालक की आयु, संस्कारके अधिकारी, ब्रह्मचारी के कर्तव्य और व्यवहार के विषय में पूरी जानकारी और विवेचन दिये गये हैं। परवर्ती काल में इन नियमों में अनेक परिवर्तन हुए, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जाएगा। अत्यन्त परवर्ती काल में प्रणीत पद्धतियाँ भी कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में सामान्यतः अपने विशिष्ट वैदिक चरण का अनुसरण करती हैं, किन्तु साथ ही अपने समय में प्रचलित अनेक प्रथाओं का समावेश भी उनमें कर दिया गया है।

७. उपनयन शब्द का अर्थ

अपने सुदीर्घ इतिहास में उपनयन-विषयक धारणा में अनेक परिवर्तन हुए हैं। अथर्ववेद में उपनयन शब्द का प्रयोग 'ब्रह्मचारी को ग्रहण करने' के अर्थ में किया गया है।[३] यहाँ इसका आशय आचार्य के द्वारा ब्रह्मचारी की वेद-विद्या में दीक्षा से है। ब्राह्मणकाल में भी उपनयन शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया जाता था, जैसा कि शतपथ-ब्राह्मण में एक ब्रह्मचारी के उपनयन के

(१) श्वेताश्वतर उपनिषद्, ६. २३।
(२) तैत्तिरीय उपनिषद्, १. ११।
(३) उपनयमानो ब्रह्मचारिणम्। अथर्व वे., ११. ५. ३।

वर्णन से स्पष्ट है।[1] सूत्रकाल में भी विद्यार्थी द्वारा ब्रह्मचर्य के लिये प्रार्थना और आचार्य द्वारा उसकी स्वीकृति ही संस्कार के केन्द्रबिन्दु थे। किन्तु परवर्ती काल में उपनयन का रहस्यात्मक महत्त्व बढ़ने पर गायत्री-मन्त्र द्वारा द्वितीय जन्म की धारणा ने विद्या में दीक्षा के मूल विचार को आच्छादित कर लिया। मनु कहते हैं: 'द्वितीय जन्म (वैदिक या ब्रह्मजन्म) में जिसका प्रतीक मूंज से बनी मेखला का धारण करना है, सावित्री ब्रह्मचारी की माता और आचार्य पिता है[2]।' अनेक लेखकों ने इस संस्कार का नाम ही 'सावित्री-वचन' (सावित्री की शिक्षा) दिया है। याज्ञवल्क्य के उपनयन शब्द पर अपरार्क लिखते हैं: 'उपनयन शब्द से अन्तेवासी (छात्र) और गायत्री के बीच का सम्पर्क अभिप्रेत है, जिसकी स्थापना आचार्य करता है[3]।' और भी आगे चलकर इस शब्द का प्रयोग अभिभावकों द्वारा छात्र को आचार्य के निकट ले जाने के अर्थ में होने लगा। अब उपनयन का अर्थ हो गया 'वह कृत्य जिसके द्वारा बालक आचार्य के समीप ले जाया जाय[4]।' वीरमित्रोदय में उद्धृत एक आचार्य के अनुसार उपनयन का अभिप्राय अत्यन्त व्यापक है; वह केवल शिक्षा के ही अर्थ में सीमित नहीं है: 'वह कृत्य, जिसके द्वारा व्यक्ति गुरु, वेद, यम, नियम का व्रत और देवता के सामीप्य के लिये दीक्षित किया जाए, उपनयन है[5]।' संस्कारसम्बन्धी आधुनिकतम विकास में इसका शिक्षा का अर्थ पूर्णतः लुप्त हो चुका है। उपनयन शब्द का प्रयोग एक विशेष संस्कार के अर्थ में किया जाता है, जो द्विजन्मा के विवाह के पूर्व किसी समय भी किया जा सकता है। इस अर्थ में इसे 'जनेऊ'[6] कहा जाता है, जिसका अभिप्राय उस संस्कार से है, जिसमें बालक

---

(१) वही, ११. ५. ४।

(२) तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥ म. स्मृ., २. १७०।

(३) याज्ञवल्क्य स्मृ., १. १४ पर अपरार्क की व्याख्या।

(४) उप समीपे आचार्यादीनां वटोर्नीतिर्नयनं प्रापणमुपनयनम्।
भारुचि, वी. मि. सं., भा. १. पृ. ३३४ पर उद्धृत।

(५) गुरोर्व्रतानां वेदस्य यमस्य नियमस्य च।
देवतानां समीपं वा येनासौ नीयतेऽसौ॥ अभियुक्त, वही।

(६) यह शब्द उत्तर भारत में प्रचलित है।

को यज्ञोपवीत पहनाया जाय। समय का कैसा खेल है? उपवीत सूत्र का उल्लेख गृह्यसूत्रों में नहीं है। यह प्राचीन काल में यज्ञ के समय धारण किये जानेवाले उत्तरीय का स्थानापन्न है।[1] कौन जानता था कि यह महत्त्वहीन स्थानापन्न सूत्र किसी समय संस्कार के मौलिक तत्त्वों का अतिक्रमण कर जायगा। किन्तु जब शिक्षा नहीं, चिह्न ही नवजीवन (द्वितीय जन्म) का प्रतीक बन गया, तब तो उपवीत सूत्र का ही एकच्छत्र राज्य हो गया।

८. उपनयन संस्कार का प्रयोजन

इस संस्कार के प्रयोजन में भी अनेक परिवर्तन हुए। मूलतः शिक्षा ही इसका प्रमुख प्रयोजन था और छात्र को आचार्य के समीप ले जाने का कर्मकाण्ड गौण। उपनयन केवल पहले पहल छात्र के गुरु के निकट जाने पर ही नहीं सम्पन्न होता था, अपितु वेद की किसी भी शाखा का अध्ययन आरम्भ करते समय बार बार इसका अनुष्ठान करना पड़ता था।[2] इस तथ्य की पुष्टि में प्रमाण उपलब्ध हैं। उपनिषदों में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ दर्शन की किसी नवीन शाखा के अध्ययन के लिए गुरु के समीप जाने पर उपनयन किये जाने का वर्णन किया गया है।[3] याज्ञवल्क्य के अनुसार उपनयन का सर्वोच्च प्रयोजन वेदों का अध्ययन करना है: 'महाव्याहृतियों से शिष्य का उपनयन कर गुरु को उसे वेद, आचार और शील (शौच) की शिक्षा देनी चाहिए[4]।' आपस्तम्ब और भारद्वाज विद्या की प्राप्ति को उपनयन का उद्देश्य मानते हैं: 'उपनयन विद्याध्ययन के लिये इच्छुक व्यक्ति के श्रुति के अनुसार संस्कार' को कहते हैं[5]। किन्तु आगे चलकर संस्कार

---

(१) यज्ञोपवीतं कुरुते सूत्रं वस्त्रं वा कुशरज्जुं वेति। गो. गृ. सू., २. १०
तृतीयमुत्तरीयार्थी वस्त्राभावे तदिष्यते॥
देवल, वी. मि. सं., भा १. पृ. ४१५ पर उद्धृत।

(२) यच्छाखीयैस्तु संस्कारैः संस्कृतो ब्राह्मणो भवेत्।
तच्छाखाध्ययनं कार्यमेवं न पतितो भवेत्॥ वसिष्ठ, वही, पृ. ३३७

(३) छा. उ., ५. २. ७।

(४) उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्॥ या. स्मृ., १. १५।

(५) उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कार इति। आ. ध. सू., १।

के कर्मकाण्ड का अनुष्ठान और व्रतादेश संस्कार के प्रधान प्रयोजन हो गए और शिक्षा गौण। इस मत के प्रथम प्रतिपादक गौतम थे : 'अड़तालीस संस्कारों से संस्कृत व्यक्ति ब्रह्म और ऋषियों का सान्निध्य प्राप्त करता है[1]।' मनु के अनुसार भी संस्कार से मनुष्य का ऐहिक व पारलौकिक जीवन पवित्र होता है[2]। अङ्गिरा का मत है कि विधिपूर्वक संस्कारों के अनुष्ठान से ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है[3]। जब उपनयन एक विद्या-संस्कार था उस समय आचार्य द्वारा प्रदत्त व्रतादेश का स्थान गौण था, किन्तु जब इसे दैहिक संस्कार का रूप प्राप्त हुआ, तो संस्कार का कर्मकाण्ड ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बन बैठा। अपने अन्तिम विकास में उपनयन एक प्रकार का पुरुषार्थ माना जाने लगा, जिसमें विद्याप्राप्ति की भावना का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा। अन्धे, बहरे और गूंगे व्यक्तियों के लिये भी, जिनके लिए मूलतः यह संस्कार वर्जित था,[4] उपनयन संस्कार आवश्यक माना जाने लगा[5]।

९. आयु

उपनयन संस्कार के सम्बन्ध में विचारणीय प्रथम समस्या थी : किस आयु में बालक का उपनयन किया जाए? गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित तथा परवर्ती आचार्यों द्वारा अनुमोदित साधारण नियम यह था कि ब्राह्मण का उपनयन आयु के आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्य का बारहवें वर्ष करना चाहिए[6]।

---

(१) गौ. ध. सू., ८. १४. २४।

(२) म. स्मृ., २. २६।

(३) वी. मि. सं. भा. १, पृ. १३७ पर उद्धृत।

(४) शङ्ख और लिखित, हरिहर द्वारा पा. गृ. सू. २. ८ पर उद्धृत।

(५) तस्माच्च पण्ढबधिरकुब्जवामनपङ्गुषु।
जडगद्गदरोगार्तशुष्काङ्गविकलाङ्गिषु च॥
मत्तोन्मत्तेषु मूकेषु शयनस्थे निरिन्द्रिये।
ध्वस्तपुंस्त्वेषु चैतेषु संस्काराः स्युर्यथोचितम्॥

ब्रह्मपुराण, वी. मि. सं. भा. १, पृ. ३९९ पर उद्धृत।

(६) पा. गृ. सू. २. २; आ. गृ. सू. १. १९; शां. गृ. सू. २. १; बौ. गृ. सू. २. ५; आप. गृ. सू. ११; गो. गृ. सू. २. १०; म. स्मृ. २. ३६; याज्ञ. स्मृ. १. ११।

जहाँ तक इस भेद के आधार का प्रश्न है, विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न तर्क दिए गए हैं। कतिपय लेखक इसे केवल ब्राह्मणों की कपोलकल्पना और दम्भ का परिणाम समझते हैं।[1] क्योंकि ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की सावित्री क्रमशः आठ, ग्यारह और बारह अक्षरों की होती है, अतः ब्राह्मणों ने उन्हीं के आधार पर तीन उच्चतर वर्णों के उपनयन की आयु क्रमशः आठ, ग्यारह और बारह वर्ष निश्चित कर दी।[2] वे अपने मत की पुष्टि के लिये मेधातिथि[3] और वीरमित्रोदय[4] को उद्धृत करते हैं। कतिपय अन्य विद्वानों के अनुसार यह भेद ब्राह्मणों की बौद्धिक उच्चता पर आधारित था। क्योंकि ब्राह्मणबालक क्षत्रिय और वैश्य बालक की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशाली था अतः कम वय में उपनयन के योग्य हो जाता था।[5] प्रथम मत के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सूत्रकाल की अपेक्षा अत्यन्त परवर्ती मेधातिथि और वीरमित्रोदय के कथन निरी कल्पना पर आधारित प्रतीत होते हैं, क्योंकि गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों में सावित्री मन्त्र के अक्षरों की संख्या के आधार पर विभिन्न वर्णों के उपनयन की आयु के निर्धारण का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। उपनयन की आयु और सावित्री मन्त्र के अक्षरों की संख्या में साम्य आकस्मिक है, किन्तु इसने मेधातिथि और वीरमित्रोदय की कल्पना को प्रश्रय दिया, जिनके समय में उपनयन संस्कार जीवन की यथार्थ आवश्यकता के स्थान पर जटिल कर्मकाण्ड मात्र बनकर रह गया था। इसके अतिरिक्त हिन्दूधर्म में इन संख्याओं के सम्बन्ध में किसी प्रकार की पवित्रता की धारणा भी नहीं है। अतः यह विश्वास करना सम्भव नहीं है कि परिणाम की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण उपनयन संस्कार की आयु का भेद मूलतः ब्राह्मणों की कपोलकल्पना और दम्भ पर आधारित है। दूसरी धारणा का भी समर्थन धर्मशास्त्रों से नहीं होता। बौधायन के अनुसार आठ

---

(१) केई : एंश्येन्ट इण्डियन एजुकेशन, पृ. २९।

(२) ब्राह्मणादिवर्णसम्बन्धिना छन्दसां पादाक्षरसंख्यैरुपनयनस्य विधिः।
म. स्मृ. २. ३६ पर मेधातिथि का भाष्य।

(३) वही।

(४) वी. मि. सं. भा. १, पृ. ३४४।

(५) एस. के. दास : दि एजुकेशनल सिस्टम्स ऑव् दि एंश्येण्ट हिन्दूज, पृ. २७।

और सोलह के बीच किसी भी वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन किया जा सकता है।[1] अतः यह पूर्णतः असम्भव प्रतीत होता है कि ब्राह्मण बालकों के उपनयन की छोटी अवस्था उनकी बौद्धिक उच्चता या ब्राह्मणों की उच्चता की मानसिक ग्रन्थि पर आधारित थी।

इस भेद का अधिक उपयुक्त आधार यह प्रतीत होता है कि अति प्राचीन काल में ब्राह्मण पिता ब्राह्मण ब्रह्मचारियों का आचार्य भी होता था। अतः छोटी आयु में उनका उपनयन किया जाना असुविधा-जनक नहीं था, क्योंकि उन्हें शिक्षा-प्राप्ति के लिए घर नहीं त्यागना पड़ता था। क्षत्रिय और वैश्यों की स्थिति इससे भिन्न थी। उन्हें शिक्षा के लिए अपने माता-पिता से अलग होना पड़ता था। अतः बहुत छोटी आयु में माता-पिता से पृथक् होने पर बालकों को कष्ट होना स्वाभाविक था। अतः संस्कार की उच्चतर आयु के लिये बहुत-कुछ माता-पिता की वात्सल्य की अनुभूति ही उत्तरदायी थी। क्षत्रियों और वैश्यों की उच्चतर आयु के निर्धारण में एक अन्य कारण का भी सक्रिय हाथ रहा है। उपनयन के साथ आरम्भ होनेवाली ब्राह्मणों की शिक्षा मुख्यतः धार्मिक एवं पौरोहित्य की शिक्षा थी, जिसके पाठ्यक्रम में केवल वेद व उससे सम्बद्ध अन्य विषयों का समावेश था। ब्राह्मण-छात्र छोटी अवस्था में ही इन विषयों का अध्ययन आरम्भ करदेता था क्योंकि उसका भविष्य वैदिक ज्ञान पर ही निर्भर था। किन्तु क्षत्रियों और वैश्यों के व्यवसाय इससे भिन्न थे। निस्संदेह, साहित्यिक शिक्षा के माध्यम से जातीय संस्कृति व सभ्यता की रक्षा करना उनका भी कर्तव्य था, किन्तु उन्हें क्रमशः युद्ध-कला, प्रशासन, वाणिज्य और कृषि में विशेष कौशल अर्जन करना पड़ता था। अतः उक्त दोनों वर्ण अपनी साहित्यिक शिक्षा कुछ विलम्ब से आरम्भ करते थे, क्योंकि उन्हें ब्राह्मण विद्यार्थियों के लिए निर्दिष्ट पाठ्यक्रम का अध्ययन अपेक्षित न था। इस प्रकार, संस्कारों में जातिभेद को व्यावहारिक आवश्यकताओं ने जन्म दिया, ब्राह्मणों की कल्पना अथवा उच्चताग्रन्थि ने नहीं[2]।

---

(१) बौ. गृ. सू. २. ५।

(२) तुलनीय, डॉ. अ. स. अल्तेकर, एजुकेशन इन एंश्येण्ट इण्डिया अध्या. १। पृ. १८।

कुछ विशिष्ट गुणों की प्राप्ति के लिये वैकल्पिक अवस्थाओं का विधान किया गया है। बौधायन के अनुसार ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति के लिए सातवें, दीर्घायुष्य के लिए आठवें, ऐश्वर्य के लिए नवें, भोजन के लिए दसवें, पशुओं के लिए ग्यारहवें, शिल्प-कौशल के लिए तेरहवें, तेजस्विता के लिए चौदहवें, बन्धु-बान्धवों के लिए पन्द्रहवें और सभी गुणों की प्राप्ति के लिए सोलहवें वर्ष में उपनयन करना चाहिए[1]। मनु कहते हैं, 'ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति के लिए इच्छुक ब्राह्मण का पाँचवें, बल के लिए इच्छुक क्षत्रिय का छठे, और ऐश्वर्य के इच्छुक वैश्य का उपनयन संस्कार आठवें वर्ष करना चाहिए[2]'।

विभिन्न गुणों की प्राप्ति के लिए उक्त व्यापक विकल्प आपाततः काल्पनिक प्रतीत होते हैं। किन्तु सुदीर्घ काल में उपनयन सम्बन्धी धारणा में हुए परिवर्तन पर ध्यान देने पर उनकी युक्तियुक्तता स्पष्ट हो जाती है। आरम्भ में उपनयन प्राथमिक शिक्षा के आरम्भ का सूचक था। अतः उपनयन के लिए छोटी आयु को प्राथमिकता दी जाती थी और इसके लिए लघुतम सम्भव अवस्था पांच वर्ष निश्चित की गई थी। किन्तु जब वह प्राथमिक शिक्षा का सूचक न रह गया और माध्यमिक शिक्षा आरम्भ करते समय उपनयन संस्कार किया जाने लगा, तब इसके लिए उच्चतर अवस्था निर्धारित कर दी गई, यद्यपि सदैव विद्यार्जन के लिए उपयुक्त अवस्था का ध्यान रखा गया। अवस्था ऐसी होनी चाहिए कि विद्यार्थी का मस्तिष्क ग्रहणशील हो तथा अध्ययन के लिए पर्याप्त समय मिल सके। किन्तु प्रत्येक बालक के लिए एक ही अवस्था उपादेय होना सम्भव नहीं है। अतः प्रत्येक प्रकार के बालक की आवश्यकता की पूर्ति को ध्यान में रखते हुए अनेक विकल्प स्वीकृत किये गये। किन्तु, चाहे जब भी यह संस्कार किया जाता, इसे सदैव उपादेय समझा गया, क्योंकि यह धार्मिक दृष्टि से पूर्ण मूल्यवान् माना जाता था।

उपनयन संस्कार की अन्तिम सीमा ब्राह्मण के लिए सोलह, क्षत्रिय के लिए बाईस और वैश्य के लिये चौबीस वर्ष की आयु थी[3]। जब उपनयन को

(१) बौ. गृ. सू. २. ५. ५।

(२) ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यार्थिनोऽष्टमे॥ म. स्मृ. २. ३७।

(३) पा. गृ. सू. २. ५. ३६-३८।

शारीरिक संस्कार का स्वरूप प्राप्त हो गया, तो चाहे जितने विलम्ब से क्यों न हो, संस्कार का अनुष्ठान करना अनिवार्य माना जाने लगा। इसके मूल में निहित प्रयोजन समाज के समस्त युवकों को शिक्षित व जातीय संस्कृति से परिचित और परिष्कृत करना था। ब्राह्मण के लिए उपनयन की अवस्था अपेक्षाकृत अल्प थी, क्योंकि वह आर्य धर्म और संस्कृति का संरक्षक तथा आर्य जाति का विद्यागुरु था। क्षत्रियों और वैश्यों का उपनयन इससे उच्चतर अवस्था में किया जा सकता था, क्योंकि वे धार्मिक शिक्षा की प्राप्ति में उतने उत्साही नहीं थे। चौबीस वर्ष की अवस्था अन्तिम सीमा थी, क्योंकि साधारणतः यह विवाह के लिए उपयुक्त आयु मानी जाती थी। द्विजों का उपनयन विवाह के पूर्व किसी न किसी समय करना अनिवार्य था। सत्रहवीं शताब्दी के निबन्धकार मित्रमिश्र ब्राह्मण का चौबीस, क्षत्रिय का तैंतीस और वैश्य का छत्तीस वर्ष की अवस्था तक उपनयन स्वीकार कर लेते हैं।[1] इस समय भारत पर मुसलमानों का साम्राज्य पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका था। धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान निश्चित और सुरक्षित नहीं था। अतः इसके लिए अधिक व्यापक छूट स्वीकार कर ली गई। सम्भवतः इसमें उन व्यक्तियों की शुद्धि में सुविधा का भी ध्यान रखा गया होगा, जो इस्लाम में बलात् दीक्षित कर लिए जाते थे।

१०. व्रात्य

जिस व्यक्ति का उपनयन धर्मशास्त्रों द्वारा स्वीकृत इतने विकल्पों के होने पर भी समय पर न हुआ हो, वह द्विजत्व से पतित समझा जाता और समाज से उसका बहिष्कार कर दिया जाता था। मनु के अनुसार 'यदि कोई व्यक्ति निर्धारित अन्तिम समय के पश्चात् भी अनुपनीत रह जाए, तो वह व्रात्य, सावित्री से पतित तथा आर्य समाज में विगर्हित हो जाता है।[2] ये व्यक्ति आर्यों के समस्त धार्मिक व सामाजिक विशेषाधिकारों से वञ्चित कर दिये जाते थे। भले ही आंशिक रूप से नियम के उल्लंघन का कारण असावधानी अथवा विपरीत परिस्थितियाँ रही हों, किन्तु अधिकांश में यह समझ-बूझकर होता

---

(१) वी. मि. सं. भा. १, पृ. ३४७।

(२) अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्री पतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥ म. स्मृ. २. ३९.।

था। अतः उन्हें कठोर दण्ड दिया जाता था और उनका वर्गीकरण अनार्यों, व्रात्यों और शूद्रों के साथ किया जाता था।[1]

इस प्रसंग में '*व्रात्य*' शब्द के इतिहास का संक्षेप से उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा क्योंकि इससे व्रात्यों और वैदिक उपनयन के प्रति विपरीत भावना के बीच विद्यमान सम्बन्ध के स्पष्टीकरण में सरलता होगी। अथर्ववेद में व्रात्य शब्द का प्रयोग अनुपनीत व्यक्ति के अर्थ में नहीं किया गया है, अपितु वहां उच्चतम ब्राह्मण को व्रात्य कहा गया है : 'उच्चतम ब्राह्मण की व्रात्य—दिव्य व्रात्य, जिसे दूसरे शब्दों में महादेव, ईशान या रुद्र कहा जा सकता है तथा उसका प्रतिरूप पार्थिव व्रात्य—के रूप में धारणा व प्रशंसा की गई है। सम्भवतः व्रात्य विशिष्ट प्राच्य जन थे, भले ही वे आर्य रहे हों या अनार्य। वे ब्राह्मण धर्म की परिधि के बाहर थे, जो भ्रमणशील तथा लड़ाकू जनों के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान में भ्रमण करते रहते थे। उनके अपने पशु थे, अपनी विशिष्ट प्रथाएँ थीं और उनके अपने स्वतन्त्र धार्मिक विश्वास थे'।[2] *कतिपय विद्वानों के अनुसार व्रात्य शब्द का प्रयोग एक आर्येतर जन के लिए* हुआ है,[3] जब कि कुछ अन्य विद्वानों की धारणा है कि रुद्र या शिव के प्राचीनतम पूजकों के लिए व्रात्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। *श्री जे० डब्ल्यू०* हैवर व्रात्य को क्षत्रियों का एक समूह मानते हैं, जो परवर्ती योगियों के पूर्ववर्ती रूप थे।[4]

यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि व्रात्य आर्य जाति के थे, यद्यपि वे धर्म की दृष्टि से वैदिक नहीं थे। इस निष्कर्ष की पुष्टि इस बात से भी होती है कि उनकी इच्छा होने पर आर्य धर्म और संस्कृति का द्वार उनके लिए उन्मुक्त था, जब कि दूसरी ओर आर्येतरों के लिए बन्द था। गोभिल-गृह्यसूत्र के अनुसार व्रात्यस्तोम के द्वारा यज्ञ करने पर उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त हो जाता था।[5] इस प्रकार यद्यपि व्रात्य शब्द का वास्तविक अर्थ निश्चित नहीं है,

---

(१) शूद्राणाञ्च सधर्माण। वही. १०. ४१।

(२) विन्टरनिट्ज, हिस्ट्री ऑव् इन्डियन लिटरेचर, भा ´१।

(३) राजाराम रामकृष्ण भागवत, ज. ब रा. ए. सो. १९, १८९६।

(४) डाइ अन्फा-उगेडर योग प्रैक्सिस, बर्लिन, १९२२, पृ ११, एच.।

(५) तेषां संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन्॥ गो. गृ सू. २ ५.५४।

किन्तु यह स्पष्ट है कि व्रात्य शब्द स्मार्त अर्थात् अनुपनीत के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। किन्तु, क्योंकि व्रात्य वैदिक धर्म के प्रतिकूल थे, अतः परवर्ती काल में अनुपनीत व्यक्ति का वर्गीकरण भी व्रात्यों के साथ कर दिया गया। उन्हें व्रात्य इसलिए कहा जाता था कि वे कतिपय निश्चित व्रतों का अनुष्ठान कर वैदिक धर्म में पुनः प्रवेश प्राप्त कर सकते थे।[1] धर्मशास्त्रों के अनुसार संस्कारों का अनुष्ठान न करने के कारण जो व्यक्ति जाति से बहिष्कृत कर दिये जाते थे, व्रात्यस्तोम यज्ञ कर वे पुनः आर्य समुदाय में प्रविष्ट हो सकते थे।

११. आरम्भ में उपनयन अनिवार्य नहीं

यद्यपि गृह्यसूत्र और परवर्ती कर्मकाण्ड साहित्य यह मानकर चलते हैं कि उपनयन एक अनिवार्य संस्कार है, किन्तु सूत्रकाल के पूर्व ऐसी बात नहीं थी। यह कहा जा सकता है कि अथर्ववेद के समय में उपनयन द्वितीय जन्म माना जाता था[2] और यह अधिक सम्भव है कि समाज के सभी द्विजों को अपना उपयुक्त स्थान उपनयन द्वारा ही प्राप्त होता था। किन्तु द्वितीय जन्म की यह धारणा केवल उपनयन के सम्बन्ध में ही नहीं थी, यज्ञीय दीक्षा के साथ भी द्वितीय जन्म का सम्बन्ध स्थापित हो गया था।[3] अतः वैदिक युग में द्वितीय जन्म का धार्मिक महत्त्व था, सामाजिक नहीं; तथा प्रथम तीन वर्णों के सभी सदस्यों का उपनयन करना अनिवार्य नहीं था। गृह्यसूत्रों में तत्सम्बन्धी नियमों के निर्धारण के पूर्व सुदीर्घकाल तक उपनयन एक ऐच्छिक संस्कार था। अध्ययन के लिए इच्छुक कोई भी व्यक्ति गुरु के पास जाता और उपनयन कर लेता था, जब कि उसके अन्य सम्बन्धी, जो इसके लिए उत्सुक नहीं थे, बिना उपनयन के ही रह जाते थे। उपनयन संस्कार केवल सुसंस्कृत एवं पुरोहित-परिवारों में ही सीमित था। इसका समर्थन श्वेतकेतु को अपने पिता आरुणि के इस परामर्श से होता है कि उसे ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी) व्रत ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उसके परिवार

(१) व्यवहार्या भवन्तीति वचनात्। वही।

(२) आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥
अ. वे. ११. ५. ३।

(३) अजातो ह वै तावत्पुरुषो यावन्न यजते। श. ब्रा. २. ३. ४

के सदस्यों ने जन्म के आधार पर ब्राह्मणत्व का दावा नहीं किया।[1] इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यद्यपि चार आश्रमों का सिद्धान्त समाज में प्रतिष्ठित हो चुका था, किन्तु व्यवहार में अभी तक उसे विश्वजनीन व व्यापक स्वरूप प्राप्त नहीं हो सका था। जैसा कि ऊपर कहा गया है, उस समय व्रात्य शब्द यज्ञ व सोमपान न करनेवाले व्यक्ति का सूचक था, अनुपनीत व्यक्ति का नहीं।[2] स्मृति तथा परवर्ती काल में उपनयन न करनेवालों पर अनेक अयोग्यताएँ लाद दी गई थीं। किन्तु वैदिक काल में ऐसा नहीं था। सामाजिक दृष्टि से व्रात्यों का स्थान किसी प्रकार हीन नहीं था, जैसा कि अथर्ववेद में उनकी प्रशंसा से स्पष्ट है।[3]

इस प्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट है कि उपनयन संस्कार अनिवार्य नहीं समझा जाता था, अपितु यह जाति के पवित्र पुस्तकालय में प्रवेश के लिए उत्सुक व्यक्तियों को उपलब्ध एक विशेषाधिकार था।

१२. उपनयन की अनिवार्यता

उपनिषद् काल के अन्त में किसी समय उपनयन संस्कार अनिवार्य हो गया। इसके मूल में अनेक कारण निहित थे। सर्वप्रथम इसकी पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक कारण था। किसी भी प्रगतिशील सभ्यता के लिए शिक्षा आवश्यक है। शिक्षा को व्यापक करने के उद्देश्य से उपनयन अनिवार्य कर दिया गया था। इसके द्वारा प्रत्येक आर्य अपने जीवन का कुछ काल गुरुकुल अथवा किसी शिक्षासंस्था में व्यतीत करने के लिए बाध्य कर दिया गया था। द्वितीय किन्तु उससे सम्बद्ध कारण यह था कि साहित्य तथा विद्या और ज्ञान के कोष की निरन्तर वृद्धि हो रही थी। विद्या की विविध शाखाएँ विकसित हो चुकी थीं। अतः पवित्र साहित्य की रक्षा के लिए उपनयन संस्कार को अनिवार्य कर सम्पूर्ण समाज का सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया गया[4]। तृतीय कारण विशुद्ध

(१) छा. उ. ६. १. १।

(२) यस्य पिता पितामहो वा न सोमं पिबेत् स व्रात्यः।
पाराशर-माधवीय १. १, पृ १६५ पर उद्धृत एक वैदिक वचन।

(३) अ. वे. १०. ५।

(४) तुलनीय, डॉक्टर अ. स. अल्तेकर, एजुकेशन इन एन्श्येण्ट इण्डिया, अ. १, पृ. ११, १२।

रूप से धार्मिक था। यह विश्वास बद्धमूल हो चुका था कि उपनयन में पवित्र करने की शक्ति निहित है। कोई शिक्षा प्राप्त करे अथवा नहीं, उसे स्वयं को अभिषिक्त अवश्य ही करना चाहिए। संस्कार की पवित्रता को प्रदत्त यह अत्यधिक महत्त्व भी सभी के लिए उपनयन को अनिवार्य बनाने में सहायक हुआ। अन्तिम कारण आभिजात्य था। अभिजात वर्ग के समक्ष अपने चारों ओर विद्यमान सामान्य जनों से स्वयं को विशिष्ट तथा भिन्न रखने का प्रश्न भी विद्यमान था। जनसाधारण के साथ अपने प्रथम सम्पर्क में अभिजात वर्ग अपेक्षाकृत उच्चतर और वर्ण तथा संस्कृति दोनों ही विषयों में उनसे भिन्न था। किन्तु कालक्रम से उक्त भेद लुप्त होने लगे तथा उनके साथ सङ्कर और इस प्रकार उसकी अपनी सभ्यता के स्तर के निम्नतर होने का सङ्कट उत्पन्न हो गया। उपनयन ने, जो कि समाज में पहले से ही प्रचलित था, पार्थक्य के एक उत्तम माध्यम का कार्य किया। वे अभिजात, जो अपना यौवन-काल शिक्षा की साधना में तो व्यतीत न कर सकते, किन्तु यज्ञोपवीत धारण कर लेते थे, द्विज कहलाते थे और इस प्रकार वे जनसाधारण से, भिन्न हो जाते थे। उपनयन को द्वितीय जन्म इस अर्थ में कहा जाता था कि इससे उपनीत व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उच्चतर हो जाती थी। सम्पूर्ण अभिजात वर्ग द्विज कहलाने लगा। साधारण व्यक्ति, जिसका केवल एक शारीरिक जन्म होता था, निश्चय ही एक अभिजात की अपेक्षा निम्नतर समझा जाता था।

१३. अनिवार्यता के अवांछनीय परिणाम

जब उपनयन एक अनिवार्य संस्कार हो गया, तो लोग इसका यथार्थ प्रयोजन भूल गये तथा इसके अनेक घातक परिणाम हुए। प्राचीनकाल में जब कि यह एक विशुद्ध शिक्षा-संस्कार था, शिक्षा के लिए जन्म से अयोग्य व्यक्तियों को उपनयन का विशेषाधिकार प्राप्त नहीं था।[1] किन्तु जब यह दैहिक संस्कार के रूप में परिणत हो गया, तो इस मत का प्रतिपादन किया जाने लगा कि मूक, बधिर तथा अन्धे आदि का भी उपनयन करना चाहिए।[2] कतिपय

(१) नोन्मत्तमूकान् संस्कुर्यात्। शङ्ख और लिखित, हरिहर द्वारा, पा. गृ. सू. पर उद्धृत।

(२) ब्रह्मपुराण, वी. मि. सं. भा. १, पृ. ३९९ पर उद्धृत।

स्मृतिकार इस विचार से सहमत नहीं थे।[1] किन्तु अयोग्य व्यक्तियों को भी उच्चतर वर्ण का चिह्न देकर विवाह की अनुमति प्रदान करने के उद्देश्य से बहुसंख्यक जनता ने इसे स्वीकार कर लिया। उपनयन के दैहिक संस्कार में परिणत हो जाने का एक अन्य परिणाम यह भी हुआ कि मद्य-पान, पलाण्डु-भक्षण आदि के द्वारा अशुद्ध हो जाने पर व्यक्ति के लिए पुनः नये सिरे से उपनयन ग्रहण करने का विधान किया गया।[2] यह आवृत्ति इस तथ्य के बिल्कुल विरुद्ध है कि वैदिक काल में वेदों की किसी नवीन शाखा का अध्ययन आरम्भ करते समय *विद्यार्थी नवीन यज्ञोपवीत ग्रहण करता था।* अपने मूल प्रयोजन से उपनयन के ह्रास का सर्वाधिक घातक परिणाम यह हुआ कि वृक्षों का भी उपनयन किया जाने लगा। चौदहवीं शती के एक कन्नड़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि एक ब्राह्मण ने पीपल के चार वृक्षों का उपनयन संस्कार किया था।[3]

१४. मध्य-युग में उपनयन की आंशिक उपेक्षा

जब तक कि हिन्दुओं पर वैदिक संस्कृति का कठोर नियन्त्रण था, उस समय तक उपनयन की अनिवार्यता का नियमित रूप से पालन किया जाता रहा। किन्तु भारतीय इतिहास के मुस्लिम काल में हिन्दू धर्म को गम्भीर आघात लगा। उनका धार्मिक जीवन सङ्कटपूर्ण हो गया और अनेक उच्च तथा समृद्ध क्षत्रिय और वैश्य परिवार साधारण कृषकों की स्थिति को प्राप्त हो गये। यह मत प्रचलित हो गया कि कलियुग में क्षत्रिय और वैश्य हैं ही नहीं।[4] यद्यपि यह विचार व्यापक रूप से मान्य न हो सका, किन्तु अनेक प्रदेशों के अधिकांश क्षत्रियों तथा वैश्यों ने उपनयन संस्कार का त्याग कर दिया। किन्तु उन्नीसवी शती से परम्परावादी तत्त्वों[5] के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप वे पुनः उपनयन संस्कार सम्पन्न करने के विषयमें विशेष ध्यान देने लगे हैं।

---

(१) शङ्ख और लिखित, हरिहर द्वारा पा. गृ. सू. पर उद्धृत।

(२) शातातप और यम, वी. मि. सं. भा. १, पृ. ५४५ पर उद्धृत।

(३) एपिग्राफिया कर्नाटिका, ३. मलवल्ली अभिलेख, संख्या, २३।

(४) कलावाद्यन्तयो स्थिति।

(५) आर्यसमाज और सनातनधर्म-समाज।

१५. बालक को आचार्य के निकट कौन ले जाए ?

एक अन्य विचारणीय प्रश्न था कि बालक को आचार्य के समीप कौन ले जाए। प्राचीन काल में ब्राह्मण-परिवारों में पिता पुत्र को पढ़ाता था।[1] अतः इस समस्या पर विचार करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु ब्राह्मणेतर बालक ब्राह्मण आचार्यों के समीप ले जाये जाते थे। इसके अतिरिक्त, जब शिक्षा विकसित हुई तथा अध्यापन-कला का विशेषीकरण हो गया तो ब्राह्मण बालक भी अध्ययन के लिए योग्य आचार्यों के निकट जाने लगे। अतः समुचित उपनयन के लिए आचार्य के निकट विद्यार्थी के ले जाये जाने के प्रश्न पर विचार किया जाने लगा। पितामह के मतानुसार पिता, पितामह, पितृव्य तथा ज्येष्ठ भ्राता ही बालक के वैध संरक्षक थे, तथा पूर्व-पूर्व के अभाव में उत्तरोत्तर विद्यार्थी को आचार्य के निकट ले जाता था।[2] उपर्युक्त सहज संरक्षकों के अभाव में समान वर्ण के किसी ज्येष्ठ सदस्य को भी बालक को आचार्य के निकट ले जाने का अधिकार था।[3] किन्तु जब उसे ले जाने के लिए कोई भी न होता अथवा कोई भी उसे आचार्य के समीप ले जाने की चिन्ता न करता तो बालक स्वयं उपनयन के लिए आचार्य के समीप जाता था।[4]

१६. आचार्य का चुनाव

आचार्य का चुनाव कुछ निश्चित सिद्धान्तों द्वारा प्रेरित होता था। यथासम्भव श्रेष्ठतम आचार्य प्राप्त करने का यत्न किया जाता था, क्योंकि उपनयन का उद्देश्य ज्ञान की प्राप्ति तथा चरित्र-निर्माण था। यदि आचार्य स्वयं ही ज्ञान-सम्पन्न तथा उच्च चरित्र का व्यक्ति न होता, तो वह विद्यार्थी के जीवन का निर्माण नहीं कर सकता था। 'जिसको अविद्वान् आचार्य उपनीत करता है, वह अन्धकार से अन्धकार में पुनः प्रवेश करता है। अतः कुलीन, विद्वान् तथा

---

(१) उदाहरणार्थ श्वेतकेतु का अध्यापन उसके पिता आरुणि ने किया था (छा.उ. ६. १)बृ. उ. ६. २. १; छा. उ. ४. ५. ५;मा. उ. १.२.१२।

(२) पितैवोपनयेत् पुत्रं तदभावे पितुः पिता।
तदभावे पितुर्भ्राता तदभावे तु सोदरः॥ पितामह

(३) ज्ञातयो गोत्रप्रजाः। वृद्धगर्ग

(४) उपनिषदों में इस प्रकार के उदाहरण प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं।

आत्मसंयमी आचार्य की कामना करनी चाहिए[1]। श्रुतवान्, अभिज्ञात, चरित्रवान् तथा तपःपूत ब्राह्मण को बालक का उपनयन करना चाहिए[2]।' उपनेय व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह चरित्रहीन गुरु से अध्ययन न करे, क्योंकि मज्जा से सने हुए हाथ रुधिर से शुद्ध नहीं हो सकते।[3] व्यास ऐसे व्यक्ति को गुरु पद के योग्य समझते हैं जो ब्राह्मण, वेदैकनिष्ठ, कुलीन, श्रोत्रिय, शुचि तथा अपनी शाखा के अध्ययन में आलस्यहीन हो[4]। आचार्य की कतिपय अन्य विशेषताओं का वर्णन यम ने इस प्रकार किया है : 'आचार्य को सत्यवाक्, धृतिमान्, दक्ष, प्राणिमात्र के प्रति दयालु, आस्तिक, वैदिक स्वाध्याय में रत, शुचि, वेदाध्ययन से सम्पन्न, चरित्रवान्, जितेन्द्रिय, उत्साही होना चाहिए[5]।' जब उपनयन शिक्षा-संस्कार था, तो ये गुण अनिवार्य थे अथवा इनका आदर था। किन्तु जब उपनयन के स्वरूप में परिवर्तन हुआ, तो उक्त गुणों की उपेक्षा भी की जा सकती थी। परवर्ती काल में उपनयन का प्रयोजन शिक्षा नहीं, उपचारमात्र रह गया था। आचार्य से उपनीत व्यक्ति के अध्यापन करने की आशा नहीं की जाती थी। उसका कार्य केवल वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के साथ संस्कार सम्पन्न करना था। अतः ऐसा करने में समर्थ किसी भी व्यक्ति से उपनयन संपन्न करने की प्रार्थना की जा सकती थी। आजकल अनेक विषयों में आचार्य की पूर्णतः उपेक्षा कर दी जाती है। व्यय तथा झंझटों से

---

(१) तमसो वा एष तमः प्रविशति यमविद्वानुपनयते। आदि वी. मि. सं. भा. १ पृ. ४०८ पर उद्धृत।

(२) कुमारस्योपनयनं श्रुताभिजनवृत्तवान्।
तपसा धूतनिःशेषपाप्मा कुर्याद् द्विजोत्तम ॥ शौनक, वही

(३) न याजयेद् वृत्तिहीनं शृणुयाच्च न तं गुरुम्।
नहि मज्जाकरौ दिग्धौ रुधिरेण विशुध्यतः ॥ हारीत, वही

(४) वेदैकनिष्ठं धर्मज्ञं कुलीनं श्रोत्रियं शुचिम्।
स्वशाखायामनालस्यं विप्रं कर्तारमीप्सितम् ॥ व्यास, वही

(५) सत्यवाक् धृतिमान् दक्षः सर्वभूतदयापरः।
आस्तिको वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते ॥
वेदाध्ययनसम्पन्नो वृत्तिमान् विजितेन्द्रियः।
दक्षोत्साही यथावृत्त जीवनेहस्तु वृत्तिमान् ॥ यम, वही

बचने के लिए लोग किसी पवित्र स्थान पर चले जाते हैं तथा यज्ञोपवीत को हरिद्रा से रँगे हुए जल में आर्द्र करके बालक के गले में डाल देते हैं। इसका कारण एक ओर तो संस्कार के वास्तविक प्रयोजन का घोर अज्ञान तथा दूसरी ओर आधुनिक जीवन की धर्म-निरपेक्ष प्रवृत्ति है।

१७. विधि-विधान तथा उनका महत्त्व

आरम्भ में उपनयन संस्कार अत्यन्त साधारण था। प्राचीन काल में, जब कि ब्राह्मण-कुलों में वेद का अध्ययन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक क्रमबद्ध चलता था, पिता स्वयं ही गुरु का कार्य करता था। अतः निश्चय ही उसके साथ वर्ती जानेवाली औपचारिकताएँ स्वभावतः सीमित रहती थीं। पिता का अति प्राचीन आचार्यत्व उस पुराण कथा से भी सिद्ध होता है, जिसमें देवता, मनुष्य तथा दैत्यों द्वारा अपने सामान्य पिता प्रजापति के निर्देशन में ब्रह्मचर्य-जीवन व्यतीत करने का उल्लेख है।[1] उपनिषदों के युग में विद्यार्थियों के द्वारा अपने पिता से अध्ययन करने के उदाहरण उपलब्ध होते हैं।[2] उपनिषदों में प्राप्त उपनयन के अनेक उदाहरणों से उसकी मौलिक सादगी प्रकट होती है। विद्यार्थी अपने हाथों में समिधा लेकर, जो इस तथ्य की सूचक थीं कि वह उसका शिष्य बनने तथा उसकी सेवा करने के लिए प्रस्तुत है, आचार्य के निकट जाता था।[3] उपनयन के कतिपय अन्य उदाहरण भी प्राप्त होते हैं जिनमें ब्रह्मचारी की मौखिक-प्रार्थना तथा आचार्य द्वारा उसकी स्वीकृति मात्र पर्याप्त थी।[4] किन्तु ये सादगी के इतस्ततः विकीर्ण उदाहरण हैं। वैदिक काल के अन्त के पूर्व ही उपनयन संस्कार जटिल स्वरूप धारण करता जा रहा था। अथर्ववेद-कालीन उपनयन में परवर्ती कर्मकाण्ड के अनेक अङ्ग विकसित हो गये थे। यद्यपि विस्तार के लिए प्रसिद्ध ब्राह्मण-काल में उपनयन संस्कार विस्तृत हो चुका था और उसमें प्राप्त विवरण से उसका सांस्कारिक स्वरूप

(१) बृ. उ. ५. २. १।

(२) बृ. उ. ६. २. १; छा. उ. ५. ३; ४. ५. ५; ५. ११. ७; मा. उ. १. २. १२।

(३) वही।

(४) तुलनीय वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति। बृ. उ. ६. २ ७

स्पष्ट है।[1] गृह्यसूत्र[2] पूर्णतः विकसित विधि-विधानों का विशद वर्णन करते हैं। विकास-क्रम में अनेक अवैदिक तथा लौकिक तत्त्व भी इसमें समाविष्ट हो गये।

(क) समय : संस्कार सम्पन्न करने के लिए कोई शुभ समय नियत कर लिया जाता था। साधारणतः उपनयन उस समय होता था, जब सूर्य उत्तरायण में रहता था।[3] किन्तु वैश्य बालकों के लिए दक्षिणायन भी विहित था।[4] विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न ऋतुएँ निश्चित थीं।[5] ब्राह्मण का उपनयन वसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में, वैश्य का शरद् ऋतु में तथा रथकार का उपनयन वर्षा ऋतु में होता था। ये विभिन्न ऋतुएँ विभिन्न वर्णों के स्वभाव तथा व्यवसाय की प्रतीक थीं। वसन्त की समशीतोष्णता ब्राह्मण के संतुलित जीवन का प्रतीक थी। ग्रीष्म की उष्णता क्षत्रिय की वीरता तथा उत्साह की प्रतिनिधि थी, जब कि प्राचीन भारत का व्यापारिक जीवन वर्षाऋतु के पश्चात् पुनः गतिशील होता था, जो वैश्य की समृद्धि तथा ऐश्वर्य का सूचक था और वर्षा का शान्तकाल रथकार की सुविधा का द्योतक था। परवर्ती ज्योतिष-विषयक रचनाओं ने माघ से आषाढ पर्यन्त विभिन्न मासों के साथ भिन्न-भिन्न गुणों का योग कर दिया : 'जिस बालक का उपनयन माघ मास में किया जाता है वह समृद्ध होता है, जिसका उपनयन फाल्गुन मास में होता है वह बुद्धिमान् होता है, चैत्र में उपनीत होने पर वेदों में निष्णात तथा पारङ्गत होता है, वैशाख में उपनयन करने से समस्त सुख-भोगों से सम्पन्न, ज्येष्ठ में प्राज्ञ तथा श्रेष्ठ

---

(१) श. ब्रा ११.५.४।

(२) शां. गृ. सू. २.१; आ. गृ. सू. १. १९. ३. ५; पा गृ. सू. २.२; गो. गृ. सू. २. १०; खा. गृ. सू. २. ४; ३. १; हि. गृ. सू. १. १, २. १८; आप. गृ. सू. १०।

(३) पा. गृ. सू. २. २; आ. गृ. सू. १. १९।

(४) दक्षिणे तु विशां कुर्यात्।

बृहस्पति, वी. मि. सं. भा. १, पृ. ३५४ पर उद्धृत।

(५) वसन्ते ब्राह्मणमुपनयति ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यं वर्षासु रथकारमिति।

बौ. गृ. सू. ११. ५. ६।

और आपाद में शत्रुओं का महान् विजयी तथा विख्यात महापण्डित होता है'।[1] संस्कार के लिए शुक्ल पक्ष को प्राथमिकता दी जाती थी, क्योंकि वह किसी भी सामूहिक समारोह के लिये आनन्ददायी अवसर था तथा प्रकाश, ज्ञान और विद्या का प्रतीक माना जाता था। अनध्याय, पर्व, अशुभ समय तथा प्राकृतिक असाधारणता अथवा कोप के दिन वर्जित थे।

(आ) आयोजनाएँ : संस्कार सम्पन्न होने के पूर्व उपनयन के लिए एक मण्डप का निर्माण किया जाता था।[2] संस्कार के एक दिन पूर्व अनेक पौराणिक विधि-विधान किये जाते थे। सर्वाधिक शुभ देवता गणेश का आराधन तथा श्री, लक्ष्मी, धात्री, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा और सरस्वती आदि अन्य देवियों का पूजन किया जाता था।[3] उपनयन के पूर्व रात्रि को बालक के शरीर पर हल्दी के द्रव का लेप किया जाता और उसकी शिखा से एक चाँदी की अँगूठी बाँध दी जाती थी।[4] इसके पश्चात् उसे सम्पूर्ण रात्रि पूर्ण मौन रहकर व्यतीत करनी होती थी। यह एक रहस्यपूर्ण विधि थी जो बालक को द्वितीय जन्म के लिए प्रस्तुत करती थी। पीत लेप गर्भ के वातावरण का दृश्य उपस्थित करता तथा पूर्ण मौन अवाक् भ्रूण का सूचक था।

(इ) सहभोज : दूसरे दिन प्रातः काल अन्तिम बार माता और पुत्र साथ-साथ भोजन करते थे। यह हिन्दू संस्कार में एक असाधारण विधि थी। डॉ० अल्तेकर के अनुसार यह बालक के अनियमित जीवन के अन्त का सूचक था तथा बालक को यह स्मरण कराता था कि अब वह दायित्व-हीन शिशु नहीं रहा

---

(१) माघे मासि महाधनो धनपतिः प्रज्ञायुतः फाल्गुने
मेधावी भवति व्रतोपनयने चैत्रे च वेदान्वितः।
वैशाखे निखिलोपभोगसहितो ज्येष्ठे वरिष्ठो बुध-
स्त्वाषाढे सुमहाविपक्षविजयो ख्यातो महापण्डितः॥
राजमार्तण्ड, वी. मि. सं. भा. १ पृ. ३५४ पर उद्धृत।

(२) पञ्चसु बहिःशालाया विवाहे चूडाकरणोपनयने केशान्ते सीमन्तोन्नयन इति। पा. गृ. सू. १. ४. २।

(३) यह परवर्ती विकास है जो गृह्यसूत्रों में उपलब्ध नहीं है।

(४) यह अनेक प्रदेशों में प्रचलित स्थानीय प्रथा है।

और अब से उसे व्यवस्थित जीवन व्यतीत करना है[1]। किन्तु यह माता और पुत्र की विदाई का भोज भी हो सकता है। यह एक दुखकर तथा हृदयस्पर्शी कृत्य था। यह पुत्र के प्रति माता के गम्भीर स्नेह का प्रतीक था। उपनयन के पश्चात् नियमतः माता उसके साथ भोजन नहीं कर सकती थी। इसकी कल्पना ने ही माता को अपनी अन्तिम स्नेहपूर्ण भावना व्यक्त करने के लिए प्रेरित किया। उक्त कृत्य के मूल में दोनों कारणों का योगदान रहा होगा। किन्तु कुछ अन्य कारण भी प्रतीत होते हैं, जिन्होंने इसे जन्म दिया। बालक अपनी माता के साथ केवल भोजन ही न कर सकता हो, ऐसी बात नहीं थी, वह दीर्घकाल के लिए उससे पृथक् होने भी जा रहा था। अतः माता का हृदय इस अवसर पर स्वभावतः ही भारी हो जाता था तथा बालक के प्रति अपने स्नेह की सर्वाधिक प्रभावकर व उच्चतम अभिव्यक्ति वह उसके साथ भोजन करके ही कर सकती थी। सम्भवतः बालक को प्रातःकाल भोजन कराने की एक व्यावहारिक आवश्यकता भी थी। संस्कार अत्यन्त दीर्घ था। अतः वह संस्कार के समय क्षुधा से पीड़ित न हो, इसलिये उसे संस्कार आरम्भ होने के पूर्व ही भोजन करा दिया जाता था। माता के भोजन के पश्चात् अनेक बालकों को भोजन कराया जाता था। यह गुरुकुल के लिए बालक की विदाई के अवसर पर उसके बाल-मित्रों तथा खेल के साथियों को दिया हुआ भोज था।

(ई) *स्नान*: *भोज के पश्चात् माता-पिता बालक को उस मण्डप में ले जाते थे जहाँ* आहवनीय अग्नि प्रदीप्त रहता था। संस्कार का धर्मशास्त्रों में विहित प्रथम कृत्य ब्राह्मण-भोजन था, जो सदैव पुण्यकर माना जाता था, तथा इस अवसर पर विशेष रूप से वह ब्रह्मयज्ञ और ब्रह्मचर्य का प्रतीक था, जो उपनयन के पश्चात् विद्यार्थी का जीवन होने को था। तब बालक का मुण्डन होता था। यदि उसका चूडाकरण हो चुकता था तो साधारण रूप से ही नापित द्वारा उसका मुण्डन करा दिया जाता था। किन्तु कभी-कभी व्यय को बचाने के लिए धर्मशास्त्रों के अनुकूल न होने पर भी चूडाकरण संस्कार इस समय तक स्थगित कर दिया जाता था तथा उपनयन होने के पूर्व सम्पन्न किया जाता था। मुण्डन के पश्चात् बालक को स्नान कराया जाता था। यह क्रिया प्रत्येक संस्कार

---

(१) एजुकेशन इन एंश्येन्ट इण्डिया, १. पृ १९।

के लिए अनिवार्य थी। स्नान से संस्कार्य व्यक्ति के मन और देह दोनों ही शुद्ध हो जाते थे।

(ड) कौपीन : स्नान समाप्त होने पर बालक को अपने गुह्य अङ्गों को ढँकने के लिए एक कौपीन दिया जाता था। बालक के मन में सामाजिक चेतना का उदय पहले ही हो चुका रहता था, किन्तु अब से उसे विशेष रूप से सामाजिक शिष्टाचार का पालन और अपनी शालीनता तथा आत्म-सम्मान का निर्वाह करना था। तब बालक आचार्य के निकट जाता और ब्रह्मचारी होने की अपनी इच्छा व्यक्त करता था : 'मैं यहाँ ब्रह्मचर्य के लिए आया हूँ। मैं ब्रह्मचारी बनूँगा[1]।' उसकी प्रार्थना स्वीकार कर आचार्य उसे इस मन्त्र के साथ वस्त्र देता था : 'जिस प्रकार बृहस्पति ने इन्द्र को अमृतत्व का वस्त्र दिया, उसी प्रकार मैं दीर्घायुष्य, दीर्घजीवन, शक्ति तथा तेज और ऐश्वर्य के लिए यह वस्त्र तुझे देता हूँ[2]।' हिन्दुओं की शिष्टाचार-विषयक धारणा के अनुसार धार्मिक कृत्यों में समवेत होने पर शरीर का ऊपरी भाग वस्त्र से आवृत रहना चाहिए। अतः उपनयन के अवसर पर भावी विद्यार्थी को उत्तरीय दिया जाता था, क्योंकि इस समय से उसका वास्तविक धार्मिक जीवन आरंभ होता था। प्राचीन साहित्य से ज्ञात होता है कि मूलतः इस अवसर पर दिया जानेवाला उत्तरीय मृगचर्म होता था। गोपथ ब्राह्मण से विदित होता है कि मृगचर्म आध्यात्मिक तथा बौद्धिक सर्वोच्चता का प्रतीक था[3]। इसके धारण के माध्यम से ब्रह्मचारी को अनवरत रूप से यह स्मरण कराया जाता था कि उसे आदर्श चरित्रवान् तथा गम्भीर विद्वान् बनना है। आर्यों के प्राचीन पशुपालक जीवन में मृग-चर्म एक आवश्यकता थी। इसकी अज्ञात प्राचीनता ने इसे पवित्रता प्रदान की तथा कालक्रम से यह धार्मिक विलास के रूप में परिणत हो गया। किन्तु इसका व्यवहार विस्तर तक ही सीमित था। जब आर्य कृषक हो गये तथा कातने और बुनने की कला अस्तित्व में आई, तो विद्यार्थी को कपास का वस्त्र दिया जाने लगा। आपस्तम्ब तथा बौधायन गृह्यसूत्रों के अनुसार वस्त्रखण्ड ब्रह्मचारी के घर पर संस्कार के ठीक पूर्व

---

(१) पा. गृ. सू. २. २. ९।

(२) वही. २. २. १०।

(३) गो. ब्रा. १. २. १-८।

कात कर बुना जाता था[1]। गृह्यसूत्र विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न पदार्थों से निर्मित वस्त्रों का विधान करते हैं। ब्राह्मण का वस्त्र शण से निर्मित, क्षत्रिय का क्षौम तथा वैश्य का कुतप अथवा कुश-निर्मित होना चाहिए[2]। किन्तु वैकल्पिक रूप से अविकृत कार्पास-वस्त्र सभी वर्णों के लिए विहित था[3]। प्राचीन काल में विशुद्ध धार्मिक कारणों से श्वेत तथा अ-प्रक्षालित वस्त्र दिये जाते थे, जो निस्सन्देह जीवन की पवित्रता तथा शुचिता के प्रतीक थे[4]। किन्तु आगे चलकर धार्मिक उद्देश्य पर व्यावहारिक भाव ने विजय प्राप्त कर लिया, यद्यपि अभी भी यह प्रतीकात्मकता से संयुक्त रहा। ब्राह्मण के वस्त्र काषाय, क्षत्रिय के माञ्जिष्ठ तथा वैश्य के हारिद्र होने चाहिएँ[5]। वस्त्र रँग दिये जाते थे जिससे वे अतिशीघ्र ही मलिन न हो जाएँ। किन्तु शुभ्र वस्त्रों के प्रति गहरी रुचि पूर्णतः नष्ट न हो सकी और अनेक स्मृतियों का मत है कि ब्रह्मचारी के वस्त्रों का रंग श्वेत होना चाहिए[6]। सम्प्रति उपर्युक्त भेद लुप्त हो चुके हैं तथा सभी द्विजातियों को हरिद्रा में रँगे हुए वस्त्र दिये जाते हैं।

(ऊ) मेखला :–इसके पश्चात् आचार्य बालक की कटि के चारों ओर इस मन्त्र के साथ मेखला बाँध देता था : 'दुरित (पाप) को दूर रखती हुई, शोधक की भाँति मनुष्यों को शुद्ध करती हुई, श्वास तथा प्रश्वास की शक्ति से स्वयं को आवृत करती हुई, शक्ति के साथ, भगिनी मेखला मेरे निकट आई है[7]।'

---

(१) वासः सद्य कृत्तोतम्। बौ. गृ. सू. २.५.११; आप.गृ.सू. ११.१६।

(२) शाणक्षौमचीरकुतपा। गौ. ध. सू. १. १०. १८।

(३) सर्वेषां कार्पासं वाऽविकृतम्। वही.।

(४) अहतेन वाससा संवीतमिति। आ. गृ. सू. १. १९. १०।

ईषद्धौतं नवश्वेतं सदशं यन्न धारितम्।
अहतं तद्विजानीयात् सर्वकर्मसु पावनम्॥

प्रचेता, वी. मि. स. भा. १; पृ. ४१० पर उद्धृत।

(५) यदि वासांसि वसीरन् रक्तानि वसीरन् काषायं ब्राह्मणो माञ्जिष्ठं क्षत्रियो हारिद्रं वैश्य इति। आ. गृ. सू. १. १९. १०।

(६) सर्वे वै धारयेच्छुक्लं वासस्तत् परिधानकम्।

मनु, वी. मि. सं. भा. १. पृ. ४१०।

(७) पा. गृ. सू. २. २. ११।

अथवा 'सुसज्जित, सुन्दर वेश-भूषा से अलंकृत युवक यहाँ आता है। वह उत्पन्न होने पर गौरवशाली होता है। मेधावी ऋषि उसकी प्रशंसा करते हैं; धार्मिक महात्मा, जिनका मन ईश्वर की आराधना में तत्पर रहता है, उसकी सराहना करते हैं।' यदा-कदा बिना किसी मन्त्र का उच्चारण किये भी मेखला पहना दी जाती थी[1]। मेखला का निर्माण मूलतः कौपीन की सहायता के लिए हुआ था। किन्तु आगे चलकर इसके साथ भी धार्मिक प्रतीकात्मकता का योग हो गया। यह तिहरे सूत्र से बनाई जाती थी, जो इसका प्रतीक था कि ब्रह्मचारी सर्वदा तीन वेदों से आवृत है[2]। मेखला ब्रह्मचारी को यह भी सूचित करती थी कि 'वह श्रद्धा की तप से उत्पन्न दुहिता, ऋषियों की भगिनी तथा भूतकृता (जीवों का कल्याण करनेवाली) है। वह उसके ऋत (व्रत) के गोपन में समर्थ है तथा दुष्प्रभावों से वह उसकी रक्षा करेगी[3]।' उत्तरीय के समान ही मेखला भी भिन्न-भिन्न वर्णों के लिए भिन्न पदार्थों से निर्मित होती थी। एक वर्ण के लिए भी शाखा-भेद से अनेक विकल्पों की अनुमति प्राप्त थी। ब्राह्मण की मेखला मूंज की, क्षत्रिय की धनुष की प्रत्यञ्चा की तथा वैश्य की ऊन की होनी चाहिए। यह समान, चिकनी तथा देखने में सुन्दर होनी चाहिए। आजकल इसका व्यवहार बहुत थोड़े काल के लिए होता है तथा उपनयन के तत्काल पश्चात् इसका स्थान कपास की मेखला ग्रहण कर लेती है।

(ए) यज्ञोपवीत : मेखला धारण करने के पश्चात् ब्रह्मचारी को उपवीत सूत्र दिया जाता था, जो परवर्ती लेखकों के अनुसार उपनयन संस्कार का सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। यह विदित है कि कर्मकाण्ड साहित्य के अति प्राचीन लेखकों को यह अज्ञात था। किसी भी गृह्यसूत्र में उपवीत सूत्र धारण करने

---

(१) वही. २. २. १२-१३।

(२) वेदत्रयेणावृतोऽहमिति मन्येत स द्विजः। आश्वलायन, वी. मि. सं. भा. १, पृ. ४३२ पर उद्धृत।

(३) श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधिजाता स्वसा ऋषीणां भूतकृता बभूव। अ. वे. ६. १३३. ४।

ऋतस्य गोप्त्री तपसस्परित्री घ्नती रक्षः सहमानाः अरातीः।
सा मा समन्तमभिपर्येहि भद्रे धर्तारस्ते सुभगे मा रिषाम॥ पा. गृ. सू. ५।

का विधान नहीं है। प्रतीत होता है कि बालक को दिये जानेवाले उत्तरीय का ही वह पूर्वरूप था, जिससे उपवीत सूत्र का जन्म हुआ, यद्यपि परवर्ती आचार्यों की रचनाओं में पूर्वरूप (यज्ञिय प्रयोजन के लिए नहीं) तथा उसकी अनुकृति दोनों ही सुरक्षित हैं। उपवीत सूत्र का नाम 'यज्ञोपवीत' स्वयं ही अपने मौलिक स्वरूप की ओर संकेत करता है[1]।

धर्मशास्त्रों के नियमानुसार ब्राह्मण को कपास का, क्षत्रिय को सन का तथा वैश्य को भेड़ के ऊन का उपवीत धारण करना चाहिए[2]। किन्तु समस्त वर्णों के लिए कपास का यज्ञोपवीत विकल्प के रूप में विहित है[3]। प्रतीत होता है कि इसका कारण कपास का सूत्र प्राप्त करने में सरलता ही थी। उपवीत विभिन्न वर्णों के अनुसार भिन्न-भिन्न रंग का होता था। ब्राह्मण श्वेत उपवीत धारण करता था, क्षत्रिय लाल तथा वैश्य पीला। यह कहा जाता है कि रंग का यह भेद उपर्युक्त वर्णों के मन के रंग का द्योतक था। किन्तु कुछ समय पश्चात् इस भेद को दूर कर दिया गया और आधुनिक काल में वैश्य-वर्ण का पीला रंग ही व्यापक रूप से ग्रहण कर लिया गया है।

उपवीत को ब्राह्मण-कुमारी कातती है और ब्राह्मण द्वारा उसमें ग्रन्थि दी जाती है। उपवीत धारण करने वाले व्यक्ति के पूर्वजों के प्रवरों की संख्या के अनुसार ग्रन्थियां दी जाती हैं। उपवीत की रचना प्रतीकात्मकता तथा अर्थ से पूर्ण है। इसकी लम्बाई एक मनुष्य की चार अंगुलियों की चौड़ाई की ९६ गुनी होती है, जो उसकी ऊँचाई के बराबर है। चार अंगुलियाँ इन चार अवस्थाओं की प्रतिनिधि हैं, जिनका अनुभव मनुष्य की आत्मा समय-समय पर करती है। ये हैं जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीया। उपवीत के प्रत्येक सूत्र के तीन धागे भी प्रतीकात्मक हैं। वे सत्व, रजस् तथा तमस् का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनसे सम्पूर्ण विश्व विकसित हुआ है। इस बात का ध्यान रखा जाता था कि

---

(१) तुलना डॉ. अ. स. अल्तेकर, एजुकेशन इन एंश्येन्ट इन्डिया, परिशिष्ट ए।

(२) कार्पासमुपवीतं स्याद् विप्रस्योर्ध्वं वृतं त्रिवृत्।
शाणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसूत्रजम्॥ म. स्मृ. २. ४४।

(३) कार्पासमोपवीतं सर्वेषाम्। पैठीनसि, वी. मि. सं. भा. १, पृ. ४१५ पर उद्धृत।

सूत्र का दुहरा भाग ऊपर की ओर रहे। इसका प्रयोजन यह था कि मनुष्य में सत्त्व गुण की प्रधानता रहे और इस प्रकार उसका आत्मिक कल्याण हो सके। तीन सूत्र उसके धारण करने वाले को यह स्मरण कराते हैं कि उसे ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण तथा देव-ऋण से उऋण होना है। तीनों सूत्र एक ग्रन्थि द्वारा परस्पर बाँध दिये जाते हैं, जो ब्रह्मग्रन्थि कहलाती है तथा जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव का प्रतीक है। इसके अतिरिक्त, कुल-विशेष के विविध प्रवरों को सूचित करने के लिए अतिरिक्त ग्रन्थियाँ भी दी जाती हैं।

ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत धारण कराते हुए आचार्य उपर्युक्त मन्त्र का उच्चारण करता था, जिसमें बालक के आयुष्य, बल तथा तेज के लिए प्रार्थना की गई है।[1] इस बीच बालक सूर्य की ओर देखता रहता था। ब्रह्मचारी केवल एक ही उपवीत धारण कर सकता है। गृहस्थ को दो उपवीत धारण करने का विशेषाधिकार प्राप्त है, एक स्वयं के लिए और दूसरा अपनी पत्नी के लिए। विभिन्न अवसरों पर यज्ञोपवीत धारण करने के विभिन्न प्रकार हैं। कोई शुभ कृत्य सम्पन्न करते समय व्यक्ति को उपवीती होना चाहिए, अर्थात् यज्ञोपवीत बायें कन्धे से लटकता रहना चाहिए। किसी अशुभ कृत्य करते समय यज्ञोपवीत प्राचीनावीत प्रकार से धारण करना चाहिए। प्राचीनावीत वह प्रकार है जिसमें उपवीत-सूत्र दाहिने कन्धे से लटकता रहता है। जब उपवीत सूत्र माला के समान गले में पड़ा रहता है, तो उसे धारण करने वाला निवीती कहलाता है।[2]

(ऐ) अजिन: इसके पश्चात् ब्रह्मचारी को अजिन दिया जाता था। अजिन शब्द का अर्थ मृग[3] अथवा बकरे[4] आदि पशुओं के चर्म से है। प्राचीन काल में पशुओं के चर्म का वस्त्र के रूप में प्रयोग 'अजिन-वासिन्'[5] इस विशेषण से सूचित होता है, तथा चर्मकारों के व्यापार का उल्लेख मिलता है।[6] मरुद्-गण

---

(१) यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥
पा. गृ. सू. २. २. ११

(२) एक परिशिष्ट, वी. मि. सं. भा. १, पृ. ४२३ पर उद्धृत।

(३) अ. वे. ५. २१. ७। (४) श. ब्रा. ५. २. १. २१।

(५) वही. ३. ९. १. १२। (६) वाजसनेय संहिता, ३०. १५।

भी मृगचर्म धारण करने के लिए प्रसिद्ध थे।[1] ऋग्वेद के दशम मण्डल से ज्ञात होता है कि उस काल में भी आरण्यक तपस्वी चर्म धारण करते थे।[2] पहले पहल अजिन का व्यवहार उत्तरीय के रूप में किया जाता था। किन्तु आगे चलकर इसका स्थान कपास के वस्त्र द्वारा ग्रहण कर लिये जाने पर, इसका व्यवहार आसन के लिए होने लगा। प्राचीन काल में देश वनों से आवृत था तथा अजिन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध। किन्तु जब जंगल साफ कर दिये गये तो अजिन दुर्लभ हो गया और उसका स्थान कम्बल को दिया गया।[3] प्राचीन परम्परा का सर्वथा त्याग नहीं किया गया, यद्यपि अजिन सूत्रों तक ही सीमित रह गये, जिनका स्थान अब उपनयन संस्कार के अवसर पर दिये जाने वाले यज्ञोपवीत के तीन सूत्रों ने ग्रहण कर लिया है। विभिन्न वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के अजिन विहित थे। पारस्कर गृह्यसूत्र में कहा गया है : 'ब्राह्मण का उत्तरीय कृष्ण मृगचर्म होना चाहिए, राजन्य का उत्तरीय उस मृग के चर्म का होना चाहिए, जिसके चर्म पर छोटी-छोटी बुंदकी हों, और वैश्य का बकरे अथवा गो-चर्म का, अथवा यदि उपरि-विहित प्रकार के उत्तरीय उपलब्ध न हो सकें तो सभी को गो-चर्म धारण करना चाहिए, क्योंकि वस्त्र के समस्त प्रकारों में उसका स्थान सर्वप्रथम है[4]।' गो-चर्म सरलता से प्राप्त हो जाता था, अतएव यह साधारण विकल्प सभी वर्णों के लिए विहित था। विष्णु के अनुसार वैदिक ब्रह्मचारी व्याघ्र-चर्म भी धारण करते थे।[5] किन्तु यह एक अपवाद ही था। आदिम काल के वन्य जीवन में अजिन की व्यावहारिक उपयोगिता थी। क्योंकि संन्यासी तथा तपस्वी भी इसका व्यवहार करते थे, अतः इसे धार्मिक महत्त्व प्राप्त होने लगा। जब यह संस्कार के साथ सम्बद्ध हो गया, तो धर्मशास्त्र-प्रणेताओं ने उसे प्रतीकात्मकता प्रदान की। गोपथ-ब्राह्मण कहता है कि सुन्दर मृगचर्म वर्चस्व तथा बौद्धिक और आध्यात्मिक सर्वोच्चता का प्रतीक है।[6]

---

(१) ऋ. वे. १. १६६. १०। (२) वही. १०. १३६. २।

(३) सार्ववर्णिकं कम्बलम्। आप. ध. सू. १।

(४) पा. गृ. सू. २. ५. २।

(५) मार्गवैयाघ्रवास्तानि चर्माणि। विष्णु, वी. मि. सं. भा. १, पृ. ४१२ पर उद्धृत।

(६) पूर्वपृष्ठ, १८. पाद टिप्पणी, ११।

इसे धारण करते समय ब्रह्मचारी यह अनुभव करे कि उसे आध्यात्मिक तथा बौद्धिक दृष्टि से ऋषि का पद प्राप्त करना है।

(औ) दण्ड : आचार्य विद्यार्थी को एक दण्ड भी देता था,[1] जिसे वह इस वचन के साथ स्वीकार करता था : 'मेरा दण्ड, जो मुक्त वायुमण्डल में भूमि पर गिर गया, मैं दीर्घायुष्य, वर्चस्व तथा शुचिता के लिए उसे पुनः ग्रहण करता हूँ।' कतिपय आचार्यों के अनुसार ब्रह्मचारी को दण्ड उस मन्त्र के साथ ग्रहण करना चाहिए, जिसका उच्चारण दीर्घ-सत्र के आरम्भ में दण्ड ग्रहण करते हुए किया जाता था।[2] मानव-गृह्यसूत्र में कहा गया है कि 'वस्तुतः ब्रह्मचारी विद्या के सुदीर्घमार्ग का एक यात्री है।[3] दण्ड यात्री का प्रतीक था तथा उसे स्वीकार करते समय ब्रह्मचारी यह प्रार्थना करता था कि वह अपना दीर्घजीवन तथा दुर्गम यात्रा सुरक्षित रूप से समाप्त कर सके।[4] किन्तु एक लेखक के मतानुसार दण्ड प्रहरी का प्रतीक था।[5] ब्रह्मचारी को दण्ड प्रदान कर वेदों की रक्षा का कर्तव्य उसे सौंप दिया जाता था। कतिपय आचार्यों के अनुसार दण्ड का प्रयोजन केवल मानवीय शत्रुओं से ही नहीं, भूत-प्रेतों तथा दुष्ट शक्तियों से भी विद्यार्थी की रक्षा करना था।[6] याज्ञवल्क्य स्मृति (१. २९) पर अपरार्क लिखते हैं कि दण्ड का एक अन्य प्रयोजन विद्यार्थी को समिधा एकत्र करने अथवा गुरु की गाय आदि चराने के लिए वन में जाते समय अथवा अन्धकार में यात्रा के समय आत्म-विश्वासी तथा आत्म-निर्भर बनाना भी था।

दण्ड का प्रकार विद्यार्थी के वर्ण के आधार पर नियत था। ब्राह्मण का दण्ड पलाश का होता था, क्षत्रिय का उदुम्बर (गूलर) तथा वैश्य (बेल) का विल्व का होता था[7]। किन्तु विकल्प मान्य थे जो प्रादेशिक प्रथाओं और स्थान-विशेष की

(१) पा. गृ. सू. २. ५. १४।

(२) दीर्घसत्रं वा एप उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति।

हरिहर द्वारा पा. गृ. सू. २. २. १४ पर उद्धृत।

(३) मा. गृ. सू. १. २२. ११।

(४) तुलना डॉ. अ. स. अल्तेकर, एजुकेशन इन एंश्येन्ट इन्डिया, अध्याय १. २५, २६।

(५) बा. गृ. सू. ६। (६) पा. गृ. सू. २. ६. २६।

(७) आ. गृ. सू. १. १९. १०।

सुविधा पर आधारित थे। दण्ड के काष्ठ का विशेष महत्त्व न होने के कारण समस्त वर्ण सभी प्रकार के दण्ड का व्यवहार कर सकते थे[1]। परन्तु कतिपय लेखक दण्ड को केवल यज्ञिय वृक्ष के काष्ठ तक सीमित कर देते हैं[2]। दण्ड की लम्बाई भी विद्यार्थी के वर्ण के अनुसार नियत थी। 'ब्राह्मण का दण्ड उसके केशों को और क्षत्रिय का दण्ड ललाट को स्पर्श करता था तथा वैश्य का दण्ड उसकी नासिका जितना ऊँचा होता था[3]। वसिष्ठ इसके ठीक विपरीत विधान करते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि उक्त विभेद का वर्ण-भेद के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार का यथार्थ महत्त्व नहीं था[4]। दण्ड की सुरुचिपूर्णता तथा सुन्दरता का भी ध्यान रखा जाता था। गौतम और पैठिनसि के अनुसार दण्ड अपीडित, अविच्छिन्न तथा त्वचासहित होना चाहिए[5]। मनु का मत है कि दण्ड ऋजु, अव्रण, सौम्यदर्शन, अनुद्वेगकर तथा अग्नि आदि से न जला हुआ होना चाहिए[6]। आजकल भी कुछ विषयों में इन समस्त नियमों का पालन किया जाता है, किन्तु अधिकांश में नितांत औपचारिक तथा नाममात्र का दण्ड विद्यार्थी को दिया जाता है। इसका कारण यह है कि आधुनिक काल में दण्ड की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं रही है, क्योंकि उपनीत बालक से अपने घर के बाहर वन्य गुरुकुलों अथवा आश्रमों को जाने की अपेक्षा ही नहीं की जाती।

(औ) प्रतीकात्मक कृत्य : प्राचीनकाल में विद्यार्थि-जीवन की आवश्यकताओं से बालक के पूर्णतः सुसज्जित होने पर, आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी को अपने संरक्षण में लेने के पूर्व कतिपय प्रतीकात्मक कृत्य सम्पन्न किये जाते थे। उनमें से प्रथम कृत्य इस प्रकार था। आचार्य अपनी बँधी हुई अञ्जलि में जल लेकर उसे विद्यार्थी की बँधी हुई अञ्जलि में एक मन्त्र के साथ छोड़ देता था। यह

(१) सर्वे वा सर्वेषाम्। पा. गृ. सू. २. ५. २८।

(२) यज्ञियो वा सर्वेषाम्। गौ. ध. सू.।

(३) आ. गृ. सू. १. १९. १०।

(४) व. ध. सू. वी. मि. सं. भा. १ पृ. ४२६ पर उद्धृत।

(५) अपीडिता यूपवक्रास्सल्का इति। गौ. ध. सू.।

(६) ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः॥ म. स्मृ. २. ४७।

शुचित्व का प्रतीक था[1]। नियमित रूप से विधिवत् गायत्री मन्त्र के अध्ययन के पूर्व विद्यार्थी के लिए शुचिता प्राप्त करना आवश्यक था। आश्वलायन लिखते हैं : 'मन्त्रों का उच्चारण कर आचार्य ब्रह्मचारी की अञ्जलि में जल छोड़ता है, जिससे सावित्री-मन्त्र को ग्रहण करने के लिए वह शुचि व प्रस्तुत हो जावे[2]।' इसके पश्चात् एक अन्य उपयुक्त मन्त्र के साथ आचार्य विद्यार्थी को सूर्य का दर्शन कराता था[3]। विद्यार्थी का जीवन एक पूर्ण अनुशासन था, जिसके सूक्ष्मतम विषय भी नियम में आबद्ध थे। सूर्य उस ईश्वरीय नियम का प्रतिनिधि है, जो सम्पूर्ण विश्व का नियमन करता है। विद्यार्थी सूर्य से अपने कर्तव्य तथा अनुशासन के अविचलित रूप से पालन की शिक्षा ग्रहण करता था। आश्वलायन पुनः लिखते हैं : 'सूर्य सभी कर्मों का साक्षी है; वह समस्त व्रतों, काल, क्रिया तथा गुणों का ईश्वर है; अतः उसका विधिवत् तर्पण करना चाहिए[4]।'

(अं) हृदय-स्पर्श : इसके पश्चात् आचार्य शिष्य के दाहिने कन्धे की ओर पहुँच कर 'मैं अपने व्रत में तेरा हृदय धारण करता हूँ, तेरा चित्त मेरे चित्त का अनुगामी हो'[5] आदि शब्दों के साथ उसके हृदय का स्पर्श करता था। इसी मन्त्र का उच्चारण विवाह संस्कार के अवसर पर भी किया जाता है। अन्तर केवल देवता का है; उपनयन में प्रयुक्त मन्त्र का देवता बृहस्पति है और विवाह में विनियुक्त मन्त्र का प्रजापति। 'स्तुतियों के ईश्वर' अथवा 'विद्या के अधिदेवता' से आचार्य और शिष्य के हृदय को संयुक्त करने की प्रार्थना की जाती थी। इस प्रार्थना का प्रयोजन इस तथ्य पर बल देना था कि अध्यापक और विद्यार्थी के बीच औपचारिक व कृत्रिम नहीं, अपितु यथार्थ व पवित्र सम्बन्ध है। इस तथ्य की अनुभूति आवश्यक थी। विद्यार्थी तथा आचार्य के बीच पूर्ण ऐकमत्य,

---

(१) शुचित्वसिद्ध्यै तस्य सावित्रीग्रहणे गुरुः।
अभिमन्त्र्य यथावारि सिञ्चत्येव तदञ्जली॥
आश्वलायनाचार्य, वी. मि. सं. भा. १, पृ. ४२६ पर उद्धृत।

(२) वही।

(३) पा. गृ. सू. २. २. १७।

(४) कर्मसाक्षिणमादित्यं तर्पयेत्तं यथोक्तवत्।
सर्वव्रतानां भगवान् सूर्योऽधिपतिरीश्वरः॥

(५) मम व्रते ते हृदयं दधामि आदि। पा. गृ. सू. २. २. १८।

गम्भीर सहानुभूति तथा हार्दिक सम्बन्ध व आदान-प्रदान के बिना शिक्षा की प्रगति सम्भव ही न थी।

(अः) अश्मारोहण : तब ब्रह्मचारी से "इस अश्मा पर आरूढ हो, तू इसी के समान स्थिर हो। तू शत्रुओं को पदाक्रान्त कर उनको पराजित कर"[1] इन शब्दों में अश्म या प्रस्तर-खण्ड पर आरूढ होने के लिए कहा जाता था। मानवगृह्यसूत्र के अनुसार अश्मारोहण के माध्यम से विद्यार्थी से अपने स्वाध्याय में दृढ व स्थिर होने के लिए कहा जाता था।[2] किन्तु भारद्वाज गृह्यसूत्र के अनुसार प्रस्तरखण्ड बल का प्रतीक था।[3] अश्मारोहण का प्रयोजन विद्यार्थी को शरीर व चरित्र में दृढ व सबल बनाना था। प्रस्तर-खण्ड विद्यार्थी को यह सदुपदेश देता था कि दृढ-निश्चयता तथा चरित्र-बल सफल विद्यार्थी-जीवन की सर्वाधिक अनिवार्य आवश्यकताएं हैं।

(क) आचार्य द्वारा विद्यार्थी का स्वीकरण : अब आचार्य द्वारा विद्यार्थी की वास्तविक स्वीकृति का कृत्य आरम्भ होता था।[4] आचार्य ब्रह्मचारी का दाहिना हाथ ग्रहण कर उसका नाम पूछता था। बालक उत्तर देता था : 'श्रीमन्, मेरा नाम अमुक है।' आचार्य उससे पुनः प्रश्न करता था कि वह किसका विद्यार्थी है। वह उत्तर देता था, 'आपका'। आचार्य उसके उत्तर का संशोधन करते हुए कहता था : 'तू इन्द्र का ब्रह्मचारी है; अग्नि तेरा आचार्य है, मैं तेरा आचार्य हूँ।' इस प्रकार आचार्य अध्यापन तथा रक्षा के लिए विद्यार्थी को अपने संरक्षण में ग्रहण करता था। किन्तु यह विचार करके कि वह सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् नहीं है, वह उसे देवताओं तथा सम्पूर्ण प्राणियों को रक्षा के लिए सौंप देता था, जिससे प्रत्येक स्थान पर उसकी सुरक्षा के लिए प्रार्थना की जाती थी : 'मैं तुझे प्रजापति के संरक्षण में देता हूँ। तुझे मैं सविता के संरक्षण में देता हूँ। तुझे मैं द्यावा-पृथिवी की शरण में देता हूँ। क्षति से रक्षा के लिए मैं तुझे अखिल भूतों के संरक्षण में देता हूँ[5]।'

(ख) आदेश : अग्नि की एक प्रदक्षिणा और उसमें आहुति देने के पश्चात् ब्रह्मचारी को स्वीकार करता हुआ आचार्य उसे निम्नलिखित आदेश करता था : 'तू

(१) मा. गृ. सू. १. २२. १०। (२) वही. १. २२. १२।
(३) भा. गृ. सू. १. ८। (४) पा. गृ सू. २. २. १९–२२।
(५) वही. २. २. २३।

ब्रह्मचारी है, जल ग्रहण कर दिन में शयन न कर, वाक्संयम कर। अग्नि में समिधा का आधान कर, जल ग्रहण कर[1]।' यह शिक्षा शतपथ-ब्राह्मण[2] के समान प्राचीन ग्रन्थ में भी मिलती है, जहाँ उक्त उपदेश के अतिरिक्त उसकी व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है : 'जल से आचमन कर। जल का आशय अमृत से है : इस प्रकार आचार्य ब्रह्मचारी से अमृत का पान करने को कहता है : तू अपना कर्म कर; कर्म का अभिप्राय है तेज और उत्साह; इस प्रकार वह उससे अपने उत्साह तथा शक्ति के प्रयोग के लिए कहता है। समिधा का आधान कर : तू अपने मन को अग्नि से प्रकाशित कर। यहाँ उसका आशय वर्चस्व तथा तेज से है। शयन न कर। इसका अर्थ है तेरी मृत्यु न हो आदि।' यह उपदेश व्यावहारिक परामर्श के साथ ही प्रतीकात्मकता से भी पूर्ण था।

(ख) सावित्री-मन्त्र : अब विद्यार्थी को पवित्रतम सावित्री-मन्त्र का उपदेश किया जाता था।[3] यदि बालक में उसे उस दिन समझने की योग्यता न होती, तो इसका उपदेश एक वर्ष, छः मास, चौबीस दिन, बारह दिन अथवा तीन दिन के पश्चात् किया जा सकता था।[4] बालक के मुख की ओर देखता हुआ आचार्य सावित्री मन्त्र का उच्चारण करता था, जो इस प्रकार है : 'हम सविता के वरेण्य (वरण करने योग्य : उत्तम) भर्ग अथवा तेज को धारण करते हैं। वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे[5]।' मन्त्र के प्रत्येक पाद का, उसके पश्चात् प्रत्येक चरण का और अन्त में सम्पूर्ण मन्त्र का उच्चारण किया जाता था। ब्राह्मण के लिए आचार्य सावित्री का उपदेश गायत्री छन्द में, राजन्य के लिए त्रिष्टुप् छन्द में तथा वैश्य के लिए जगती छन्द में अथवा सभी वर्णों के लिए गायत्री छन्द में ही करता था। सम्प्रति अन्तिम विकल्प ही व्यापक रूप से प्रचलित है। सावित्री मन्त्र का उपदेश बालक के द्वितीय जन्म का सूचक था, क्योंकि आचार्य बालक का पितृस्थानीय और सावित्री मातृस्थानीय मनी जाती थी।[6] अति प्राचीन काल में

---

(१) ब्रह्मचार्यस्यपोशान कर्म कुरु मा दिवा सुषुप्था वाचं यच्छ समिधमाधेह्यपोशानेति। वही, २. ३. २। (२) ११. ५. ४।

(३) पा. गृ. सू. २. ३. ३; शां. गृ. सू. १. २१. ५। (४) वही।

(५) तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(६) तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते। म. स्मृ. २. १७०।

तो यह समझा जाता था कि आचार्य स्वयं बालक को गर्भ में धारण करता है : 'शिष्य पर अपना दाहिना हाथ रखने से आचार्य उसका गर्भी हो जाता है। तृतीय रात्रि में वह सावित्री-सहित ब्राह्मण के रूप में जन्म ग्रहण करता है[1]।' यह प्रार्थना साधारण किन्तु अर्थपूर्ण थी। विद्यार्थियों के लिए, जिनका प्राथमिक कर्तव्य अपनी बुद्धि को विकसित तथा प्रेरित करना था, सावित्री-भावना नितान्त उपयुक्त थी।

(ग) आहवनीय अग्नि : गायत्री-मन्त्र के उपदेश के पश्चात् यज्ञिय अग्नि को प्रथम बार प्रदीप्त करने तथा उसमें आहुति डालने का कृत्य किया जाता था।[2] इस अवसर पर उच्चारित मन्त्र शैक्षणिक दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण थे। विद्यार्थी अपने हाथ से अग्नि के चारों ओर की भूमि को इस मन्त्र से साथ स्वच्छ करता था : 'हे दीप्तिमान् अग्ने, मुझे दीप्तिमान् कर। हे दीप्तिमान् अग्नि, जिस प्रकार तू दीप्तिमान् है, वही दीप्ति मुझे भी प्रदान कर। जिस प्रकार तू देवताओं के लिए यज्ञ की निधि का रक्षक है, उसी प्रकार मुझे भी मनुष्यों के लिए वेदों की निधि का रक्षक बनने की क्षमता प्रदान कर[3]।' तब वह निम्नलिखित प्रार्थना के साथ अग्नि में समिधाधान करता था : 'मैं उस जातवेदस् अग्नि के लिए समिधा लाया हूँ। हे जातवेदः, जिस प्रकार तू समिधा से समिद्ध है, उसी प्रकार मैं जीवन, अन्तर्दृष्टि, तेज, प्रजा, पशु तथा ब्रह्मवर्चस से समिद्ध होऊँ। मैं अन्तर्दृष्टि से पूर्ण बनूँ, अधीत अथवा पठित मुझे विस्मृत न हो। मैं तेज, प्रकाश तथा ब्रह्मवर्चस से सम्पन्न बनूँ और अन्न का भोग करूँ, स्वाहा[4]।' यज्ञिय अग्नि जीवन तथा प्रकाश का प्रतीक था, जिसकी प्राप्ति के लिए विद्यार्थी यत्नशील था। यह भारतीय आर्यों की अशेष धार्मिक गति-विधियों का केन्द्र था। इसका अर्चन विद्यार्थी-जीवन से आरम्भ होता और वह उसके जीवन पर्यन्त अबाधित रूप से चलता रहता था।

(घ) भिक्षा : इसके पश्चात् विद्यार्थी भिक्षा माँगता था।[5] यह सम्पूर्ण विद्यार्थि-जीवन पर्यन्त उसके निर्वाह के प्रमुख साधन भिक्षा का विधिवत् आरम्भ था। उपनयन के दिन वह माता तथा अन्य सम्बन्धियों से भिक्षा मांगता था, जो उसका प्रतिषेध न करें। शिष्टाचार की दृष्टि से यह आवश्यक था कि ब्राह्मण

(१) श. ब्रा. ११ ५. ४. १२।
(२) पा. गृ. सू. २. ४. १-८।
(३) वही. २. ८. २।
(४) पा. गृ. सू. २. ४. ३।
(५) वही. २ ५. १-८।

ब्रह्मचारी अपनी प्रार्थना के आरम्भ में, क्षत्रिय मध्य में और वैश्य अन्त में गृहस्वामिनी के लिये 'भवति' शब्द का प्रयोग कर भिक्षा माँगें। यह कहना कठिन है कि प्राचीन भारत में भिक्षा की प्रथा कहाँ तक व्यापक थी। किन्तु भिक्षा के इस कृत्य द्वारा विद्यार्थी के मन पर यह तथ्य अङ्कित करने का प्रयत्न किया जाता था कि समाज की एक अ-वित्तीय इकाई होने के कारण वह अपने निर्वाह के लिएसार्वजनिक सहायता पर निर्भर है तथा उसे उस समय तक समाज से अपना पोषण लेना चाहिए, जब तक कि वह उसका अर्जन करनेवाला सदस्य हो जावे। प्राचीन काल में भिक्षा यदि विश्वजनीन नहीं तो साधारण रूप से प्रचलित अवश्य रही होगी। विशेषतः ब्राह्मण तथा अन्य निर्धन विद्यार्थी तो अवश्य ही इसे अपनाते रहे होंगे, जैसा कि अब भी निर्धन ब्राह्मण विद्यार्थियों के भिक्षा-वृत्ति द्वारा अपना निर्वाह करने से स्पष्ट है। किन्तु परवर्ती काल में कतिपय अपवादों को छोड़कर यह प्रथा प्रचलित नहीं रही।

(ङ) नवीन तत्त्व : कतिपय नवीन तत्त्व, जिनसे धर्मशास्त्र अपरिचित हैं, उपनयन संस्कार में समाविष्ट हो चुके हैं। ये औपचारिक कृत्य भिक्षा के पश्चात् सम्पन्न होते हैं। विद्यार्थी एक अनुकरणपरक तथा नाटकीय कृत्य करता है।[1] वह शिक्षा के लिए काशी या काश्मीर जाने का अभिनय करता है। किन्तु मामा उसे वधू देने का वचन देकर उक्त स्थानों को जाने से रोकता है। उपनयन संस्कार के शैक्षणिक आदर्श की कितनी विचित्र विडम्बना है! बाल-विवाह की प्रथा के कारण समावर्तन संस्कार भी, जो प्राचीन काल में शिक्षा समाप्त होने पर सम्पन्न होता था, उपनयन के ही दिन कर दिया जाता है।

(च) त्रिरात्र-व्रत : उपनयनसम्बन्धी विधि-विधानों की समाप्ति पर विद्यार्थी तीन दिन पर्यन्त कठोर संयम के व्रत का पालन करता था, जिसे 'त्रिरात्र-व्रत'[2] कहते थे। यह व्रत बारह दिन अथवा एक वर्ष का भी हो सकता था। यह विद्यार्थि-जीवन के कठोर अनुशासन का आरम्भ था। उसके लिए क्षार भोजन वर्जित था और उसे भूमि पर शयन करना पड़ता था। वह न तो मांस और मद्य का सेवन कर सकता था और न दिन में शयन। इस व्रत

(१) प्राचीन काल में विद्यार्थी की शैक्षणिक यात्रा एक सत्य थी। देखिये, शां. गृ. सू. २. ८; आ. गृ. सू. ३. १०।

(२) आ. गृ. सू. १. २२. १२; हि. गृ. सू. १. ८. १६।

के अन्त में बुद्धि, स्मृति तथा प्रज्ञा को तीक्ष्ण करने के लिए ईश्वरीय सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से मेधा-जनन की विधि सम्पन्न की जाती थी।[1] इसको मेधा-जनन इसलिए कहा जाता था कि इसके अनुष्ठान से वैदिक ज्ञान को ग्रहण करने में समर्थ मेधा प्राप्त होती है। शौनक कहता है : 'जगत् की धात्री सावित्री देवी स्वयं ही मेधास्वरूपिणी है। विद्या में सिद्धि प्राप्त करने के लिए इच्छुक व्यक्ति को मेधा की वृद्धि के लिए उसकी पूजा करनी चाहिए[2]।' आधुनिक काल में उपनयन के शैक्षणिक प्रयोजन के अभाव में शैक्षणिक महत्त्व के अनुरूप उक्त विधि-विधान भी प्रचलित नहीं रहे।

(छ) नव-युग का उदय : जिस समय उपनयन विद्यार्थि-जीवन के आरम्भ में सम्पन्न होने वाला एक सजीव संस्कार था, उस समय निश्चय ही इसके फलस्वरूप अत्यन्त प्रभावकर वातावरण उत्पन्न हो जाता रहा होगा। यह उपनीत बालक के जीवन में एक नवीन अध्याय के आरम्भ का सूचक था। बालक अब निरा शिशु नहीं रह जाता था। वह पूर्ण व कठोर अनुशासन के जीवन में प्रवेश करता था। यह संस्कार इस तथ्य का प्रतीक था कि विद्यार्थी ज्ञान के असीमित पथ का पथिक है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उससे अपने निश्चय में पत्थर के समान दृढ़ता तथा शक्ति की अपेक्षा की जाती थी। आचार्य तथा उसके बीच पूर्ण ऐकमत्य भी आवश्यक था। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में समस्त देवों तथा भूत-मात्र की सहायता का विश्वास दिलाया जाता था। उसके समक्ष विश्व के सर्वाधिक तेजस्वी तथा शक्ति और उच्च स्थान के द्योतक इन्द्र और जीवन तथा प्रकाश के सूचक अग्नि के आदर्श प्रस्तुत किये जाते थे। संस्कार के उक्त प्रतीकों तथा शिक्षा के अनुरूप व्यवहार करने पर उसका संसार के दायित्वों को वहन करने में समर्थ पूर्ण मनुष्य तथा एक सफल विद्वान् बनना निश्चित था।

---

(१) आ. गृ. सू. १. १०।

(२) या सावित्री जगद्धात्री सैव मेधास्वरूपिणी।
मेधाप्रसिद्धये पूज्या विद्यासिद्धिमभीप्सता॥
शौनक, वी. मि. सं. भा. १- पृ. ४४. पर उद्धृत।

तृतीय परिच्छेद

वेदारम्भ

१. प्रास्ताविक

गौतम[1] द्वारा परिगणित प्राचीनतम संस्कारों में वेदारम्भ तथा गोदान का उल्लेख नहीं मिलता। इनके स्थान पर वह चार वेदव्रतों (चत्वारि वेदव्रतानि) का उल्लेख करते हैं, जो आश्वलायन के अनुसार महानाम्नी, महाव्रत, उपनिषद् तथा गोदान थे।[2] इसके अतिरिक्त वेद अथवा उसकी शाखा के अध्ययन के पूर्व विशेष कृत्यों का विधान किया गया है।[3] यद्यपि मूलतः उक्त व्रत समस्त द्विजातियों के लिए अभिप्रेत थे, किन्तु उनका अनुष्ठान सम्भवतः केवल ब्राह्मण अथवा पुरोहित परिवारों में ही किया जाता था, क्योंकि वे ही वेदों की समस्त शाखाओं तथा वैदिक कर्मकाण्डों में विशेषज्ञता प्राप्त करते थे। शनैः-शनैः ब्राह्मणेतरों ने वैदिक व्रतों के अनुष्ठान की प्रथा को त्याग दिया। कालक्रम से वैदिकोत्तर साहित्य के विस्तार तथा महत्त्व में वृद्धि होने लगी तथा व्यापक रूप से ब्राह्मण उसका अध्ययन करने लगे। वैदिक साहित्य का अध्ययन अल्प तथा अल्पतर होता गया। इस प्रकार वैदिक स्वाध्याय के ह्रास के साथ ही उक्त वैदिक व्रत भी प्रचलित नहीं रहे। अधिकांश गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में उनका उल्लेख नहीं मिलता और स्मृतियाँ तो उनकी ओर कहीं सङ्केत ही नहीं करतीं।

---

(१) गौ. ध. सू. ८. २४।

(२) प्रथमं स्यान्महानाम्नी द्वितीयं स्यान्महाव्रतम्।
तृतीयं स्यादुपनिषद् गोदानाख्यन्ततः परम्॥
आश्वलायन, सं. म. पृ. ६३ पर उद्धृत।

(३) यच्छाखीयैस्तु संस्कारैः संस्कृतो ब्राह्मणो भवेत्।
तच्छाखाध्ययनं कार्यमेवं न पतितो भवेत्॥
वसिष्ठ, वी. मि. सं. भा. १ पृ. ३३८ पर उद्धृत।

किन्तु प्राचीन परम्परा के सम्मान के लिए किसी ऐसे संस्कार का अस्तित्व में आना अपेक्षित था जो वैदिक व्रतों का स्थान ग्रहण कर सकता तथा जिससे उच्चतर शिक्षा का आरम्भ हो सकता। इस प्रकार प्राचीन वैदिक व्रतों के ध्वंसावशेष पर वेदारम्भ अस्तित्व में आया। इसी कारण वेदारम्भ की गणना संस्कारों की सूची में परवर्ती काल में ही हो सकी। सर्वप्रथम व्यास इसका उल्लेख करते हैं।[1]

२. उद्भव

संस्कारों के इतिहास में एक अन्य परिवर्तन भी हुआ, जिससे वेदारम्भ का स्वतन्त्र संस्कार के रूप में जन्म आवश्यक हो गया। आरम्भ में उपनयन के साथ ही वेदों का अध्ययन आरम्भ हो जाता था। यथार्थ में बालक का गुरुकुल को जाना ही उपनयन था, जिसके तत्काल पश्चात् विद्यार्थि-जीवन का आरम्भ होता था। पवित्रतम गायत्री-मन्त्र से वैदिक स्वाध्याय आरम्भ समझा जाता था। किन्तु परवर्ती काल में, जब कि संस्कृत बोलचाल की भाषा अथवा सहज बोधगम्य नहीं रह गयी, तो उपनयन एक निरा दैहिक संस्कार ही रह गया। अब इस संस्कार के सम्पन्न होने के पूर्व ही विद्यार्थी लोकभाषा का अध्ययन आरम्भ कर देता था, तथा वह आचार्य, जिसके द्वारा उपनयन सम्पन्न किया जाता था, विद्यार्थी को अपने नियन्त्रण में करने के लिए उत्सुक नहीं रह गया था। अतः उपनयन के अतिरिक्त एक अन्य संस्कार करना आवश्यक समझा गया, जिससे वैदिक स्वाध्याय का आरम्भ हो।

३. एक नवीन संस्कार

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, इस संस्कार का उल्लेख सर्वप्रथम व्यास-स्मृति में उपलब्ध होता है। उसमें व्रतादेश (उपनयन का एक नवीन नाम) तथा वेदारम्भ के मध्य भेद किया गया है। उक्त स्मृतिकार के काल में प्रथम संस्कार का शिक्षा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा था, किन्तु द्वितीय विशुद्ध शिक्षा-सम्बन्धी संस्कार था, जो उस समय सम्पन्न होता था, जब विद्यार्थी यथार्थ में वैदिक स्वाध्याय आरम्भ करता था। उत्तरकालीन पद्धति-लेखकों ने उपनयन और वेदारम्भ के बीच विभेद को मान्यता प्रदान की तथा वेदारम्भ को उपनयन तथा समावर्तन संस्कारों के मध्य में स्थान दिया।

---

(१) व्या. स्मृ. १. १४।

४. विधि-विधान

उपनयन के पश्चात् वेदारम्भ संस्कार को सम्पन्न करने के लिए कोई शुभ दिन निश्चित किया जाता था। आरम्भ में मातृपूजा, आभ्युदयिक श्राद्ध तथा अन्य आवश्यक कृत्य किये जाते थे। तब गुरु लौकिक अग्नि की प्रतिष्ठा करता तथा विद्यार्थी को आमन्त्रित कर उसे अग्नि के पश्चिम में बैठाता था। इसके पश्चात् साधारण आहुतियाँ दी जाती थीं। यदि ऋग्वेद आरम्भ करना होता तो घृत की दो आहुतियाँ अग्नि और पृथ्वी को दी जाती थीं; यदि यजुर्वेद तो अन्तरिक्ष और वायु को, यदि सामवेद तो द्यौ और सूर्य को और यदि अथर्ववेद आरम्भ करना होता तो दिशाओं तथा चन्द्र को आहुतियाँ दी जाती थीं। यदि सभी वेदों का अध्ययन एक साथ आरम्भ करना होता, तो उक्त सभी आहुतियाँ साथ ही दी जाती थीं। इसके अतिरिक्त ब्रह्म, छन्दस् तथा प्रजापति के लिए होम किए जाते थे। अन्त में, आचार्य ब्राह्मण पुरोहित को पूर्णपात्र और दक्षिणा देकर वेद का अध्यापन आरम्भ करता था।[1]

---

(१) गर्गपद्धति।

चतुर्थ परिच्छेद

केशान्त अथवा गोदान

१. विभिन्न नाम तथा उनका महत्त्व

केशान्त अथवा प्रथम क्षौरकर्म चार वैदिक व्रतों में से एक था[1]। वैदिक स्वाध्याय से घनिष्ठतया सम्बन्धित तीन व्रतों के लुप्त हो जाने पर, केशान्त उनसे पृथक् हो गया तथा उसे स्वतन्त्र स्थान प्राप्त हुआ, यद्यपि उसके प्राचीन विधि-विधान विद्यमान रहे। स्वतन्त्र संस्कार के रूप में केशान्त का अस्तित्व वेदारम्भ की अपेक्षा प्राचीनतर प्रतीत होता है। गृह्यसूत्र चूडाकरण के साथ केशान्त का वर्णन करते हैं,[2] किन्तु उनमें वेदारम्भ का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। व्यास की अपेक्षा प्राचीनतर लेखक जातुकर्ण्य केशान्त की गणना करते हैं, किन्तु वेदारम्भ की नहीं[3]। व्यास जो इसका समावेश प्रसिद्ध षोडश संस्कारों की सूची में करते हैं,[4] इसे प्रमुख संस्कार मानते थे। किसी के मस्तिष्क में यह प्रश्न उठ सकता है कि केशान्त की भी अन्य वैदिक व्रतों के समान दशा क्यों नहीं हुई। कारण इस प्रकार प्रतीत होता है कि यह संस्कार संस्कार्य व्यक्ति के लिए शारीरिक दृष्टि से भी उपादेय था। जब कि प्रथम तीन व्रत अपने जीवन के लिए वैदिक स्वाध्याय पर निर्भर थे, केशान्त अनिवार्य रूप से विद्यार्थी के शरीर तथा उसके व्यवहार से सम्बद्ध था।

---

(१) आश्वलायन, सं. म. पृ ६३ पर उद्धृत।

(२) आ. गृ. सू. १ १८; पा गृ सू. २. १. ३; शा. गृ. सू. १. २८. १८, गो. गृ. सू. ३. १; हा. गृ. सू. २. ६. १६, आप. गृ. सू. १२; खा. गृ. सू. २. ५. १।

(३) मौञ्जीव्रतानि गोदानसमावर्तविवाहकाः। वी. मि. सं. भा. १ में उद्धृत।

(४) व्या. स्मृ. १. १४।

२. उद्भव तथा पूर्व इतिहास

जैसा कि स्वयं इस संस्कार के नाम से सूचित होता है, केशान्त में ब्रह्मचारी के श्मश्रुओं का सर्वप्रथम क्षौर किया जाता था। इसे गोदान भी कहते थे, क्योंकि इस अवसर पर आचार्य को गौ का दान किया जाता था तथा नापित को उपहार दिये जाते थे। यह संस्कार सोलह वर्ष की आयु में सम्पन्न होता था तथा यह यौवन के पदार्पण का सूचक था। ब्रह्मचारी अब बालक नहीं रहता था और उसके मुख पर दाढ़ी-मूछ निकल आते थे[१]। युवक के हृदय में पौरुष की चेतना का उदय हो जाता था। उसकी यौवनपूर्ण प्रवृत्तियों के नियमन के लिए अपेक्षाकृत अधिक सतर्कता अपेक्षित थी। अतः ब्रह्मचारी को एक बार पुनः ब्रह्मचर्य के व्रतों का स्मरण दिलाना आवश्यक समझा गया। दाढ़ी और मूछ के क्षौर के पश्चात् ब्रह्मचर्य का व्रत नये सिरे से लेना तथा एक वर्ष पर्यन्त कठोर संयम का जीवन व्यतीत करना होता था।

३. परवर्ती इतिहास

मध्य तथा परवर्ती काल में हिन्दू धर्म में भ्रम तथा अस्पष्टता का प्रवेश हो गया तथा जीवन की प्रत्येक शाखा में ह्रास होने लगा। केशान्त ब्रह्मचर्य की समाप्ति का सूचक समझा जाने लगा। सूत्र-काल में ब्रह्मचर्य की अल्पतम अवधि बारह वर्ष थी। इस गणना के अनुसार विद्यार्थि-जीवन अठारह वर्ष की आयु में समाप्त होता था। किन्तु यह सामान्य प्रथा नहीं थी। केवल वे ही छात्र, जिनकी उनके परिवार के लिए अत्यधिक आवश्यकता होती थी, इस स्वल्प आयु में गुरुकुल को छोड़ देते थे। किन्तु परवर्ती काल में बाल-विवाह के प्रचलित हो जाने पर केशान्त अथवा गोदान के साथ ब्रह्मचर्य की समाप्ति की प्रथा सामान्य रूप से चल पड़ी। भारद्वाज तथा वाराह गृह्यसूत्रों ने, जिनकी रचना ईसवी शती के आरंभ के पश्चात् हुई, पहले ही इस साधारण विकल्प का विधान आरम्भ कर दिया था कि 'कतिपय आचार्यों के मतानुसार गोदान संस्कार के साथ ब्रह्मचर्य की समाप्ति हो जाती है[२]।' अल्पायु में विवाह

---

(१) आ. गृ. सू. १. १८; म. स्मृ. २. ६५।

(२) आगोदानकर्मणः (ब्रह्मचर्यम्) इत्येके। भा. गृ. सू. १. ९; व. गृ. सू. ९।

के समर्थक अपने पक्ष की पुष्टि में यह युक्ति देने लगे कि सोलह वर्ष की आयु में ब्रह्मचर्य की समाप्ति किसी भी प्रकार शास्त्रीय नियम के विपरीत नहीं है, क्योंकि यदि उपनयन पाँच वर्ष की आयु में किया जाय तो वेदों के स्वाध्याय के लिए बारह वर्ष का समय प्राप्त हो ही जाता है[1]। इस प्रकार आरम्भ में जो सुविधा थी, वही आगे चलकर लोगों के अधिकार और विशेषाधिकार में परिणत हो गयी, किन्तु निश्चय ही इसका परिणाम हिन्दू समाज के लिए घातक हुआ।

यथार्थ में मूलतः ब्रह्मचर्य की समाप्ति के साथ केशान्त अथवा गोदान का कोई सम्बन्ध नहीं था। समावर्तन ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति का सूचक था। अपने पाठ्यक्रम को समाप्त किये बिना ही बालकों को विवाह की अनुमति देने के उद्देश्य से जान-बूझकर दोनों संस्कारों में परस्पर भ्रम डाल दिया गया। साधारण व्यक्ति के लिए यह भ्रम और भी दृढ़ हो गया, क्योंकि क्षौर-कर्म दोनों ही संस्कारों का सामान्य तत्त्व था।

४. विधि-विधान

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह संस्कार सोलह वर्ष की आयु में सम्पन्न होता था। इस संस्कार के अवसर पर अनुसृत विधि तथा उच्चारित मन्त्र वही होते थे जो चौल संस्कार में। भेद केवल यही था कि इस संस्कार में सिर के स्थान पर दाढ़ी-मूछों का क्षौर होता था। चूडाकरण के समान ही दाढ़ी तथा सिर के बाल और नख जल में फेंक दिये जाते थे। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी गुरु को एक गौ का दान करता था। संस्कार के अन्त में वह मौनव्रत का पालन तथा एक वर्ष पर्यन्त कठोर अनुशासित जीवन व्यतीत करता था।

---

(१) जै. गृ. सू. १ १८ पर श्रीनिवास।

पञ्चम परिच्छेद
समावर्तन अथवा स्नान

१. प्रास्ताविक

यह संस्कार ब्रह्मचर्य के समाप्त होने पर सम्पन्न किया जाता था तथा विद्यार्थि-जीवन के अन्त का सूचक था। समावर्तन शब्द का अर्थ है 'वेदाध्ययन के अनन्तर गुरुकुल से घर की ओर प्रत्यावर्तन'[1]। इसे स्नान भी कहते थे क्योंकि यह संस्कार का सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग था। कतिपय मानवशास्त्रियों के अनुसार स्नान का प्रयोजन विद्यार्थी से दिव्य-शक्ति को दूर करना था[2]। अपने ब्रह्मचर्य की अवधि में वह दिव्य सम्पर्क में निवास करता था तथा उसके चारों ओर दिव्य ज्योति व्याप्त होती थी अतः साधारण जीवन के प्रति प्रत्यावर्तन के पूर्व उसके ब्रह्मचर्यकालीन दिव्य प्रभाव का दूर करना आवश्यक था, अन्यथा वह दिव्य गुण को भ्रष्ट तथा ईश्वरीय रोप को अवसर प्रदान करता। प्राचीन भारतीय लेखक भी ब्रह्मचर्य को एक दीर्घ-सत्र समझते थे[3]। अतः जिस प्रकार एक यज्ञ के अन्त में यज्ञ करने वाला यज्ञिय स्नान अथवा अवभृथ करता था, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-रूपी दीर्घसत्र के अन्त में ब्रह्मचारी का स्नान करना आवश्यक था। किन्तु समावर्तन संस्कार में स्नान के साथ एक अन्य विचार भी सम्बद्ध था जो परवर्ती काल में सर्वप्रमुख हो गया। संस्कृत साहित्य में अध्ययन की तुलना एक सागर के साथ की जाती थी और जो व्यक्ति विद्याओं का अध्ययन कर प्रकाण्ड पण्डित हो जाता था, यह समझा जाता था कि उसने सागर को पार कर लिया है। स्वभावतः ब्रह्मचारी

---

(१) तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनान्तरं गुरुकुलात् स्वगृहागमनम्। वी. मि. सं. भा. १, पृ. ५६४।

(२) आर. एच्. नसो फैटिसिज्म इन वेस्ट अफ्रीका, पृ. २१२।

(३) दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति। गदाधर द्वारा पा. गृ. सू. २. २-१५ पर उद्धृत।

अपने अध्ययन के समाप्त करने पर एक ऐसा व्यक्ति माना जाता था जिसने विद्या के सागर को पार कर लिया है। वह विद्या-स्नातक (जिसने विद्या में स्नान कर लिया है) तथा व्रत-स्नातक (जिसने अपने व्रतों में स्नान कर लिया है), कहा जाता था[१]। इस प्रकार विद्यार्थि-जीवन के अन्त में किया जाने वाला सांस्कारिक स्नान विद्यार्थी के द्वारा विद्या-सागर को पार करने का प्रतीक था।

२. महत्त्व

विद्यार्थि-जीवन की समाप्ति जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अवसर था। उस समय विद्यार्थी को जीवन के दो मार्गों में से किसी एक का चुनाव करना पड़ता था—एक था प्रवृत्ति मार्ग जिसमें विवाह कर सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों को स्वीकार करते हुए व्यस्त सांसारिक जीवन में प्रवेश करना तथा द्वितीय था निवृत्ति मार्ग अर्थात् सांसारिक बन्धनों से दूर रहकर मानसिक तथा शारीरिक तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करना। जो विद्यार्थी प्रथम मार्ग चुनते थे वे उपकुर्वाण कहे जाते थे और दूसरा मार्ग ग्रहण करने वाले नैष्ठिक नाम से ज्ञात थे[२]। उपकुर्वाण गुरुकुलों से लौटकर गृहस्थ बन जाते थे। नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपने गुरुकुल का त्याग न कर उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति के लिये आजन्म गुरु के कुल में ही निवास करते थे। विष्णु के अनुसार[३] शारीरिक कारणों से कुछ व्यक्तियों के लिये ब्रह्मचर्य-जीवन व्यतीत करना अनिवार्य था। इनमें कुब्ज, वामन, जन्मान्ध, क्लीव, पङ्गु तथा रोगियों की गणना थी[४]। वे समावर्तन नहीं करते थे क्योंकि उनके लिये विवाह करना सम्भव नहीं था।

३. साधारण क्रम

अधिकांश युवक विद्यार्थि-जीवन के साधारण क्रम का ही अनुसरण करते

---

(१) पा. गृ. सू. २. ५. ३२. ३६।

(२) याज्ञ. स्मृ. १. ४९।

(३) यदि त्वात्यन्तिको वासो रोचेतास्य गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात्॥ म. स्मृ. २. २४३।

(४) कुब्जवामनजात्यन्धक्लीवपङ्ग्वार्तरोगिणाम्।
व्रतचर्या भवेत्तेषां यावज्जीवमनंशतः। विष्णु, सं.म. पृ. ६२ पर उद्धृत।

तथा कुमार-जीवन की अपेक्षा गार्हस्थ जीवन को ही प्राथमिकता देते थे। धर्म-शास्त्र के सभी आचार्य एक स्वर से यह विधान करते हैं कि चारों आश्रमों का पालन यथाक्रम करना चाहिये। मनु लिखते हैं 'ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास ये विभिन्न आश्रम गृहस्थ के जीवन से उत्पन्न होते हैं। चारों आश्रमों का शास्त्रों में विहित नियमों के अनुसार अनुसरण करने से मनुष्य जीवन के उच्चतम पद को प्राप्त करता है[1]।'

४. स्नातकों के तीन प्रकार

मूलतः समावर्तन संस्कार केवल उन्हीं का किया जाता था जो अपने सम्पूर्ण अध्ययन की समाप्ति तथा व्रतों का पालन कर चुकते थे। अर्थ को न समझते हुए तथा ब्रह्मचारी के लिये विहित आचारसम्बन्धी नियमों का पालन न करते हुए केवल मन्त्रों को कण्ठस्थ करने वालों अथवा वेदपाठियों को समावर्तन का अधिकार नहीं था।[2] इस प्रकार आरम्भ में समावर्तन आज के उपाधि-वितरण-समारोह के समान था। सम्प्रति केवल वे ही व्यक्ति जो परीक्षा उत्तीर्ण कर लेते हैं उपाधि-वितरण-उत्सव में सम्मिलित हो सकते हैं। जो व्यक्ति अपनी शिक्षा समाप्त कर लेते थे उन्हीं का समावर्तन हो सकता था किन्तु कालक्रम से इस नियम में शिथिलता आ गई। अधिकांश गृह्यसूत्रों के मतानुसार स्नातकों के तीन प्रकार थे।[3] प्रथम प्रकार व्रतस्नातकों अथवा उनका था जो अपना व्रत (ब्रह्मचर्य) तो पूर्ण कर चुकते थे किन्तु विद्या पूर्ण नहीं प्राप्त कर पाते थे। द्वितीय प्रकार में विद्या-स्नातकों की गणना थी जो सम्पूर्ण विद्या तो प्राप्त करते थे किन्तु जिनका ब्रह्मचर्य अपूर्ण रह जाता था। तीसरे प्रकार में वे सर्वोत्कृष्ट विद्यार्थी आते थे जो अपना अध्ययन पूर्ण कर लेते तथा समस्त व्रतों का पालन करते थे। वे उभय-स्नातक कहे जाते थे।

५. विवाह का अनुमतिपत्र

आगे चलकर जब कि उपनयन संस्कार के शिक्षासम्बन्धी महत्त्व का अन्त

(१) म. स्मृ. वही।

(२) अन्यो वेदपाठी न तस्य स्नानम्। मा. गृ. सू. १. २. ३।

(३) त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति।
पा. गृ. सू. २. ५. ३२।

हो गया तो संस्कार का मूल प्रयोजन भी नष्ट होता गया तथा न्यूनाधिक रूप में यह एक शारीरिक संस्कार अथवा विवाह के लिये एक प्रकार का अनुमति-पत्र समझा जाने लगा। बालविवाहों के प्रचलित होने पर देश में इसके लिये उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत हो गया क्योंकि समावर्तन के पूर्व विवाह नहीं हो सकता था अतः विवाह के पूर्व किसी समय इसका सम्पन्न करना आवश्यक था। इसके लिये प्रथम सुविधाजनक अवसर था केशान्त संस्कार जो क्षौर तथा स्नान आदि अनेक विषयों में इससे मिलता-जुलता था। किन्तु परवर्ती काल में केशान्त भी एक महत्त्वहीन संस्कार रह गया अतः समावर्तन उपनयन के साथ किया जाने लगा। आजकल अधिकांशतः दोनों संस्कार साथ-साथ किये जाते हैं। संस्कार की कैसी विडम्बना है! बालक की शिक्षा आरम्भ होने के पूर्व ही समाप्त समझी जाने लगी। *समावर्तन संस्कार की यथार्थ प्रकृति के अज्ञान का* एक अन्य घातक परिणाम भी हुआ। आरम्भ में यह उस समय किया जाता था जब युवक की शिक्षा समाप्त हो चुकती थी। इसके पश्चात् सामान्यतः विवाह होता था, तत्काल नहीं। परवर्ती काल में यह मत प्रचलित हो गया कि क्षण भर भी बिना आश्रम के नहीं रहना चाहिये।[1] यदि स्नातक का तत्काल विवाह न किया जाता तो कुछ दिन किसी विशिष्ट आश्रम के बिना व्यतीत करने के परिणामस्वरूप वह पापी माना जाता। मध्यकाल में यह तर्क प्रस्तुत किया जाने लगा कि विवाह का निश्चय करने के पश्चात् ही समावर्तन संस्कार करना चाहिये। अतः यह विवाह के एक दिन पूर्व सम्भवतः हरिद्रा विधि के साथ सम्पन्न होता है।

६. आयु

उपनयन के पश्चात् किस समय समावर्तन किया जाना चाहिए, यह एक विचारणीय समस्या थी।[2] ब्रह्मचर्य की दीर्घतम अवधि ४८ वर्ष की थी, जिसमें प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिये १२ वर्ष का समय नियत था। अपेक्षाकृत

---

(१) अनाश्रमी न तिष्ठेत्तु क्षणमेकमपि द्विज'।
आश्रमेण विना तिष्ठन् प्रायश्चित्तीयते हि सः॥ द. स्मृ. १. १०।

(२) पा. गृ. सू. २. ६. २-३।

अल्पतर अवधि विद्यार्थी तथा उसके माता-पिता की परिस्थिति के अनुसार ३६, २४ या १८ वर्ष में समाप्त हो जाती थी। द्वितीय अवधि सर्वाधिक सामान्य थी तथा अधिकांश में शिष्य २४ वर्ष की आयु में समाप्त हो जाती थी किन्तु मध्ययुगीन लेखक बालक को शीघ्र ही विवाह करने की अनुमति देने के उद्देश्य से अन्तिम अवधि का समर्थन करने लगे। परन्तु आजकल समय का कोई बन्धन नहीं है। वेद बोधगम्य नहीं रहे, शिक्षा का कोई नियत पाठ्यक्रम नहीं तथा साधारण साक्षरता भी विलास का विषय बन चुकी है। समावर्तन संस्कार महत्त्वहीन तथा उपनयन अथवा विवाह संस्कार में समाविष्ट हो चुका है।

७. गुरु की अनुमति

स्नान के पूर्व विद्यार्थी को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्तव्य का पालन करना होता था। वह विद्यार्थि-जीवन की समाप्ति के लिये गुरु से अनुमति की प्रार्थना तथा दक्षिणा द्वारा उसे संन्तुष्ट करता था।[1] अनुज्ञा आवश्यक समझी जाती थी क्योंकि उससे यह प्रमाणित होता था कि स्नातक गृहस्थ जीवन के लिये विद्या-अभ्यास तथा चारित्रिक दृष्टि से योग्य है। 'गुरु की अनुमति प्राप्त कर समावर्तन संस्कार करना चाहिये तथा उसके पश्चात् सवर्ण तथा लक्षणान्वित कन्या से विवाह करना चाहिये[2]।' अब तक विद्यार्थी गुरु को कुछ भी नहीं देता था[3] अतः गुरु से विदा लेते समय प्रत्येक दशा में उससे गुरुदक्षिणा के रूप में अपने सामर्थ्य के अनुसार गुरु को कुछ न कुछ देने की आशा की जाती थी। गुरु को पृथ्वी, स्वर्ण, गाय, अश्व, छत्र, उपानह, वस्त्र, फल तथा वनस्पतियाँ भेंट करनी चाहिये।[4] व्यास के[5] अनुसार दक्षिणा में

---

(१) विद्यान्ते गुरुमर्थेन निमन्त्र्य कृतानुज्ञानस्य वा स्नानमिति।

आ॰ गृ॰ सू॰ ३. ८।

(२) गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥ म॰ स्मृ॰ ३. ४।

(३) वही २. २४५। (४) वही २. २४६।

(५) स्नायीत गुर्वनुज्ञातो दत्वास्मै दक्षिणां हि गाम्।

वी॰ मि॰ सं॰ भा॰ १, पृ॰ ५६५ पर उद्धृत।

केवल गौ ही देनी चाहिये। गुरु के द्वारा विद्यार्थी के प्रति किया हुआ उपकार अत्यन्त उच्च समझा जाता था तथा कोई भी उसका पूर्ण मूल्य नहीं चुका सकता था। 'सात द्वीपों से युक्त भूमि भी गुरुदक्षिणा के लिये पर्याप्त नहीं है'।[1] 'जिस गुरु ने शिष्य को एक भी अक्षर पढ़ाया हो, पृथ्वी पर ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसे गुरु को देकर उसके ऋण से मुक्ति प्राप्त की जा सके'।[2] यदि कोई विद्यार्थी गुरु को धन या भूमि के रूप में कुछ भी न दे सकता तो भी उसे गुरु के समीप जाकर औपचारिक रूप से उनकी अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी। ऐसे अवसरों पर गुरु प्रायः कहा करते थे : 'मेरे वत्स, धन की मुझे अपेक्षा नहीं है! मैं तुम्हारे गुणों से ही सन्तुष्ट हूँ।'[3]

८. विधि-विधान तथा उनका महत्त्व

उक्त आरम्भिक विचारों के पश्चात् संस्कार के लिये कोई शुभ दिन चुन लिया जाता था। विधि-विधान एक अत्यन्त विलक्षण कृत्य के साथ आरम्भ होते थे। ब्रह्मचारी को अपने को प्रातःकाल एक कमरे में बन्द रखना पड़ता था। भारद्वाज-गृह्यसूत्र के अनुसार ऐसा इसलिये किया जाता था कि जिससे सूर्य स्नातक के उच्चतर तेज से अपमानित न हो, क्योंकि वह स्नातक के ही तेज से प्रकाशित होता है।[4] मध्याह्न में ब्रह्मचारी कमरे के बाहर आ गुरु के चरणों में प्रणाम करता तथा कुछ समिधाओं द्वारा वैदिक अग्नि को अन्तिम आहुति प्रदान करता था। वहाँ जलपूर्ण आठ कलश रखे जाते थे। यह संख्या आठ दिशाओं की सूचक थी और इससे यह प्रतीत होता था कि समस्त दिशाओं से ब्रह्मचारी पर सम्मान तथा कीर्ति की वर्षा हो रही है। तब ब्रह्मचारी इन शब्दों के साथ एक पात्र से जल निकालता था : 'जलों में रहनेवाले तथा प्रच्छन्न, आवृत, प्रकाश की किरण, मनोनाशक, असहिष्णु, कष्टदायी, शरीर को ध्वंस करनेवाले तथा अङ्गों को नष्ट करनेवाले अग्नि का मैं त्याग करता हूँ। यह दीप्तिमान अग्नि जिसे

---

(१) सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं न कल्पते। तापनीय श्रुति, वही।

(२) एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्त्वा त्वनृणी भवेत्॥ लघुहारीत, वही।

(३) अलमर्थेन मे वत्स त्वद्गुणैरस्मि तोषित'। संग्रह, वही

(४) एतदह आताना ह वा एष एतत्तेजसा तपति तस्मादेनमेतदहर्नाभितपेत्।
पा. गृ. सू. २. १ ८।

में ग्रहण करता हूँ'''। उसके द्वारा समृद्धि, ऐश्वर्य, पवित्रता तथा पवित्र तेज की प्राप्ति के लिये अभिषिक्त होता हूँ[1] ।' अन्य उपयुक्त ऋचाओं के साथ वह अन्य कलशों से स्नान करता था। ब्रह्मचारी का शरीर तपस्या और व्रत की अग्नि में तप्त हो चुकता था अतः गृहस्थ के सुखी जीवन के लिये उसे शीतलता की अपेक्षा थी, जिसका प्रतीक स्नान था तथा जिसकी सूचना सहवर्ती ऋचाओं से मिलती थी।

इस गौरवमय स्नान के पश्चात् ब्रह्मचारी मेखला, मृगचर्म तथा दण्ड आदि ब्रह्मचारी के समस्त बाह्य चिह्नों को जल में फेंक देता तथा एक नवीन कौपीन धारण करता था। कुछ दधि और तिल का भोजन कर वह अपनी दाढ़ी, केश तथा नखों को कटवाता और निम्नलिखित ऋचा के साथ उदुम्बर वृक्ष की टहनी से दन्तधावन करता था : 'अपने को भोजन के लिये प्रस्तुत कर। यहाँ राजा सोम आया है। वह ऐश्वर्य तथा भाग्य के द्वारा मेरे मुख को शुद्ध करेगा[2] ।' ब्रह्मचारी भोजन तथा वाणी में संयम के लिये अभ्यस्त था। अब वह संसार के अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण तथा क्रियाशील जीवन के लिये उद्यत हो रहा था। समावर्तन के साथ ही विद्यार्थी का तपस्यापूर्ण जीवन समाप्त हो जाता था तथा जीवन के अनेक सुख और विलास जो ब्रह्मचर्य-जीवन में उसके लिये वर्जित थे, गुरु द्वारा उसे दिये जाते थे। सर्वप्रथम वह उसे सुगन्धित जल से स्नान कराता था।[3] उसके विभिन्न अङ्गों पर उबटन किया जाता था तथा इन्द्रियों की तृप्ति की इच्छा व्यक्त की जाती थी : 'मेरे श्वास-निश्वास को तृप्त कर, मेरे नेत्रों को तृप्त कर, मेरे कानों को तृप्त कर'।[4] ब्रह्मचारी अभी तक अप्रक्षालित तथा अरंजित वस्त्रों को धारण करता था और पुष्प तथा माला धारण करना उसके लिये निषिद्ध था। आभूषण, अञ्जन, कर्णपूर, उष्णीष, छत्र, उपानह और दर्पण, जिनका प्रयोग विद्यार्थी के लिये वर्जित था, अब उसे विधिवत् दिये जाते थे। जीवन में सुरक्षा के लिये उसे बाँस की छड़ी दी जाती थी। सम्पन्न संरक्षकों से उपर्युक्त सभी वस्तुओं के जोड़े देने की आशा की जाती थी—एक गुरु को, दूसरा विद्यार्थी को।[5]

कतिपय लेखकों के अनुसार ब्राह्मण विद्यार्थी के लिये एक होम किया जाता था

---

(१) पा. गृ. सू. २. ६. ८–१०। (२) पा. गृ. सू. २. ६. १२।
(३) वही. २. ६. १३; गो. गृ. सू. ३. ४. ११; ख. गृ. सू. ३. १. ९।
(४) वही। (५) आ. गृ. सू. ३. ८।

तथा यह आशा व्यक्त की जाती थी कि स्नातक को अध्यापन के लिये बहुसंख्यक विद्यार्थी प्राप्त होंगे।[1] तब गुरु विद्यार्थी को उच्च सम्मान का सूचक मधुपर्क प्रदान करता था जो राजा, आचार्य, जामाता, ऋत्विज् तथा प्रियजनों के ही लिए विहित था।[2] अपनी नवीन वेषभूषा से अलंकृत होकर स्नातक विद्वानों के निकटतम समाज की ओर रथ अथवा हाथी पर आरूढ़ होकर जाता था।[3] वहाँ आचार्य उसका परिचय एक सुयोग्य विद्वान् के रूप में देता था। किन्तु कतिपय लेखकों के अनुसार संस्कार समाप्त होने पर स्नातक दिन भर सूर्य के प्रकाश से दूर तथा मौन रहता था जब तक कि तारे न निकल आते। यह कृत्य इस बात का प्रतीक था कि संभवतः वह अपने प्रकाश से सूर्य को लज्जित नहीं करना चाहता था। तब वह पूर्व तथा उत्तर की ओर जाता तथा दिशाओं, नक्षत्रों तथा चन्द्र के प्रति सम्मान व्यक्त करता, मित्रों से वार्तालाप करता तथा उस स्थान की ओर जाता था, जहाँ उसे स्नातकोपयुक्त आदर प्राप्त होता।[4]

९. स्नातक को प्राप्त सम्मान

समावर्तन संस्कार के सर्वेक्षण से सूचित होता है कि प्राचीन भारत में उन विद्वानों का कितना उच्च सम्मान था, जो अपनी शिक्षा समाप्त कर चुकते थे। गृह्यसूत्रों में उद्धृत ब्राह्मण के एक वचन से विदित होता है कि स्नातक को एक महद्भूत अथवा शक्तिशाली व्यक्ति समझा जाता था[5]।

१०. उपहसनीय संक्षेप

आजकल सम्पूर्ण संस्कार में एक विलक्षण संक्षेप की प्रवृत्ति आ गयी है। समावर्तन शीघ्रता में या तो उपनयन अथवा विवाह के साथ सम्पन्न होता है अथवा केवल स्नान और व्यक्ति का अलङ्करण ही उस विशद विधि के अवशेष रह गये हैं, और वे भी उपयुक्त वैदिक मन्त्रों के बिना ही।

---

(१) बौ. गृ सू. २. ६।

(२) षडर्घ्या भवन्ति, आचार्य ऋत्विग्वैवाह्यो राजा प्रियः स्नातक इति। पा. गृ. सू. १. ३. १-२।

(३) आप गृ. सू. १. ११. ५; आ गृ. सू. ३. १. ३६।

(४) गो. गृ. सू. ३. ५. २१।

(५) महद्वै एतद् भूतं यत् स्नातकः। आ. गृ. सू. ३. ९. ८।

अष्टम अध्याय
विवाह संस्कार

१. विवाह का महत्त्व

विवाह का हिन्दू संस्कारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अधिकांश गृह्यसूत्रों का आरम्भ विवाह संस्कार से होता है, क्योंकि यह समस्त गृह्ययज्ञों व संस्कारों का उद्गम अथवा केन्द्र है। वे पहले से ही यह मानकर चलते हैं कि साधारण परिस्थितियों में समाज प्रत्येक व्यक्ति से विवाह कर गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा करता है। उनके भी पूर्व वैदिक काल में, जब कि अपने कर्मकाण्ड व विधि-विधानों सहित बहुत थोड़े ही संस्कार अस्तित्व में आये थे, वैवाहिक रीति-रिवाजों का विकास हो चुका था और ऋग्वेद[1] तथा अथर्ववेद[2] में उन्हें काव्यमय अभिव्यक्ति प्राप्त हुई थी। घर का मधुर तथा स्नेहमय वातावरण, पत्नी के साथ विवाहित प्रेममय जीवन तथा इसके फलस्वरूप होनेवाली सन्तान का पालन-पोषण वैदिक आर्यों को अत्यन्त प्रिय थे। अतः अति प्राचीन काल में ही विवाह को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था। धार्मिक चेतना का विकास होने पर विवाह निरी सामाजिक आवश्यकता ही न रहा, अपितु वह प्रत्येक व्यक्ति का एक अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य समझा जाने लगा। विवाह स्वयं एक यज्ञ माना जाता था और जो व्यक्ति विवाह कर गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश नहीं करता था, उसे अयज्ञिय अथवा यज्ञहीन कहा जाता था,[3] जो निश्चय ही वैदिक आर्यों की दृष्टि में अत्यन्त निन्दासूचक शब्द था। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में कहा गया है—'अपत्नीक पुरुष अयज्ञिय अथवा यज्ञहीन है'। 'एकाकी पुरुष अधूरा है, उसकी

(१) १०. ८५।

(२) १४. १, २।

(३) अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः। तै. ब्रा. २. २. २. ६।

पत्नी उसका अर्धभाग है¹।' जब तीन ऋणों के सिद्धान्त² का विकास हुआ तो विवाह को अधिकाधिक महत्त्व और पवित्रता प्राप्त होने लगी, क्योंकि सन्तानोत्पत्ति कर पितृऋण से मुक्त होना विवाह के बिना असम्भव था।

उपनिषदों के युग में आश्रमों का सिद्धान्त पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका था। इसके पोषकों का मत था कि प्रत्येक व्यक्ति को एक के पश्चात् दूसरे आश्रम में क्रमशः जाना चाहिए, अर्थात् सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम, उसके पश्चात् विवाह कर उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए, तदनन्तर वानप्रस्थ और सबके पश्चात् उसे सम्पूर्ण सांसारिक सम्बन्धों तथा बन्धनों का त्याग कर सन्यासी का जीवन व्यतीत करना चाहिए। व्यक्तित्व के विकास के लिए गृहस्थाश्रम अनिवार्य माना जाता था तथा विवाह को किसी भी दृष्टि से हीन नहीं समझा जाता था।

स्मृतियों के काल में आश्रम-व्यवस्था को ईश्वरीय माना जाने लगा और फलस्वरूप उसका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का पवित्र धार्मिक कर्तव्य हो गया। गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों से विदित होता है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की संख्या अत्यन्त परिमित थी तथा अधिकांश युवक विवाह कर गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते थे। स्मृतियाँ आश्रम-व्यवस्था का पूर्णतः समर्थन करती तथा इस बात का दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन करती हैं कि ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् प्रत्येक पुरुष को अनिवार्य रूप से विवाह करना चाहिए। मनु के अनुसार 'आयु का आद्य चतुर्थ भाग गुरु के कुल में व्यतीत कर, द्वितीय भाग विवाह कर पत्नी-सहित गृहस्थाश्रम में व्यतीत करना चाहिए। इसके पश्चात् आयु का तृतीय भाग वन में व्यतीत कर चतुर्थ भाग में समस्त सांसारिक सङ्गों का त्याग कर संन्यास ग्रहण करना चाहिए³।' हारीत का भी यही मत है—'जो व्यक्ति उक्त

---

(१) अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नी। वही, २. ९. ४. ७।

(२) जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। तै. स. ६. ३. १०. ५।

(३) चतुर्थमायुषो भागं वसित्वाद्यं गुरौ कुले।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥
वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥ म. स्मृ. ४. १-२।

विधि के अनुसार यथाक्रम आश्रमों का पालन करता है, वह समस्त लोकों पर विजय कर ब्रह्म-लोक प्राप्त करने में समर्थ होता है[1]।' दक्ष के अनुसार प्रथम तीन आश्रमों में व्यतिक्रम नहीं किया जा सकता। जो इसके विपरीत आचरण करता है, उससे अधिक पापी संसार में कोई भी नहीं है[2]। स्मृतियों में गृहस्थाश्रम की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। वे इसे श्रेष्ठतम आश्रम कहती और सम्पूर्ण सामाजिक संघटन का केन्द्र तथा मूल मानती हैं: 'जिस प्रकार समस्त जन्तु अपने जीवन के लिए वायु पर आश्रित हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण आश्रम गृहस्थाश्रम पर आधारित हैं। क्योंकि गृहस्थ ज्ञान तथा अन्न से अन्य तीनों आश्रमों की सहायता करता है, अतः गृहस्थ अन्य तीनों आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ (ज्येष्ठ) है। अतः स्वर्ग तथा इहलोक में सुखाभिलाषी व्यक्ति को गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिए। दुर्बलेन्द्रिय व्यक्ति गृहस्थाश्रम का धारण नहीं कर सकता[3]।' उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जो व्यक्ति विवाह नहीं करता था, वह हीन समझा जाता था। अपरार्क ने याज्ञवल्क्य स्मृति, १. ५१ पर किसी अज्ञात लेखक का निम्नाङ्कित वचन उद्धृत किया है: 'हे भूप, पत्नी धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि का श्रेष्ठतम साधन है। कोई भी अपत्नीक पुरुष, चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, धार्मिक क्रियाओं का अधिकारी (कर्मयोग्य) नहीं हो सकता[4]।'

---

(१) अनेन विधिना यो हि आश्रमानुपसेवते।
स सर्वलोकान्निर्जित्य ब्रह्मलोकाय कल्पते। सं. म. पृ. ६४ पर उद्धृत।

(२) त्रयाणामानुलोम्यं स्यात् प्रातिलोम्यं न विद्यते।
प्रातिलोम्येन यो याति न तस्मात् पापकृत्तरः॥ द. स्मृ. १. १२।

(३) यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥ म. स्मृ. ३. ७७-७९।

(४) पत्नी धर्मार्थकामानां कारणं प्रवरं स्मृतम्।
अपत्नीको नरो भूप कर्मयोग्यो न जायते।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यः शूद्रोऽपि वा नरः॥

प्राचीन काल में अनेक कारणों से विवाह को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। निस्सन्देह, मानव-विकास के पशुपालन और कृषियुग में इस आदर या महत्त्व के मूल में अनेक आर्थिक और सामाजिक कारण विद्यमान थे। बड़ा परिवार उस समय आर्थिक व सुरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। विवाह वैयक्तिक नहीं एक पारिवारिक विषय था। वस्तुतः आरम्भ में वंश की अक्षुण्णता बनाये रखने के लिए सन्तानोत्पत्ति ही विवाह का प्रमुख उद्देश्य था। विवाह को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान देने में धार्मिक कारणों का भी हाथ कम नहीं था। देवताओं व पितरों की पूजा सन्तान पर ही अवलम्बित थी, जो केवल विवाह के ही द्वारा प्राप्त की जा सकती थी। आगे चलकर हिन्दू धर्म में सामाजिक तथा आर्थिक कारणों की अपेक्षा अन्तिम कारण ही अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया।

अन्य प्राचीन देशों में भी विवाह को अत्यन्त सम्मानित स्थान प्राप्त था। इसराइल की जनता में भी इसका आदर उन्हीं कारणों से था, जिनसे हिन्दुओं में[1]। 'आगे चलकर मसीहाविषयक भविष्यवाणियों के युग में दमन व अत्याचार से यहूदी जाति की रक्षा करनेवाले मसीहा के उत्पन्न होने की महत्त्वपूर्ण सम्भावना के कारण विवाह को और भी सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ।' यूनान में भी विवाह को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था और उसे एक पवित्र संस्कार समझा जाता था[2]। विवाह के द्वारा वंश-परम्परा अक्षुण्ण हो जाती, सम्पत्ति के उत्तराधिकारी की समस्या का समाधान हो जाता और पितरों की पूजा भी अविच्छिन्न रूप से चलती रहती थी। अतः अविवाहित रहना गृह-देवताओं के विरुद्ध एक गम्भीर पाप व अपराध समझा जाता था। एथेन्स में तो यह भावना इतनी बद्धमूल हो गई थी कि एक अधिनियम द्वारा नगर के प्रथम शासक को इस बात की देखभाल करने का आदेश दिया गया था कि कहीं कोई वंश उच्छिन्न न हो जाए[3]। प्लूटार्क लिखता है कि स्पार्टा में अविवाहित व्यक्ति अनेक अधिकारों से वञ्चित कर दिया जाता

---

(१) विलिस्टाइन गुड्सेल, पी. एच. डी., ए हिस्ट्री ऑव दि फैमिली एज़ ए सोशल एण्ड एजुकेशनल इंस्टिट्यूशन, पृ. ५८ तथा आगे।

(२) वही, पृ. ८६ तथा आगे। (३) वही।

था और युवक अविवाहित वयोवृद्धों का आदर नहीं करते थे[1]। अन्य प्राचीन राष्ट्रों की भाँति रोमन भी विवाह को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व पवित्र मानते थे तथा अविवाहित रहना सार्वजनिक दृष्टि से अवांछनीय समझा जाता था, क्योंकि यह राज्य जिसे बहुसंख्यक सहायकों की आवश्यकता थी और परिवार जिसे पितरों व गृहदेवताओं की अविच्छिन्न पूजा के लिए पुत्र अपेक्षित थे, दोनों के लिए समान रूप से हानिकर था।

किन्तु ईसाई धर्म का मत इस विषय में उक्त विचारों के प्रतिकूल है। इसमें किसी भी युक्तिसंगत सन्देह के लिए स्थान नहीं है कि विवाह के विषय में आरम्भिक ईसाई पादरियों के विचार सन्त पाल की धारणाओं से अत्यन्त प्रभावित थे। इस महान् धार्मिक नेता के विचार इतने प्रसिद्ध हैं कि केवल अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण विचारों का ही उल्लेख करना यहाँ पर्याप्त होगा। वे लिखते हैं: 'तथापि, भ्रष्टाचार के निरोध के लिए प्रत्येक पुरुष की अपनी पत्नी होनी चाहिए और प्रत्येक स्त्री का अपना पति'।[2] किन्तु इस सन्दिग्ध स्वीकृति के तुरन्त पश्चात् वे आगे कहते हैं: 'किन्तु यह केवल अनुमति मात्र है, आदेश नहीं'''क्योंकि मैं चाहता हूँ कि सभी पुरुष मेरे समान हों''' अतः मैं अविवाहित पुरुषों व स्त्रियों से कहना चाहता हूँ कि यदि वे मेरे समान नियमों का पालन कर सकें तो अति उत्तम है। किन्तु यदि उनमें यह क्षमता न हो तो उन्हें विवाह कर लेना चाहिए, क्योंकि भ्रष्टाचार व अन्तर्दाह की अपेक्षा विवाह ही अच्छा है।'[3] न तो सन्त पाल और न परवर्ती ईसाई पादरियों की कृतियों में यह स्पष्ट है कि विवाह एक शारीरिक ही नहीं, आध्यात्मिक व्यवस्था भी है और शारीरिक सम्बन्ध आध्यात्मिक सम्बन्ध के बिना अपूर्ण है। उक्त उद्धरण यथार्थ विवाह के शक्तिशाली और अभ्युदयकारक तथा सम्पूर्ण उचित मानवीय भावनाओं के उद्बोधक प्रभाव के मूल्यांकन के अभाव की सूचना देते हैं। यही कारण है कि ईसाई पादरियों के विवाह-विषयक विचारों का अध्ययन एक अरुचिकर कार्य है, जिससे पाठक जान-बूझकर अपना मन हटा लेता है'।[4]

---

(१) लाइफ ऑव लिकर्गस, बॉन्स क्लासिकल लाइब्रेरी, भा. १, पृ. ८१।

(२) १, कोर. ७. २। (३) वही ७. ७-८।

(४) विलिस्टाइन गुडसेल, पी. एच. डी., ए हिस्ट्री ऑव दि फैमिली एज़ ए सोशल एण्ड एजुकेशनल इंस्टिटयूशन, पृ. ८० और आगे।

किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यह भ्रष्ट तथा पतित रूमी समाज के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी, जहाँ यौन सम्बन्ध अत्यन्त ढीले ढाले व अव्यवस्थित थे, जिनके कारण रूमियों का आध्यात्मिक तथा भौतिक पतन हुआ।

२. उद्भव

विवाह संस्कार जैसे महत्त्वपूर्ण अवसर की ओर स्वभावतः ही जनसाधारण का ध्यान अधिकाधिक आकर्षित हुआ तथा विविध प्रकार की अनेक प्रथाएँ उसके चारों ओर केन्द्रित हो गईं। किन्तु वैवाहिक विधि-विधानों के विकास के पूर्ण तथा यथार्थ ज्ञान के लिए यह समझना आवश्यक है कि उनका उद्भव किस प्रकार, क्यों और किन परिस्थितियों में हुआ। उन परिस्थितियों ने, जिनमें विवाह-संस्था का विकास हुआ, वैवाहिक कर्मकाण्ड के स्वरूप व प्रकृति को एक विशेष साँचे में ढाल दिया। 'विवाह' शब्द का तात्पर्य 'स्त्री और पुरुष के उस सम्बन्ध से है जो मैथुन के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता, अपितु उसके पश्चात् भी जब तक उत्पन्न शिशु स्वयम् अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य नहीं हो जाता, विद्यमान रहता है'।[1] यह स्पष्ट है कि केवल यौन प्रवृत्ति के आधार पर स्त्री और पुरुष के बीच स्थायी सम्बन्ध का विकास सम्भव नहीं था। और न ही आदिम मनुष्य में आदर्श प्रेम की वह ज्वलन्त धारणा ही थी, जो आज दम्पति को घनिष्ठतम सम्बन्धों में बाँधने में समर्थ है। असभ्य स्त्री की दुर्बलता को भी विवाह सम्बन्ध के विकास का श्रेय नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह आत्मरक्षा की दृष्टि से उतनी ही समर्थ व सबल थी जितना पुरुष। अतः विवाह का मूल कहीं अन्यत्र ही ढूँढ़ना होगा। विवाह के मूल में सम्भवतः नवजात शिशु की पूर्ण असहाय अवस्था तथा विभिन्न अवधियों के लिए माता व नवजात शिशु की रक्षा व उनके लिए उस अवधि में भोजन की आवश्यकता थी। इस प्रकार विवाह का मूल परिवार में निहित प्रतीत होता है, विवाह में परिवार का नहीं। स्त्री और पुरुष के स्थायी सम्बन्ध की जड़ ही पैतृक कर्तव्यों में निहित है। प्रसवावस्था के कठिन समय में अपने व असहाय शिशु के समुचित संरक्षण के लिए स्त्री का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था, जिसने उसे जीवन का स्थायी सहयोगी चुनने के लिए प्रेरित किया। इस चुनाव में वह अत्यन्त सतर्क थी, तथा किसी पुरुष को अपने आत्मसमर्पण के पूर्व उसकी

(१) वही, पृ ६।

योग्यता, क्षमता व सामर्थ्य का विचार तथा सावधानीपूर्वक अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचना अत्यन्त आवश्यक था। पारस्परिक आकर्षण तथा प्रेम आदि अन्य कारण भी इस सम्बन्ध के मूल में विद्यमान थे। पुत्र के लिए कामना, शिशु तथा पत्नी की रक्षा, गार्हस्थ्य जीवन की आवश्यकता तथा पारिवारिक जीवन के आदर्श वैवाहिक विधि-विधानों व कर्मकाण्ड में भलीभाँति प्रतिबिम्बित हैं।

२. प्राग्-विवाहस्थिति

इस प्रसङ्ग में भारतीय इतिहास के प्राचीन युगों में विवाह-संस्था के विकास का अध्ययन उपयोगी होगा। यह स्मरणीय है कि हिन्दू वैवाहिक विधि-विधान एक-पत्नी-व्रत को सामान्य सत्य मानकर चलते हैं। ऋग्वेदकालीन समाज में परिवार-संस्था दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हो चुकी थी, जो यौन सम्बन्धों की प्राग्वैवाहिक स्थिति में सम्भव नहीं थी। वैदिक साहित्य में यौन सम्बन्धों की स्वेच्छाचरिता का कोई भी उदाहरण नहीं मिलता। इसका उल्लेख केवल महाभारत में ही प्राप्त होता है। वहां कहा गया है कि अति प्राचीनकाल में स्त्रियां स्वतन्त्र तथा अनावृत थीं और वे किसी भी पुरुष के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकती थीं, भले ही वे विवाहित क्यों न रही हों।[1] इस असभ्य तथा जंगली प्रथा का अन्त उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने किया था। इस किंवदन्ती के आधार पर अधिक से अधिक यही सिद्ध किया जा सकता है कि किसी प्रागैतिहासिक काल में आर्य लोग एक ऐसी स्थिति के बीच से भी होकर गुजर चुके थे, जब समाज इस प्रकार के सम्बन्धों को सहन कर लिया करता था। अस्थायी यौन सम्बन्धों का सङ्केत न तो वेदों और न गृह्यसूत्रों में ही मिलता है। उनमें जिन विवाहों का वर्णन है, वे नियमित तथा स्थायी थे। अस्थायी विवाह का एकमात्र उदाहरण ऋग्वेद १०.९५ में उर्वशी तथा पुरूरवा के आख्यान में प्राप्त होता है। इस प्रकार विवाह का यह प्रकार ऋग्वेद-काल में प्रचलित नहीं था तथा वह केवल उस प्राचीन काल की स्मृति ही रहा होगा, जब अस्थायी विवाह समाज में प्रचलित थे।

---

(१) अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने।
कामाचार-विहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि ॥ १. १२८.।

४. वास्तविक विवाह

यह समझना भ्रम है कि अति प्राचीनकाल में यौन सम्बन्ध स्वेच्छाचारी तथा पूर्णतः अनियमित था। प्रसिद्ध मानवशास्त्री आदिम मानव-सभ्यता-विषयक अपने व्यापक तथा गम्भीर ज्ञान के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि प्राचीनतम काल में भी स्त्री और पुरुष के बीच यौन सम्बन्ध स्वेच्छाचारी नहीं था। वेस्टरमार्क लिखते हैं—'निश्चय ही यह असम्भव नहीं है कि कतिपय जनों में स्त्री और पुरुष के बीच यौन सम्बन्ध पूर्णतः स्वेच्छाचारी रहे हों। किन्तु इस धारणा के पक्ष में कोई भी तर्कसङ्गत प्रमाण नहीं है कि मानव-इतिहास के किसी युग में स्वेच्छाचारी यौन सम्बन्ध सामान्य रूप से प्रचलित था। ······यद्यपि अधिकांश वर्तमान देशों में बहुपत्नी-प्रथा तथा कुछ जनों में बहुपति-प्रथा प्रचलित है, किन्तु एक-पत्नी-प्रथा अत्यन्त प्राचीनकाल से ही विवाह का सर्वाधिक प्रचलित व लोकप्रिय प्रकार रही है। जिन प्राचीन देशों के विषय में हमें प्रत्यक्ष ज्ञान है, उन पर यही नियम लागू होता था। एक-पत्नी प्रथा ही एक ऐसा प्रकार है, जो सर्वाधिक समाज-सम्मत व स्वीकृत है। संसार के अधिकांश राष्ट्रों में नियमतः एक-पत्नी-प्रथा प्रचलित है, तथा विवाह के अन्य प्रकारों में भी एक-पत्नी-प्रथा की दिशा में सुधार हो रहे हैं'।[1] हॉवर्ड का भी बहुत कुछ यही विचार है। वे लिखते हैं: 'एक प्रगतिशील समाज में एक-पत्नी-प्रथा विवाह का स्वाभाविक व सामान्य प्रकार होता है। विवाह के अन्य प्रकार या तो पतन अथवा आदिम काल की ओर प्रत्यावर्तन के सूचक हैं। स्वेच्छाचारी यौन सम्बन्धों से न तो परिवार ही अस्तित्व में आ सकता और न आत्मबलिदान तथा संयम जैसे उच्च मानवीय भावों का ही विकास हो सकता, जिनका मानवजाति की उन्नति में बहुत बड़ा हाथ रहा है'।[2] वैदिक ऋचाओं तथा गृह्यसूत्रों में आजीवन स्थायी व नियमित विवाह की सराहना की गई है। हिन्दू संस्कार पूर्णविकसित, साङ्गोपाङ्ग, स्थायी तथा नियमित विवाह को ही मान्यता प्रदान करते हैं।

---

(१) हिस्ट्री ऑव् ह्यूमन मैरेज, पृ. १३३, १४९।

(२) हिस्ट्री ऑव् मैट्रिमोनियल इस्टिट्यूशन, पृ. ५०, ५१।

५. विवाह के प्रकार

यौन सम्बन्धों की साधारण स्थिति पर विचार करने के पश्चात् हमें यह देखना है कि युवक तथा युवती गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने के लिए किस प्रकार संयुक्त होते थे। स्मृतियों ने ऐसे आठ प्रकारों को मान्यता प्रदान की है।[1] वे इस प्रकार हैं: ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। यद्यपि इनमें से अनेक प्रकारों का मूल वैदिक काल में भी मिलता है, किन्तु प्राक्-सूत्र साहित्य में उनका इस रूप में उल्लेख नहीं किया गया है। अधिकांश गृह्यसूत्र उक्त आठ प्रकारों से अपरिचित हैं। मानव-गृह्यसूत्र में केवल ब्राह्म तथा शुल्क (आसुर) प्रकारों का ही उल्लेख है।[2] वाराह-गृह्यसूत्र में भी केवल उक्त दो प्रकारों का वर्णन किया गया है। केवल आश्वलायन गृह्यसूत्र में ही विवाह के आठों प्रकारों का उल्लेख किया गया है।[3] उल्लेख न होने का यह अर्थ नहीं है कि ये प्रकार प्राचीन काल या गृह्यसूत्रों के निर्माण-काल में प्रचलित नहीं थे। वे न्यूनाधिक रूप में, कर्मकाण्ड-साहित्य के क्षेत्र से परे, सामाजिक समस्या थे।

विवाह के विषय में प्रत्येक बात निश्चित हो जाने पर, उसे सम्पन्न करने के लिए विशिष्ट विधि-विधान अपेक्षित थे।

स्मृतियों ने विवाह के उक्त आठ प्रकारों को दो भागों में विभक्त कर दिया है—(१) प्रशस्त तथा (२) अप्रशस्त।[4] प्रथम चार प्रकार प्रशस्त हैं तथा शेष अप्रशस्त। प्रथम चार प्रकार प्रशंसनीय माने जाते थे, जिनमें प्रथम सर्वोत्तम था, पञ्चम तथा षष्ठ प्रकार किसी प्रकार सह्य थे तथा अन्तिम दो वर्जित थे। किन्तु वे सभी वैध माने जाते थे। इस समय केवल ब्राह्म और आसुर प्रकार ही समाज में स्वीकृत हैं। जो प्रकार जितना ही अधिक अप्रशस्त था, वह उतना ही अधिक प्राचीन था, यद्यपि उनमें से कुछ साथ-साथ प्रचलित थे। अतः उनका विश्लेषण विपरीत क्रम से किया जायगा।

---

(१) ब्राह्मो दैवस्तथा आर्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥
म. स्मृ. ३. २१; या. स्मृ. १. ५८-६१।

(२) मा. गृ. सू. १. ७. १२। (३) आश्व. गृ. सू. १. ६।

(४) म. स्मृ. ३. २४-२५।

६. आठ प्रकारों का ऐतिहासिक विकास

(अ) पैशाच : सर्वाधिक अप्रशस्त प्रकार था पैशाच।[१] इस प्रकार के अनुसार वर छल-कपट के द्वारा कन्या पर अधिकार प्राप्त करता था, अतः इसे सभी प्रकारों में नीचतम माना जाता था। आश्वलायन-गृह्यसूत्र के अनुसार सुप्त, मत्त अथवा अचेतन कन्या का हरण पैशाच विवाह कहा जाता था। यद्यपि कन्या का बलात् हरण राक्षस तथा पैशाच दोनों में समान था, किन्तु कन्या तथा उसके संरक्षकों की अचेतनता व अनवधानता के कारण पैशाच को एक स्वतन्त्र रूप दे दिया गया। गौतम तथा विष्णु की परिभाषा के अनुसार 'अचेतन, सुप्त या मत्त कन्या के साथ मैथुन करना' ही पैशाच विवाह है। मनु के अनुसार 'जब कोई व्यक्ति एकान्त में सुप्त, मत्त अथवा प्रमत्त कन्या के साथ मैथुन करता है, तो वही प्रकार पैशाच कहलाता है'।[२] याज्ञवल्क्य किसी कन्या के साथ छलपूर्वक किये गये विवाह को पैशाच मानते हैं। देवल भी पैशाच की ऐसी ही परिभाषा करते हैं। पैशाच विवाह का सर्वाधिक असभ्य तथा बर्बरतापूर्ण प्रकार था। इसमें कन्या के साथ तत्काल तथा उसी स्थान पर बलात्कार किया जाता था, जो निश्चय ही एक अवांछनीय घटना थी। यह आदिम असभ्य जनों में प्रचलित था। ऐसा लगता है कि पश्चिमोत्तर भारत की पिशाच जाति में इसका प्रचलन था, जिससे इसका नाम पैशाच पड़ा। परवर्तीकाल में कहीं शायद ही कोई इस प्रकार की घटना हो जाती। अन्त में इसे पूर्णतः अमान्य कर दिया गया।

(आ) राक्षस : विलोम क्रम से दूसरा प्रकार था राक्षस।[३] मनु के अनुसार 'रोती-पीटती हुई कन्या का, उसके सम्बन्धियों को मार या क्षत-विक्षत कर बलपूर्वक हरण विवाह का राक्षस प्रकार कहा जाता था'।[४] इस प्रकार में वर

(१) पैशाचश्चाष्टमोऽधमः। म. स्मृ. ३. २१।

(२) सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ म. स्मृ. ३. ३४।

(३) आ. गृ. सू. १. ६; म. स्मृ ३. २१; याज्ञ. स्मृ १. ६१।

(४) हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्या हरतो राक्षसो विधिरुच्यते॥ म. स्मृ. ३. ३३।

कन्या के पिता या स्वयं कन्या की स्वीकृति की प्रतीक्षा न कर, बलपूर्वक उसका हरण कर लेता था। यह प्रकार प्राचीन युद्धप्रिय जनों में प्रचलित था तथा इस प्रकार प्राप्त स्त्रियों का उपभोग युद्ध की लूट के रूप में किया जाता था। मनु की परिभाषा में युद्ध के दृश्य का चित्रण है। विष्णु[1] तथा याज्ञवल्क्य[2] तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि राक्षस विवाह का उद्भव युद्ध से हुआ।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि यह विवाह का प्राचीनतम प्रकार है, जो आदिम जनों में प्रचलित था। उन्हें आधुनिक काल की बारात में उस मूलभूत युद्ध का अवशेष दिखाई देता है। वे कहते हैं कि वर्तमान असभ्य तथा अर्ध-सभ्य जनों की विवाह-पद्धति में प्रचलित अनेक चलनों से उनके मत का समर्थन होता है। उदाहरणार्थ, भारत के भी अनेक वन्य जनों में विवाह के अवसर पर युद्ध तथा हरण का अभिनय किया जाता है। गोंडों में वर विवाह-मण्डप से भागने का अभिनय करती हुई वधू का पीछा करता है। इसी प्रकार विहार में विरहोलों में प्रचलित एक प्रथा के अनुसार वर भागती हुई कन्या को पकड़ लेता है।

उपर्युक्त विचार के पोषक असगोत्र विवाह को एक पूर्वसिद्ध तथ्य मानकर चलते हैं। यह अत्यन्त सन्दिग्ध है कि किसी जन के समस्त सदस्य स्वभावतः ही अपने जन के बाहर विवाह करते रहे होंगे। यह कल्पना भी कि विवाह-संस्कार के आयोजन युद्ध केही अवशेष हैं, सुदृढ़ प्रमाणों पर आधारित नहीं है तथा उसकी अन्य व्याख्याएँ भी की जा सकती हैं। यह अधिक सम्भव है कि बारात का कारण विवाहोत्सव और उसकी धूमधाम है तथा जन-समुदाय के एकत्र होने का मूल सम्बन्धियों के सामूहिक दायित्व में निहित है, जिसके फलस्वरूप अपने समुदाय के वैवाहिक सम्बन्धों की सुरक्षा में विशिष्ट व्यक्तियों की रुचि सहज ही उत्पन्न हो गई। साथ ही हरण पत्नी प्राप्त करने का एक मात्र आदिम प्रकार नहीं हो सकता। आदिम यौन सम्बन्धों में भी स्त्री-पुरुष की इच्छा तथा स्वीकृति निश्चय ही प्राप्त कर ली जाती रही होगी, जैसा कि पशुओं में भी देखा जाता है। स्त्री और पुरुष के बीच परस्पर स्वतःसिद्ध आकर्षण है जो बिना किसी बाह्यशक्ति के दोनों को एक सम्बन्ध में बांध

---

(१) युद्धहरणेन राक्षसः।

(२) राक्षसो युद्धहरणादिति।

देता है। इस प्रकार अति प्राचीनकाल में भी गान्धर्व-विवाह राक्षस की अपेक्षा अधिक प्रचलित रहा होगा।

वैदिक काल में भारत-ईरानीय जन सदा युद्धरत नहीं रहते थे तथा प्राचीन असभ्य प्रथाएँ उनके बीच से उठती जा रही थीं। कन्या की इच्छा के विरुद्ध उसके हरण की प्रथा क्रमशः लुप्त होती जा रही थी तथा अधिकांश में कन्या का हरण उसकी पूर्व-स्वीकृति से ही किया जाता था, भले ही यह माता-पिता की इच्छा के विपरीत रहा हो। कभी-कभी तो इस प्रकार के हरण की व्यवस्था पहले से ही वर और वधू कर लेते थे। यदा-कदा प्रेमियों का अपने अभिभावकों से संघर्ष हो जाया करता था और परिणामस्वरूप उनका विवाह केवल हरण या पलायन द्वारा ही सम्भव था, जो वीरों तथा स्त्रियों दोनों ही के लिए समान रूप से सराहनीय समझा जाता था, जैसा कि विमद तथा पुरुमित्र की कन्या के उपाख्यान से स्पष्ट है[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि राक्षस-विवाह में केवल बल और शक्ति का ही प्रयोग नहीं किया जाता था, अपितु इसकी व्यवस्था पहले ही वधू की स्वीकृति से, जिसे अपने माता-पिता की इच्छा स्वीकार नहीं होती थी, कर ली जाती थी। यह पूर्व-स्वीकृति एक ऐसा तथ्य है, जो इस प्रकार के हरण या पलायन तथा राक्षस विवाह के मध्य भेद स्थापित कर देता है। महाभारत में वर्णित रुक्मिणी तथा सुभद्रा के प्रसङ्ग में इस प्रकार की स्वीकृति पहले ही प्राप्त कर ली गई थी[2]।

कालक्रम से, जब विविध जन भूमि पर स्थायी रूप से बस गये, समाज से हरण-विवाह प्रायः उठ गया। किन्तु यह भारत की सैनिक उपजाति क्षत्रियों में प्रचलित रहा। इसका एक मात्र कारण यह था कि अधिकांश क्षत्रिय ही युद्ध में भाग लेते और युद्ध की लूट के रूप में पत्नियाँ प्राप्त करते थे। यह आदिम युद्ध की लूट आगे चलकर वीरता का प्रमाण समझी जाने लगी। मनु के अनुसार क्षत्रियों के लिए राक्षस विवाह प्रशस्त है[3]। महाभारत, १. २४५. ९ में भीष्म भी बलपूर्वक कन्या का हरण क्षत्रियों के लिए प्रशस्त मानते हैं[4]

(१) ऋ. वे. १. १. ११२-१९; ११६. १; ११७.२; १०.३९ ७; ६५.१२।

(२) म भा. ८. ३७. ३४।

(३) राक्षसं क्षत्रियस्यैकम्। म स्मृ. ३. २४।

(४) क्षत्रियाणा तु वीर्येण प्रशस्तं हरणं बलात्।

तथा उन्होंने स्वयं भी कुछ राजकुमारों के लिए कन्याओं का हरण किया था। हारीत इसे क्षात्र विवाह कहते हैं[1] तथा देवल के अनुसार यह शक्ति तथा वीरता का चिह्न है[2]। भारतीय इतिहास में राजपूत काल तक यह प्रथा प्रचलित थी। अधिकांश में हृत स्त्री भी इसके लिए इच्छुक रहती थी। उदाहरणार्थ, पृथ्वीराजरासो के अनुसार पृथ्वीराज द्वारा संयुक्ता का हरण पूर्व-व्यवस्थित था। बारहवीं शताब्दी के पश्चात् राजपूतों की राजनीतिक शक्ति के अन्त तथा फलस्वरूप हिन्दुओं के प्रधानतः कृषि और व्यापार की ओर उन्मुख होने से यह प्रथा हिन्दू समाज से उठ गई।

(६) गान्धर्व : पत्नी प्राप्त करने का तीसरा प्रकार था गान्धर्व[3]। आश्वलायन के अनुसार 'विवाह का वह प्रकार, जिसमें पुरुष और स्त्री परस्पर निश्चय कर, एक दूसरे के साथ गमन करते हैं, गान्धर्व कहलाता है।' हारीत और गौतम के मतानुसार विवाह का वह प्रकार जिसमें कन्या स्वयं अपने पति का चुनाव करती है, गान्धर्व कहा जाता है। इस विषय में मनु की परिभाषा सबसे अधिक व्यापक है : जब कन्या और वर कामुकता के वशीभूत होकर स्वेच्छा-पूर्वक परस्पर संयोग करते हैं, तो विवाह के उस प्रकार को गान्धर्व कहते हैं[4]। विवाह के इस प्रकार में वर तथा कन्या के माता-पिता नहीं, अपितु वर और वधू स्वयं कामुकता के वशीभूत होकर विवाह का निश्चय करते थे।

गान्धर्व-विवाह पैशाच और राक्षस के समान या उससे भी प्राचीन है, क्योंकि यह किसी भी अन्य प्रकार की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। मानव-सभ्यता के शैशव-काल में युवक तथा युवतियाँ बिना किसी शक्ति अथवा छल के स्वयं परस्पर आकर्षित होते रहे होंगे। ऋग्वेद १०. २७. १७ के अनुसार 'वही वधू भद्रा कहलाती है, जो सुन्दर वेश-भूषा से अलंकृत होकर जनसमवाय में अपने पति (मित्र) का वरण करती है।' विवाह का सर्वाधिक सामान्य प्रकार वह प्रतीत होता है जिसमें वर और कन्या पहले से ही ग्राम-जीवन अथवा अन्य अनेक उत्सवों व मेलों में, जहाँ उनका स्वतन्त्र चुनाव तथा

(१) अलङ्कृताभिजयतः क्षात्रः।

(२) वीर्यहेतुर्विवाहः सप्तमः समुदाहृतम्। (३) आ. गृ. सू. १. ६।

(४) इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वस्स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः॥ म. स्मृ. ३. ३२।

परस्पर आकर्षण उनके सम्बन्धियों को अवांछित नहीं हो, एक दूसरे के सहवास का अनुभव कर चुके हों। अथर्ववेद के एक मन्त्र से विदित होता है कि प्रायः माता-पिता पुत्री को अपने प्रेमी के चुनाव के लिए स्वतन्त्र छोड़ देते थे और प्रेम-प्रसङ्ग में आगे बढ़ने के लिए उन्हें प्रत्यक्षतः प्रोत्साहित करते थे[1]। कन्या की माता उस समय का विचार करती रहती थी, जब कन्या का विकसित यौवन (पतिवेदन) उसके लिए पति प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर लेगा। यह पूर्णतः पवित्र व आनन्द का अवसर था, जिसमें न तो किसी प्रकार का कलुष था और न अस्वाभाविकता[2]। अथर्ववेद ६. ३. ६ में गान्धर्व-विवाह-विषयक अन्य सङ्केत भी हैं। एक स्थल पर वस्तुतः गन्धर्व पतियों का उल्लेख किया गया है[3]। संस्कृत महाकाव्यों में गान्धर्व विवाह के उदाहरण प्रचुर संख्या में प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार को गान्धर्व कहा जाता था, क्योंकि यह हिमालय की तराई में रहनेवाले गन्धर्वों के जन में विशेष रूप से प्रचलित था। यह हिन्दू समाज के अन्य किसी भी वर्ग की अपेक्षा क्षत्रियों में अधिक प्रचलित था, क्योंकि ये समाज के सर्वाधिक स्वतन्त्र तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हैं।

कतिपय विचारकों के अनुसार विवाह का यह प्रकार प्रशस्त था, क्योंकि इसका मूल पारस्परिक आकर्षण और प्रेम में निहित है[4]। महाभारत में शकुन्तला के पालक पिता कण्व कहते हैं कि 'सकामा स्त्री का सकाम पुरुष के साथ विवाह, भले ही धार्मिक क्रिया व संस्कार से रहित क्यों न हो, सर्वोत्तम है[5]।' किन्तु अधिकांश स्मृतिकार इसे प्रशस्त मानने के लिए उद्यत न थे। वे धार्मिक तथा नैतिक आधारों पर इसे अप्रशस्त मानते थे[6]। यह

---

(१) अग्ने अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन।
जुष्टावरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगत्वमस्यै ॥ २. ३६।

(२) ऋ. वे. ६. ३०. ६।

(३) जाया इद् वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम्। ४. ३७. १२।

(४) गान्धर्वमप्येके प्रशंसन्ति स्नेहानुगतत्वात्। गौ. ध. सू. ९. १. ३१।

(५) सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रः श्रेष्ठ उच्यते। म. भा. ४. ९४. ६०।

(६) गान्धर्वस्तु क्रियाहीनः रागादेव प्रवर्तते।
वीरमित्रोदय भा. २. पृ. ८७ पर उद्धृत।

प्रथम पाँच प्रकारों की अपेक्षा हीन माना जाता था, क्योंकि इसका उद्भव कामुकता से होता तथा धार्मिक क्रियाओं तथा संस्कार के बिना ही यह सम्पन्न हो जाता था। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के विवाह-सम्बन्ध की स्थिरता के विषय में भी सन्देह था। क्योंकि परस्पर आकर्षण अथवा कामुकता ही इसका निर्णायक तत्त्व था, अतः यह कहना असम्भव था कि यह विवाह-सम्बन्ध स्थायी रह सकेगा या नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रों के समय से ही विवाह का यह प्रकार उठता जा रहा था। गृह्यसूत्रों में 'दत्ता' अथवा 'प्रत्ता' कन्या का उल्लेख मिलता है,[1] जिसका पाणिग्रहण वरद्वारा किया जाता था। काल-क्रम से जब स्वामित्व की भावना में वृद्धि हुई, तो सन्तान को भी स्वामित्व का आलम्बन माना जाने लगा और माता-पिता अपने पुत्रों व पुत्रियों का अधिकाधिक नियमन करने लगे। अतः वर और कन्या की अपने सहधर्मी चुनने की स्वतन्त्रता का ह्रास होने लगा। निन्यानवे प्रतिशत विवाह माता–पिता या संरक्षकों द्वारा निश्चित किये जाने आरम्भ हो गये। बाल-विवाह की प्रथा ने तो विवाह के इस प्रकार को समाप्त ही कर दिया क्योंकि बालकों को विवाह-विषयक उचित जानकारी नहीं रहती और फलस्वरूप विवाह के विषय में वे अपने विवेक तथा अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकते। अन्त में हिन्दू समाज से विवाह का यह प्रकार लुप्त हो गया और सम्प्रति इसे वैध नहीं माना जाता।

(५) (ई) आसुर : आसुर गान्धर्व की अपेक्षा विवाह का श्रेष्ठतर प्रकार था।[2] मनु के अनुसार 'जिस विवाह में पति कन्या तथा उसके संबन्धियों को यथाशक्ति धन प्रदान कर, स्वच्छन्दतापूर्वक कन्या से विवाह करता है, उसे आसुर कहते हैं'।[3] विवाह के इस प्रकार में धन ही प्रधान निर्णायक तत्त्व था तथा अल्पाधिक रूप में यह एक सौदा था। कतिपय धर्मशास्त्र-प्रणेताओं ने इसे मानुष नाम दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में पैशाच और

---

(१) पा. गृ. सू. १. ४. १६।

(२) आ. गृ. सू. १. ६।

(३) ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते॥ म. स्मृ. ३. ३१।

राक्षस की अपेक्षा जिसमें छल वा शक्ति का प्रयोग होता था, आसुर विवाह अधिक उन्नत व सभ्य था।

आदिम काल के पितृसत्तात्मक परिवार में सन्तान एक प्रकार की पारिवारिक सम्पत्ति समझी जाती थी तथा धन के लिए किसी भी पुरुष के साथ कन्याओं का विवाह किया जा सकता था। वैदिक काल में हमें कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें यदा-कदा सौदा निश्चित कर लिया जाता था और व्यवहार में कन्या धन के लिए बेच दी जाती थी।[1] लोभ के वशीभूत हो कर कभी-कभी कन्याएं स्वयं धन के लिए सम्पत्तिशाली व्यक्ति से विवाह कर लेती थीं, भले ही वह अन्य प्रकार से अयोग्य ही क्यों न हो।[2] एक ऋचा में एक ऋषि अश्विनीकुमारों से विजामाता के समान उदार होने की प्रार्थना करता है।[3] यास्क के अनुसार विजामातृ तथा क्रीता-पति शब्द समानार्थक हैं। मैत्रायणी संहिता में क्रीता पत्नी की अविश्वसनीयता तथा चरित्रहीनता की निन्दा की गई है।[4]

आरम्भ में यह प्रथा किसी भी प्रकार हीन व दोषयुक्त नहीं मानी जाती थी। किन्तु आगे चलकर इसकी ओर अरुचि तथा हीनता की भावना उत्पन्न होने लगी। महाभारत से विदित होता है कि भीष्म ने कतिपय कुरु राजकुमारों के लिए क्रय द्वारा पत्नियां प्राप्त की थीं।[5] जब वे शल्य के पास इस उद्देश्य से पहुंचे, तो उसे परिस्थिति की कठिनता व गम्भीरता का अनुभव हुआ। किन्तु कन्या का शुल्क मांगने की प्रथा को समाप्त करने का साहस उसमें नहीं था। जहां तक राजवंशों का सम्बन्ध है, यह विक्रय की अपेक्षा एक प्रथा थी। भीष्म ने स्वीकार किया कि इस सौदे में कोई भी पाप या दोष नहीं है। किन्तु धन

---

(१) ऋ. वे. १. १०७ २।

(२) दयतियोषा मर्यतोवधूयो परिप्रीता पन्यसा वार्येण। वही, १०.२७.१२।

(३) अश्रवं हि भूरिदावत्तरावा विजामातुरुत वाघा स्यालात्।
वही, १. १०९. २।

(४) अनृतं वा एषा करोति या पत्युः क्रीता सती अन्यैः सञ्चरति।
१. १०. ११।

(५) पूर्वैः प्रवर्तितं किञ्चित् कुलेऽस्मिन् नृपसत्तमैः।
साधु वा यदि वासाधु तन्नातिक्रान्तुमुत्सहे॥ म. भा. आदि॰
१२२. ९ और आगे।

की मांग प्रस्तुत करने में शवप के सङ्कोच व किङ्कर्तव्यविमूढता से स्पष्ट है कि जनमत इस प्रथा के पक्ष में नहीं था।

कालक्रम से विवाह को धार्मिक स्वरूप प्राप्त होने पर, जिसमें कन्या पिता द्वारा वर को दिया जाने वाला पुण्यमय व पवित्र उपहार मानी जाती थी, कन्या-विक्रय की उक्त प्रथा अधिकाधिक लोभमूलक व सांसारिक समझी जाने लगी। स्मृतिकार आसुर विवाह का उल्लेख या तो परम्परागत प्रथा अथवा अनिवार्य बुराई के रूप में करते हैं। जहां तक उनके स्वतन्त्र विचारों का प्रश्न है, वे उसकी निन्दा करते हैं तथा उसे विवाह के आवरण में विक्रय मानते हैं। मनु लिखते हैं कि 'कन्या के विद्वान् पिता को अणुमात्र शुल्क भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। लोभ के कारण शुल्क स्वीकार करने वाला पुरुष सन्तान का बेचने वाला है।'[1] आपस्तम्ब स्मृति के अनुसार 'शूद्र को भी कन्यादान करते समय शुल्क नहीं लेना चाहिए। शुल्क को स्वीकार करना छद्मवेश में कन्या का विक्रय है।'[2] यही नहीं, कतिपय लेखकों के अनुसार तो 'धन द्वारा क्रीत नारी पत्नी का स्थान प्राप्त नहीं कर सकती और न उसे दैव तथा पित्र्य क्रियाओं में भाग लेने का अधिकार ही मिल सकता। व ह तो एक दासी के समान है'।[3] शनैः शनैः कन्या का विक्रय अधिकाधिक पापमय समझा जाने लगा। 'जो लोभान्ध हो कर धन के लिए अपनी पुत्री को देते हैं, वे आत्मविक्रयी तथा महापातकी हैं। वे घोर नरक में गिरते तथा सात पूर्ववर्ती और सात परवर्ती पीढ़ियों द्वारा अर्जित पुण्यों का ध्वंस कर देते हैं'।[4]

किन्तु असीमित निन्दा व भर्त्सना किये जाने पर भी यह प्रथा भारत में

---

(१) न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णन्हि शुल्कं लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥ ३. ५१।

(२) न्याददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददत्।
शुल्कं हि गृह्णन् कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम्॥

(३) क्रीता द्रव्येण या नारी न सा पत्नी विधीयते।
न सा दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कवयो विदुः॥ बौ. ध. सू. १. २. २०।

(४) शुल्केन ये प्रयच्छन्ति स्वसुतां लोभमोहिताः।
आत्मविक्रयिणः पापा महाकिल्बिषकारकाः॥
पतन्ति निरये घोरे घ्नन्ति चासप्तमं कुलम्। वही, १. ११. २१।

किसी न किसी रूप में प्रचलित रही और इस समय भी जीवित है, यद्यपि यह अत्यन्त निर्धन परिवारों में सीमित है। यूनानी लेखकों के अनुसार उत्तर-पश्चिम भारत में यह प्रथा प्रचलित थी।[1] सम्प्रति भारत में कुछ निम्न जातियों और उच्च जातियों के नितान्त दरिद्र परिवारों में ही इस प्रथा का प्रचलन पाया जाता है। किन्तु ऐसा इच्छापूर्वक नहीं किया जाता तथा इसे छिपाने का यत्न किया जाता है।

इससे मिलती-जुलती एक अन्य प्रथा, जिसके अनुसार कन्या का पिता वर को दहेज देता है, हिन्दुओं के प्राचीन साहित्य में प्राप्त नहीं होती। किन्तु कतिपय ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनमें कन्या के अभिभावकों को वर को दहेज देना पड़ता था। ऋग्वेद, १०. २३. ११ से ज्ञात होता है कि एक कन्या के विवाह के समय जिसमें कुछ शारीरिक दोष होता था, उसके संरक्षकों को वर को धन देना पड़ता था। विवाह की एक ऋचा में 'वहतु' अथवा कन्या के साथ जाने वाले देय का उल्लेख है।[2] अथर्ववेद में एक राजा की इसलिए निन्दा की गई है कि उसकी रानी अपने साथ पर्याप्त देय सामग्री न ला सकी।[3] ऐतरेय ब्राह्मण, १. १६ में धन के आधार पर होने वाले विवाह को 'पशु-विवाह' कहा गया है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि वर अथवा कन्या में से कौन सा पक्ष धन लेता था।

जिस समय आसुर तथा आर्ष विवाह प्रचलित थे, उस समय वर की ओर से वधू के सम्बन्धियों से धन की मांग सम्भव नहीं प्रतीत होती। समय की मांग तो यह थी कि कन्या का पिता वर से उसके मूल्य की मांग करता। किन्तु धीरे-धीरे स्थिति में परिवर्तन हुआ। प्राचीनकाल में स्त्री का कुमारी रह जाना असह्य नहीं था। किन्तु परवर्ती काल में कन्या का विवाह अनिवार्य हो गया और रजोदर्शन के पूर्व विवाह की प्रथा प्रचलित हो गई। फलतः सीमित समय में ही कन्या के विवाह के लिए उसके पिता की चिन्ता बढ़ने लगी। धार्मिक कारणों से वह वर के पिता द्वारा मांगा हुआ धन देकर भी कन्या से मुक्ति प्राप्त करना चाहता था। विवाह को एक यज्ञ मानने के धार्मिक विश्वास से भी इस प्रथा के विकास में सहयोग मिला। दहेज कन्यादान की

(१) मेगास्थने, आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया, भा. १, पृ. ६० पर उद्धृत।

(२) ऋ. वे. १०. ८५।

(३) न अस्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमसियेत्। ७. १२।

दक्षिणा समझा जाता था और यहाँ तक लोग प्रायः स्वेच्छापूर्वकउ से देते भी थे। सम्पन्न परिवारों में इस प्रथा को कठोर बनाने में पैतृक सम्पत्ति में कन्या का उत्तराधिकार भी सहायक हुआ। दहेज के रूप में अपने पिता की सम्पत्ति में से कन्या को अपना भाग मिल जाता था। आधुनिक काल में शिक्षित परिवारों में पुत्रों की शिक्षा अत्यन्त मँहगी है। लड़के का पिता सोचता है कि उसके पुत्र की शिक्षा का व्यय कन्या के पिता को वहन करना चाहिए, जो उसके पुत्र की शिक्षा से पूरा लाभ उठाता है। वर्तमान काल में यह अनुभव होने लगा है कि दहेज की माँग उपयुक्त वर और कन्या के चुनाव में बाधक है और समाज दहेज की प्रथा के अनौचित्य तथा कठोरता को दूर करने के लिए प्रस्तुत होता जा रहा है।

(उ) प्राजापत्य : आसुर के पश्चात् विपरीत क्रम से प्राजापत्य विवाह आता है।[1] इसके अनुसार अपनी कन्या का पाणिग्रहण पिता योग्य वर के साथ इस उद्देश्य से कर देता था कि वे दोनों अपने नागरिक व धार्मिक कर्तव्यों का साथ-साथ पालन करें।[2] इसमें पिता वर से, जो स्वयं विवाह के प्रार्थी के रूप में आता था, एक प्रकार का वचन प्राप्त कर लेता था। आश्वलायन ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है : "विवाह का वह प्रकार जिसमें 'तुम दोनों धर्म का साथ-साथ आचरण करो', यह आदेश दिया जाता है, प्राजापत्य कहलाता है"।[3] गौतम[4] और मनु[5] भी प्रायः इन्हीं शब्दों को दुहराते हैं। स्वयम् प्रजापति नाम ही यह सूचित करता है कि नव-दम्पति प्रजापति के प्रति अपना ऋण चुकाने, अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने व उसके पालन-पोषण के लिए इस सम्बन्ध में बँधते थे। इस प्रकार के सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यावहारिक पार्श्व पर देवल के एक वचन से प्रकाश पड़ता है, जिसके अनुसार

---

(१) आ. गृ. सू. १. ६। (२) याज्ञ. स्मृ. १. ६०।

(३) सह धर्मं चरत इति प्राजापत्यः। आ. गृ. सू. १. ६।

(४) संयोगमन्त्रः प्राजापत्ये सहधर्मं चर्यतामिति।

(५) सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥ म. स्मृ. ३. ३०।

यह विवाह निश्चित शर्तों (समयबन्धन) पर आधारित था।[1] आधुनिक पाठक इस प्रकार को सब से अधिक सन्तोषप्रद तथा युक्तिसङ्गत समझेंगे, क्योंकि इसमें पति और पत्नी दोनों के अधिकार समान रूप से सुरक्षित हो जाते हैं। किन्तु हिन्दू धारणा के अनुसार यह प्रथम तीन प्रकारों की अपेक्षा निम्नतर है। इसका कारण यह है कि यहाँ दान स्वतन्त्र न होकर शर्त या समय के बन्धन में बँधा हुआ है, जो हिन्दुओं की दान-सम्बन्धी धार्मिक धारणा के विपरीत है। तथापि यह प्रकार प्रशस्त है।

इस प्रकार का अत्यन्त प्राचीन काल में प्रचलन सम्भव नहीं प्रतीत होता। समाज की उन्नत दशा में ही शिक्षित पुरुषों व स्त्रियों ने इसका अनुसरण किया होगा। इसके लिए ऐसा स्वतन्त्र समाज आवश्यक था, जिसमें स्त्रियों का पार्थक्य न रहा हो और वर स्वयं कन्या से विवाह की प्रार्थना के लिए आगे बढ़ने का साहस रखता हो। बालविवाह के प्रचलित होने पर इसका ह्रास हो गया, क्योंकि इस प्रकार के विवाह के लिए केवल प्रौढ़ युवक व युवतियां ही समर्थ हो सकते थे, जो उस प्रतिज्ञा के अर्थ को समझ सकते, जिसमें उन्हें प्रविष्ट होना था। कालक्रम से विवाह पिता की ओर से वर को दिया जानेवाला एक विशुद्ध दान बन गया और कोई भी शर्त, भले ही वह कितनी भी नम्रतापूर्ण क्यों न हो, हिन्दुओं की धार्मिक भावना के प्रतिकूल अथवा आक्रामक समझी जाने लगी।

(ऊ) आर्ष : धर्मशास्त्रों के अनुसार आर्ष विवाह प्राजापत्य की अपेक्षा प्रशस्ततर है।[2] इस प्रकार के अनुसार कन्या का पिता वर से यज्ञादि धर्मविहित कार्य को सम्पन्न करने के लिए एक अथवा दो गो-मिथुन प्राप्त करता था।[3] स्पष्टतः यह कन्या का मूल्य नहीं था, किन्तु धन-प्राप्ति का यत्किञ्चित भाव अवश्य था, यद्यपि कन्या का पिता उसका सौदा नहीं करना चाहता

(१) सहधर्मक्रियाहेतोर्दानं समयबन्धनात्।
अलङ्कृत्यैव कन्याया विवाहः स प्रजापतेः॥ वीरमित्रोदय, भा. २, पृ. ८५१. पर उद्धृत।

(२) आ. गृ. सू. १. ६; म. स्मृ. ३. २९; याज्ञ स्मृ. १. ६१.।

(३) एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥ म. स्मृ. ३. २९।

था। आश्वलायन, बौधायन तथा आपस्तम्ब सभी इस विषय में एकमत हैं कि जब कोई युवक कन्या के पिता को एक गो-मिथुन प्रदान कर उससे विवाह करता है, तो वह विवाह का आर्ष प्रकार कहलाता है। किन्तु इस विषय में यह प्रतिबन्ध था कि गो-मिथुन के इस आदान का उद्देश्य केवल यज्ञकार्य ही होना चाहिए। इस प्रकार यह आसुर से भिन्न था। मनु के अनुसार 'जिस विवाह में सम्बन्धी कन्या के लिए शुल्क नहीं स्वीकार करते, वह विक्रय नहीं है, वह तो केवल अर्हण-मात्र है।[1] वीरमित्रोदय के मतानुसार[2] यह कन्या का मूल्य नहीं है, क्योंकि इसका परिमाण सीमित है। इसके अतिरिक्त यह कन्या के साथ ही वर को दे दिया जाता था। यह प्रकार आर्ष कहलाता था, क्योंकि यह मुख्य रूप से ऋषिपरम्परा के पुरोहितों अथवा ब्राह्मणों के कुलों में ही प्रचलित था, जैसा कि स्वयं इसके नाम से सूचित होता है। किन्तु डॉ. अविनाशचन्द्र दास, अपने ग्रन्थ 'ऋग्वेदिक कल्चर' में इसकी एक भिन्न ही व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते हैं: 'जब उसके विस्तृत ज्ञान तथा आध्यात्मिक योग्यता के कारण किसी ऋषि के साथ किसी कन्या का विवाह किया जाता था, तो विवाह का वह प्रकार आर्ष कहलाता था।[3]' किन्तु इस व्याख्या के अनुसार हम गो-मिथुन के आदान की प्रथा के उद्भव का स्पष्टीकरण नहीं कर सकते। आदर तथा मांग दोनों एक साथ नहीं चल सकते। यज्ञों के ह्रास के साथ विवाह का यह प्रकार भी लुप्त हो गया। विवाह का यह प्रकार पहले प्रशस्त माना जाता था, किन्तु आगे चलकर गो-मिथुन का नाममात्र का आदान भी कन्यादान की भावना के विपरीत माना जाने लगा। स्वयं मनु-स्मृति में भी यह विचार प्रतिध्वनित मिलता है: 'कतिपय आचार्य आर्ष-विवाह में एक गो-मिथुन के आदान का विधान करते हैं, किन्तु यह अनुचित है। भले ही यह अल्प हो या

(१) यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणं तत् कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम्॥ ३. ५४।

(२) धर्मनिमित्तो ह्यसौ सम्बन्धो न लोभनिमित्तकः। गोमिथुनग्रहणञ्च स्वयं कन्योपकरणदानासमर्थस्य तद्दानार्थं वेदितव्यम्॥ वी. मि. सं. भा. १, पृ. ८२२।

(३) पृ. २. ५३।

अधिक है, यह विक्रय ही।[1] कालक्रम से कन्या के पिता की ओर से 'आदान' शब्द ही विवाह के क्षेत्र से बहिष्कृत हो गया।

(ए) दैव : आर्ष की अपेक्षा प्रशस्ततर प्रकार था दैव।[2] इस प्रकार में पिता कन्या को अलङ्कृत कर अपने आरब्ध यज्ञ में पौरोहित्य करनेवाले ऋत्विज को दे देता था। बौधायन के अनुसार कन्या दक्षिणा के रूप में दी जाती थी।[3] यह प्रकार दैव कहलाता था, क्योंकि यह दान दैव यज्ञ के अवसर पर किया जाता था। सेवा के लिए विवाह में कन्यादान के उदाहरण वैदिक साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। किन्तु कभी-कभी इसकी नग्नता को अन्य तत्वों द्वारा प्रच्छन्न कर दिया जाता था। इस प्रकार दाल्भ्य की पुत्री रथवीति के लिये श्यावाश्व व्याकुल भी था, जिसका विवाह बाद में उसके साथ कर दिया गया।[4] यज्ञों में सेवा के लिए पुरोहित बहुधा अपने संरक्षक राजाओं से सुन्दर कन्याओं अथवा दासियों को प्राप्त करते रहते थे, जो 'वधू' कहलाती थीं। किन्तु यह वास्तविक विवाह नहीं प्रतीत होता, तथा उसे समाज के समृद्ध और शक्तिशाली वर्गों में प्रचलित बहु-विवाह की प्रथा के साथ संयुक्त रखैल-प्रथा समझना चाहिए। यह प्रकार मुख्यतः हिन्दुओं के प्रथम तीन वर्गों में प्रचलित था। यज्ञ के अवसर पर पुरोहित को अपनी कन्या विवाह में देना लोगों ने पुण्यकर समझा। परवर्ती काल में यज्ञिय-धर्म के ह्रास के साथ ही यह प्रथा भी अप्रचलित हो गयी, और लोगों ने अन्य विशेषताओं पर बिना विचार किये पुरोहित को कन्यादान करना उचित न समझा। इसके अतिरिक्त विवाह में केवल दान का ही भाव निहित नहीं था, वह तो कन्या के सम्पूर्ण जीवन का प्रश्न था, अतः विचारपूर्वक उसका आयोजन करना उपयुक्त ही है। यह प्रकार ब्राह्म की अपेक्षा अप्रशस्त माना जाता था, क्योंकि इसमें कन्यादान

---

(१) आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्।
अल्पोऽप्येवं महान् वाऽपि विक्रयस्तावदेव स॥ म. स्मृ. ३. ५३।

(२) ऋत्विजे वितते कर्मणि दद्यादलङ्कृत्य स दैवः। आ. गृ. सू. १. ६।

(३) दक्षिणासु दीयमानास्वन्तर्वेदि यदृत्विजे स दैवः।

(४) ऋ. वे. ५. ६१. १७-१९।

पुरोहित द्वारा यज्ञ में की हुई सेवा के लिए किया जाता था, जब कि ब्राह्म प्रकार में विवाह एक विशुद्ध दान था।

(ऐ) ब्राह्म : विवाह का शुद्धतम तथा सर्वाधिक विकसित प्रकार था ब्राह्म[1]। इसे ब्राह्म कहते थे, क्योंकि यह ब्राह्मणों के योग्य समझा जाता था। इसमें पिता विद्वान् तथा शीलसम्पन्न वर को स्वयं आमन्त्रित कर तथा उसका विधिवत् सत्कार कर, उससे शुल्क आदि स्वीकार न कर, दक्षिणा के साथ यथाशक्ति वस्त्राभूषणों से अलंकृत कन्या का दान करता था[2]। स्मृतियां इसे विवाह का सबसे अधिक सम्मानित प्रकार मानती हैं, क्योंकि यह शारीरिक शक्ति के प्रयोग, कामुकता, किसी प्रकार की शर्त अथवा धन-लिप्सा से मुक्त था। इसमें सामाजिक शालीनता का पूर्णरूप से पालन किया जाता तथा धार्मिक विचारों पर ध्यान रखा जाता था। अपनी प्रकृति से ही विवाह का यह प्रकार अति प्राचीन नहीं हो सकता, क्योंकि इसके लिए सामाजिक अभ्यासों की सुदीर्घ संस्कृति अपेक्षित है। किन्तु इस प्रकार के अस्तित्व का संकेत हमें वैदिक काल में भी प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वर्णित सोम के साथ सूर्या का विवाह ब्राह्म विवाह का पूर्वरूप है[3]। यह प्रकार आज भी प्रचलित तथा भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय है, यद्यपि इसमें दहेज की निन्दनीय प्रथा का भी प्रवेश हो गया है।

७. कतिपय अन्य प्रकार

इनके अतिरिक्त विनिमय-विवाह, सेवा-विवाह आदि विवाह के अन्य प्रकार भी प्रचलित थे जिनका स्मृतिकारों तथा धर्मशास्त्रियों ने उल्लेख नहीं किया है। विनिमय-विवाह हिन्दू समाज में आज भी प्रचलित है। किन्तु केवल कुछ दरिद्र माता-पिता, जिनकी सन्तान की ओर साधारणतः अपेक्षित लोगों का ध्यान आकृष्ट नहीं हो पाता, अपने पुत्र व पुत्री के विनिमय द्वारा विवाह

---

(१) आ. गृ. सू. १. ६; म. स्मृ. ३. २७; याज्ञ. स्मृ. १. ५८; व. स्मृ. २. ५; शं. स्मृ. ४. २।

(२) आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥ म. स्मृ. ३. २७।

(३) १०. ८५।

की व्यवस्था करते हैं। यह कोई ऐच्छिक प्रथा नहीं है, इसका अनुसरण तो परिस्थितियों से बाध्य होकर किया जाता है। शेष पहलुओं में यह ब्राह्म-विवाह के ही समान है।

८. लोकप्रिय प्रकार

ब्राह्म तथा आसुर-विवाह के ये दो प्रकार ही वर्तमान हिन्दू समाज में प्रचलित हैं। प्रथम प्रकार में, कन्या का पिता अथवा अभिभावक इस प्रयोजन के लिये विशेष रूप से निमन्त्रित व्यक्ति को, उससे बिना कुछ लिए, अपनी कन्या विवाह में दे देता है। दूसरे प्रकार में, कन्या का पिता वर से उसका मूल्य स्वीकार करता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि हमारे स्मृतिकार किसी भी तीसरे प्रकार का उल्लेख नहीं करते। इच्छुक वर कन्या के पिता पर उसकी कन्या से विवाह करने की कृपा के लिए किसी प्रकार धन देने का दबाव नहीं डालता है। इस बात का प्रश्न ही नहीं उठता कि कन्या के पिता के साधन पर्याप्त हैं या नहीं। दहेज निश्चित करने की वर्तमान प्रथा तथा विवाह निश्चित करने में इसी को आधार बनाने की प्रथा प्राचीन भारत में प्रचलित नहीं थी।

९. धार्मिक क्रियाओं की अनिवार्यता

विवाह किसी भी प्रकार से क्यों न किया जाता, उसकी वैधता के लिए धार्मिक विधि-विधान तथा कर्मकाण्ड अनिवार्य थे[1]। वसिष्ठ तथा बौधायन के अनुसार 'यदि किसी कन्या का बलात् अपहरण कर लिया गया हो, किन्तु मन्त्रों से विधिवत् संस्कार न किया गया हो, तो उसका विवाह किसी अन्य व्यक्ति के साथ विधिवत् किया जा सकता है, क्योंकि वह तो पूर्ववत् कुमारी ही रहती है[2]।' देवल कहते हैं: 'गान्धर्वादि-पैशाचान्त विवाहों में तीनों वर्णों को अग्नि के समक्ष वैवाहिक क्रियाएँ पुनः करनी चाहिए[3]।' गान्धर्व

(१) नोदकेन बिना चार्य कन्यायाः पतिरुच्यते।
पाणिग्रहणसंस्कारात् पतित्वं सप्तमे पदे॥ याज्ञ० स्मृ० १. ७६।

(२) बलादपहृता कन्या यदि मन्त्रैर्न संस्कृता।
अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा॥
वीरमित्रोदय, भा० २, पृ० ८६० पर उद्धृत।

(३) गान्धर्वादिविवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः।
कर्तव्यश्च त्रिभिर्वर्णैः समयेनाग्निसाक्षिकः॥ वही।

विवाह में सहवास संस्कार के पूर्व ही हो जाता था। मनु के अनुसार केवल कन्या (अविवाहिता) के ही विवाह में वैवाहिक कर्मकाण्ड का अनुसरण करना चाहिए[1]। किन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, परवर्ती स्मृतियाँ सहवास के पश्चात् भी वैवाहिक विधि-विधानों को अनिवार्य मानती तथा उनका विधान करती हैं। स्वयं मनु भी कर्मकाण्ड व वैवाहिक क्रियाओं की आवश्यकता पर बल देकर अपने पूर्व विचारों में संशोधन करते हैं[2]। विवाह किसी भी प्रकार से क्यों न किया गया हो, उससे उत्पन्न शिशुओं को वैधता प्रदान करने तथा सार्वजनिक अयश, निन्दा व घृणा से छुटकारे के उद्देश्य से संस्कार किया जाता था। माधवाचार्य भी विवाह के प्रत्येक प्रकार में धार्मिक क्रियाओं के अनुष्ठान की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। वे लिखते हैं: 'यह नहीं सोचना चाहिए कि गान्धर्व-प्रभृति विवाह के अप्रशस्त प्रकारों में सप्तपदी तथा अन्य वैवाहिक क्रियाओं के अभाव के कारण पति और पत्नी का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता, क्योंकि यद्यपि आरम्भ में स्वीकरण के पूर्व ये क्रियाएँ नहीं की जातीं, किन्तु बाद में वे अनिवार्य रूप से की ही जाती हैं[3]।'

हिन्दुओं के जीवन-दर्शन में धर्म-भावना का सर्वोच्च स्थान रहा है। यह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं था कि दम्पती किस प्रकार परस्पर सम्बन्ध में आबद्ध हुए, किन्तु यदि वे एक बार संयुक्त हो गये, तो संस्कार द्वारा उस सम्बन्ध को स्थायी कर दिया जाता था। यह विश्वास था कि वैवाहिक विधि-विधान से विवाह-सम्बन्ध को पवित्रता मिल जाती है। अतः विवाह के प्रत्येक प्रकार में उनका अनुष्ठान अनिवार्य समझा जाता था। आजकल बाल-विवाह तथा पर्दा-प्रथा के कारण ऐसे प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होते। केवल कुछ निम्न जातियों में ही अनियमित विवाह के कतिपय उदाहरण मिल जाते हैं।

१०. विवाह की सीमाएँ

विवाह से सम्बन्धित एक अन्य प्रश्न था वर और वधू के परिवार की परीक्षा। सेनार्ट के अनुसार 'आर्य लोग विवाह के विषय में सवर्ण तथा असगोत्र

---

(१) म. स्मृ., वही।
(२) म. स्मृ., वही।
(३) पी. एन. सेन द्वारा हिन्दू ज्यूरिस्प्रूडेंस, पृ. २७० पर उद्धृत।

विवाह दोनों नियमों का अनुसरण करते थे। रोमन विधि की सेनार्ट और कोवलेवस्की की व्याख्या के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समान उत्पत्ति वाली कन्या से विवाह करना चाहिए, किन्तु समान गोत्रवाली से नहीं, और एक एथेनियन पुरुष को एक एथेनियन स्त्री से ही विवाह करना चाहिए, किन्तु समान गोत्र से नहीं। भारत में ये नियम इस रूप में प्रचलित हैं कि किसी भी व्यक्ति को अपने गोत्र के भीतर तथा जाति या वर्ण के बाहर विवाह नहीं करना चाहिए।'[1]

(अ) असगोत्र विवाह—असगोत्रता का प्रतिबन्ध केवल भारत में ही नहीं, अपितु संसार के अन्य भागों में भी प्रचलित है। यह बर्बर, असभ्य, अर्ध-सभ्य तथा सभ्य जनों में व्यवहृत है। जिन जनों में गोत्र-व्यवस्था नहीं है, वहाँ टोटम (धार्मिक चिह्न) उसका कार्य करता है तथा एक समुदाय को दूसरे समुदाय से पृथक् करता है। इस प्रतिबन्ध का उदय रहस्य से आच्छन्न है। अनेक विद्वानों ने इसके उदय के स्पष्टीकरण के लिए विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया है।

इन सिद्धान्तों का हम संक्षेप में इस प्रकार उल्लेख कर सकते हैं। एक सिद्धान्त के अनुसार असगोत्र विवाह की प्रथा का उदय आदिम काल में कन्याओं की न्यूनता के कारण हुआ।[2] एक अन्य मत के अनुसार जन के अन्दर यौन-स्वेच्छाचार को रोकने के लिए असगोत्र विवाह का प्रचलन हुआ।[3] कतिपय अन्य विद्वानों के अनुसार इस प्रथा के उदय का कारण साथ-साथ पाले-पोसे हुए व्यक्तियों में परस्पर यौन आकर्षण का अभाव था।[4] एक अन्य सम्प्रदाय के अनुसार आरम्भिक काल में परिवार का प्रमुख परिवार की युवती कन्याओं को स्वयम् अपने लिए सुरक्षित रखना चाहता था। अत उसकी ईर्ष्या के फल-स्वरूप जन के युवकों को जन के बाहर विवाह करने के लिए बाध्य होना पड़ा: आरम्भ में जो आवश्यकता थी, वही आगे चलकर एक ऐच्छिक प्रथा हो गयी।[5]

---

(१) वैदिक इन्डेक्स, २. २६८।

(२) आइ. एफ. मैक लेनन, स्टडीज़ इन् एशियेन्ट हिस्ट्री, १, पृ ९०।

(३) एल एच मॉर्गन, एंशियेन्ट सोसाइटी, पृ. २४; फ्रेज़र टोटेमिज्म एण्ड एक्सोगेमी, १, पृ. १६४ और आगे।

(४) वेस्टमार्क, ह्यूमैन मैरेज, १४–१६; क्रॉले, दि मिस्टिक रोज, पृ. २२२।

(५) जे. जे. एट्किन्सन, प्राइम लॉ।

कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार असगोत्र विवाह की प्रथा का मूल टोटम (धार्मिक चिह्न) में था। अपने जन का रक्त पवित्र समझा जाता था तथा उसकी दिव्यता को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने अपने समान धर्म-चिह्न धारण करनेवालों में यौनसम्बन्ध का निषेध किया।[1]

किन्तु उक्त मत स्वतः पर्याप्त व निर्णयात्मक नहीं प्रतीत होते। यदि प्रथम सिद्धान्त को ही लिया जाय, तो यह स्वीकार करने पर भी कि प्राचीन काल में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या कम थी, तो भी स्त्रियों की अल्पता अपने जन में विवाह करने वाले प्रत्येक युवक के मार्ग में बाधक नहीं हो सकती थी। जहाँ तक दूसरे मत का प्रश्न है, हम इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि जन की नैतिकता के विकास की इस विचारपूर्ण योजना का श्रेय असभ्यों व जंगली लोगों को देना तर्कसङ्गत नहीं प्रतीत होता। तीसरा सिद्धान्त तथ्यों का यथाक्रम विचार नहीं करता। यौन आकर्षण का अभाव उक्त निषेध का कारण नहीं, परिणाम है। उदाहरणार्थ, पशुओं में निषेध की यह प्रवृत्ति नहीं पायी जाती, और आज भी भारत के अनेक धार्मिक उत्सवों व आमोद-प्रमोदों में एक ही जन के अन्दर यौन सम्बन्ध में भी किसी प्रकार के सङ्कोच या बुराई का अनुभव नहीं किया जाता। पैतृक अत्याचार तथा दमन का चतुर्थ सिद्धान्त पशु-समूहों से उधार लिया गया है, जहाँ सबसे अधिक बल-सम्पन्न पुरुष-पशु अन्य छोटे पशुओं को स्त्री-पशुओं से दूर भगा देता है। किन्तु क्या प्रमुख पशु नवागन्तुकों पर भी अधिकार नहीं कर सकता? अतः असगोत्र विवाह के उदय के विषय में यथार्थ ज्ञान के लिए हमें कहीं अन्यत्र देखना होगा। धर्मचिह्न की पवित्रता के सिद्धान्त की भी तथ्यों से पुष्टि नहीं होती। यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि असगोत्र विवाह की प्रथा के उदय के समय धर्मचिह्न को ईश्वरीय समझा जाता था। इसके अतिरिक्त जन के सदस्य परस्पर मित्र व समान समझे जाते थे, न कि देवता। इस स्थिति में जन के रक्त को इतना पवित्र नहीं समझा जाता था कि उससे यौन-सम्बन्ध न स्थापित किया जाय।

असगोत्र विवाह की प्रथा के उदय के अधिक सम्भव कारण इस प्रकार प्रतीत होते हैं। जन के युवक सदस्य भोजन की खोज में दूर-दूर तक चले जाते थे और

---

(१) दुर्खाइम, एन्नी सोशियोलॅजिक, १, १–७०।

परिणामस्वरूप स्वभावतः ही वे नये जन के सम्पर्क में आते थे। अपने नये वातावरण तथा पड़ोस में पत्नियाँ ढूँढ़ने के लिए बाध्य होकर उन्होंने असगोत्र विवाह का अभ्यास डाल लिया होगा, जो धीरे-धीरे एक चलन हो गया और पवित्र समझा जाने लगा। प्रतीत होता है कि असगोत्र विवाह के विकास में कुछ सीमा तक हरण-विवाह (राक्षस) भी सहायक हुआ होगा। प्राचीन काल में लड़ाकू जन युद्ध में स्त्रियों को भी लूट करते थे और उन्हें अपनी पत्नी बना लेते थे। शनैः-शनैः यह अभ्यास प्रवृत्ति में परिणत हो गया तथा सभ्यता के उदय के पश्चात् भी बाहर विवाह करने की यह प्रथा चलती रही, यद्यपि युद्ध का स्थान विचार विनिमय और समझौते ने तथा जन-सेना का स्थान बारात ने ले लिया। परिवार से ईर्ष्या व कलह को दूर करने के लिए भी असगोत्र विवाह का प्रचलन जारी किया गया होगा। जब परिवार में विवाह करना वर्जित नहीं था, तो यह सम्भव था कि एक ही स्त्री की ओर अनेक युवक आकर्षित होते और यदा-कदा उनमें संघर्ष भी हो जाता। इस सङ्कट को रोकने के लिए परिवार के प्रमुख ने युवकों का विवाह परिवार के बाहर करने का विचार किया होगा। अनुभव से भी यह शिक्षा प्राप्त हुई कि एक ही परिवार या जन के भीतर विवाह वांछनीय नहीं है, क्योंकि यह जाति को शारीरिक ह्रास की ओर ले जाता है। डार्विन लिखते हैं कि 'दीर्घकाल तक अन्त-प्रजनन का परिणाम, जैसा कि साधारणतः समझा जाता है, आकार व शारीरिक ढाँचे तथा प्रजनन शक्ति का ह्रास और यदा-कदा आकृति के विकार की प्रवृत्ति होती है[1]।' इस प्रकार जातीय प्रजनन शास्त्र की दृष्टि से जन के बाहर विवाह करना लाभकर था। किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि असगोत्र विवाह की प्रथा के मूल में कोई एक ही कारण था। विभिन्न स्थानों तथा परिस्थितियों में इस प्रथा के कारण भी निश्चय ही अनेक रहे होंगे और आज उनके विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना असम्भव है।

यह कहना कठिन है कि उक्त कारण भारतीय आर्यों के विषय में कहाँ तक लागू होते हैं, जो इतिहास के उदय-काल में सभ्यता की दृष्टि से पर्याप्त उन्नत थे। यह भी महान् आश्चर्य का विषय है कि भारतीय आर्यों में यह संस्था एकाएक किस प्रकार अस्तित्व में आ गई। अन्य भारोपीय जातियों में

(१) वेरियेशन ऑव् ऐनिमल्स एण्ड प्लाण्ट्स अण्डर डोमेस्टिकेशन, लन्दन, १८६८।

आज उक्त निषेध कहीं भी प्रचलित नहीं है। इस प्रथा का सम्भव कारण आर्यों का उन आर्येतरों के साथ सम्पर्क तथा उनका आर्यों में विलय था, जिनमें अन्य अनेक जनों की भाँति उक्त प्रथा का पालन कठोरतापूर्वक किया जाता था।

आधुनिक अर्थ में गोत्र शब्द का प्रयोग वेदों में नहीं मिलता, यद्यपि वहां गोष्ठ या गोशाला के लिये गोत्र शब्द का व्यवहार किया गया है।[1] पारिभाषिक अर्थ में इस शब्द का प्राचीनतम उल्लेख छान्दोग्य-उपनिषद् के उस प्रकरण में प्राप्त होता है, जहां सत्यकाम जाबालि का आचार्य उससे अपना गोत्र पूछता है।[2] बौद्ध तथा जैन साहित्य और मानव, वसिष्ठ, गौतम आदि धर्मसूत्रों में गोत्रों का प्रचुर प्रयोग प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के समय तक गोत्र-संस्था पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

किन्तु 'कुल' अथवा परिवार का विचार वैदिक काल में भी था। जहां तक कि निकट सम्बन्धियों के साथ विवाह के निषेध का सम्बन्ध है, ऋग्वेद में हमें यम और यमी के बीच एक सजीव वाद-विवाद का उल्लेख मिलता है,[3] जिससे विदित होता है कि भले ही आरम्भिक काल में निकट सम्बन्धियों के साथ विवाह प्रचलित रहे हों, किन्तु उत्तर वैदिक काल में वे समाज से उठते जा रहे थे। इस प्रकार के विवाह के विरोध में यम द्वारा दिये हुए नैतिक कारण से किसी प्रकार की घृणा अथवा भय का सङ्केत नहीं मिलता। किन्तु उक्त पारिवारिक या कुल-सम्बन्धी निषेध भी बहुत दूर तक नहीं जाता था। शतपथ ब्राह्मण के एक वाक्य में तीसरी या चौथी पीढ़ी में भाइयों और बहिनों के विवाह का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है।[4] शतपथ-ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी उक्त वाक्य पर भाष्य करते हुए उदाहरण के रूप में कहते हैं कि एक कण्व ने तीसरी पीढ़ी में एक लड़की के साथ विवाह किया था। सौराष्ट्र में चौथी पीढ़ी में विवाह के अनेक उदाहरण हैं। वैदिक काल में सपिण्ड विवाह का निषेध प्रचलित नहीं प्रतीत होता। खैलिक ऋचा (८) में इन्द्र की इस रूप

---

(१) रॉथ का उद्धरण, वैदिक इंडेक्स, १, पृ. २३५, २३६, २४०।

(२) ४. ४. १। (३) १०. १०।

(४) इदं हि चतुर्थे पुरुषे तृतीये सङ्गच्छामहे १. ८. ३. ६।

में आराधना की गई है, जिससे ज्ञात होता है कि ममेरी तथा फुफेरी बहनों के साथ विवाह हो सकता था।[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः सभी उपयोगी विषयों की चर्चा स्थान-स्थान पर मिलती है किन्तु उनमें गोत्र-संस्था का एक भी उल्लेख नहीं है। यद्यपि यह एक नकारात्मक प्रमाण है, किन्तु अन्य तथ्यों से सहकृत होकर यह अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठता है : वैदिक कर्मकाण्ड गोत्र से सम्बद्ध नहीं हैं। यज्ञ करने वाले केवल उन्हीं ऋचाओं का उच्चारण नहीं करते, जिनकी रचना उनके गोत्र-कृत् महर्षियों ने की हो। केवल आप्री ऋचाएं ही इसका एकमात्र अपवाद हैं, किन्तु यह विचार केवल श्रौत सूत्रों का ही है और यजुर्वेद में ऐसे किसी प्रतिबन्ध का उल्लेख नहीं है। इस प्रकार धार्मिक क्रियाओं व संस्कारों के सम्बन्ध में गोत्र पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था।

सप्रवर विवाह का निषेध सर्वप्रथम गृह्यसूत्रों में ही प्राप्त होता है, किन्तु उनमें इसी के समान सगोत्र विवाह का निषेध नहीं किया गया है। आपस्तम्ब, कौशिक, बौधायन और पारस्कर सभी प्रवर का निषेध करते हैं, गोत्र का नहीं।[2] किन्तु धर्मसूत्रों के समय से सगोत्र तथा सपिण्ड विवाह निषिद्ध हो गये। वसिष्ठ सगोत्र विवाह का निषेध करते हैं।[3] पर गोत्र का दायरा अभी भी बहुत सीमित था और पिता की सातवीं तथा माता की पांचवीं पीढ़ी के बाहर विवाह हो सकता था। किन्तु आपस्तम्ब गृह्यसूत्र ३.१० के अनुसार गोत्र की सीमा अधिक व्यापक हो गयी थी। वह बहुत दूर तक जा सकती थी तथा पिता की सातवीं पीढ़ी तक ही सीमित नहीं थी।

असगोत्र विवाह की प्रथा ईस्वी सन् के आरम्भ के पश्चात् स्थापित प्रतीत होती है। प्रायः सभी छन्दोबद्ध स्मृतियां सगोत्र विवाह को पूर्णतः अवैध घोषित करती हैं। न तो ऐसे विवाह और न इनसे उत्पन्न सन्तान ही वैध माने जा सकते थे।[4] किन्तु अभी तक सगोत्र कन्या से विवाह के विषय में कुछ ढिलाई

---

(१) आयाहीन्द्र पथिभिरीळितोऽस्मि यज्ञमिमं नो भागधेयं जुषस्व।
तृप्ता जहुर्मातुलस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वपामिव॥

(२) केशवकृत गोत्रप्रवरमञ्जरी। (३) व. ध. सू.।

(४) असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥ म. स्मृ. ३.५।

थी। एक स्मृति सगोत्र कन्या से विवाह करने पर उस कन्या के त्याग तथा केवल चान्द्रायण व्रत के अनुष्ठान का विधान करती है[1] जब कि परवर्ती काल में इस प्रकार का विवाह अवैध हो गया और उसके लिए अत्यन्त कठोर दण्ड का विधान कर दिया गया।

परवर्ती धर्मशास्त्र-प्रणेता सगोत्र तथा सपिण्ड विवाह का घोर विरोध करते हैं। उन्होंने न केवल ऐसे विवाहों का निषेध ही किया अपि तु उनके विरोध में जाने वाले अनेक प्राचीन वचनों की अपने मत के अनुकूल व्याख्या करने का यत्न किया। उदाहरण के लिए, वे कहते हैं कि खैलिक ऋचा में इन्द्र का उद्बोधन विधि नहीं, अर्थवाद है; यदि यह विधि होता, तो अगम्या-गमन भी मान्य हो जाता। वे आगे कहते हैं कि उक्त ऋचा में असजातीय विवाहों से उत्पन्न शिशुओं का उल्लेख है। कतिपय धर्मशास्त्रकार अपनी प्रतिभा का परिचय देते हुए कहते हैं कि 'ममेरी' और 'फुफेरी' का अभिप्राय मामा या बुआ की लड़की से नहीं है; उसका तात्पर्य तो मातृसदृशमुखी तथा पितृसदृश-मुखी अर्थात् उन कन्याओं से है जिनका मुख माता या पिता के सदृश हो। वीरमित्रोदय[2] और स्मृति-चन्द्रिकाकार[3] कुछ अधिक दृढतापूर्वक कहते हैं कि 'उक्त ऋचा का उदाहरण अनुसरणीय नहीं है' (दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः)। ये लेखक ऐसे समय में हुए, जब सगोत्र और सपिण्ड विवाह समाज में पूर्णतः अव्यवहृत हो चुके थे। इस संस्था को अति प्राचीनता देने के लिए उन्होंने ऐसे वचनों की अपने अनुकूल व्याख्या करने का प्रयत्न किया, जो उनके मार्ग में रोड़े थे। अपरार्क ने एक दूसरी ही युक्ति निकाली। वह उक्त ऋचा का पूर्णतः भिन्न अर्थ करते हैं 'हे इन्द्र, अपने भक्तों द्वारा आमन्त्रित होकर तुम इस यज्ञ में आओ तथा अपना भाग स्वीकार करो। हम वपा की आहुति उतनी ही अनिच्छापूर्वक देते हैं, जितनी मातुलयोषा (मामा की लड़की) और पैतृष्वसेयी (बुआ की लड़की) स्वयम् ग्रहण करने की थोड़ी सी भी इच्छा के बिना ही

---

(१) परिणीय सगोत्रां तु समानप्रवरां तथा।
त्यागं कुर्याद् द्विजस्तस्यास्ततश्चान्द्रायणं चरेत् ॥
पा. गृ. सू. १. ४–८ पर गदाधर द्वारा उद्धृत।

(२) वीरमित्रोदय, भा. २।

(३) संस्कारचन्द्रिका, विवाह प्रकरण।

विवाह में दी जाती है।[1] यह ब्रह्मपुराण का एक वचन उद्धृत करते हैं, जिसमें सगोत्र विवाह का गो-वध के साथ कलिवर्ज्य के रूप में निषेध किया गया है। इससे स्पष्ट है कि टीकाकारों और निबन्धकारों के समय में सगोत्र-विवाह पूर्ण-रूप से निषिद्ध हो चुका था। उस समय से हिन्दू समाज में इस प्रतिबन्ध का कठोरतापूर्वक अनुसरण किया जा रहा है। सगोत्रविवाह की छूट देनेवाला आधुनिक [हिन्दू संहिता विधेयक] 'हिन्दू कोड बिल' इस प्रथा को कहाँ तक प्रभावित करेगा, कहना कठिन है।

(आ) जिस प्रकार हिन्दुओं में असगोत्र विवाह के नियम का कठोरता-पूर्वक पालन किया जाता रहा है, उसी प्रकार सवर्ण-विवाह भी उनकी एक सुप्रतिष्ठित संस्था है। सभी स्मृतियां एक स्वर से यह विधान करती हैं कि द्विज को अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह करना चाहिए।[2] यह स्वाभाविक ही है और अति प्राचीन काल में भी साधारणतः यह नियम प्रचलित रहा होगा, किन्तु उस समय इसका कठोरतापूर्वक पालन करना सम्भव नहीं था, क्योंकि जातिप्रथा अभी तक तब तथा अचल नहीं हो सकी थी।

(इ) अनुलोम विवाह : वैदिक काल में अन्तर्जातीय विवाह बहुत सरल थे। यह समझना कठिन है कि यदि अन्तर्जातीय विवाह का किसी भी प्रकार का यथार्थ निषेध था तो उत्सवों, समाजों और व्यक्तिगत रूप से परस्पर मिलने-जुलने की स्वतन्त्रता युवकों और युवतियों को कैसे दी जा सकती थी। अन्तर्जातीय विवाह साधारणतः अनुलोम विवाह का रूप ले लिया करते थे। ऋग्वेद कालीन पुरोहित वर्ग के पुरुषों के विषय में प्रायः यह कहा गया है कि उन्होंने राजवंशों में विवाह किया, जैसा कि च्यवन, श्यावाश्व या विमद ने किया।[3] सम्भवतः अनुलोम विवाह के उदाहरणों के अपेक्षाकृत आधिक्य का कारण यह है कि प्राचीन साहित्य को साधारणतः ब्राह्मणों ने ही सुरक्षित रखा, जिन्होंने जान बूझ कर ब्राह्मण-कन्याओं के साथ ब्राह्मणेतरों के विवाह के उदाहरणों की उपेक्षा कर दी। तथापि ऐसे विवाहों के कुछ उदाहरण उपलब्ध हैं। उदाह-

(१) या. स्मृ १. ५५ पर अपरार्क का भाष्य।
(२) उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्। म. स्मृ. ३. ४।
(३) ऋ. वे. १. ११२. १९; ११६. १, ११७. २०; १०. ३९।

रणार्थ, क्षत्रिय स्वनय भावयव्य की प्रिय पत्नी एक आङ्गिरसी ब्राह्मण-कन्या थी।[1]

अथर्ववेद, ५. १७. ८, ९ में ब्राह्मण को सभी वर्णों की कन्याओं के श्रेष्ठतम पति होने का गौरव प्रदान किया गया है, यद्यपि उसी मन्त्र से यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि ब्राह्मण-स्त्रियों के विचार कभी-कभी इसके विपरीत होते थे, और उन्हें राजकीय सहायता द्वारा ही अन्य वर्ण के लोगों से पुनः प्राप्त किया जाता था। प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थ वैदिपुत्रों से परिचित हैं।[2] यजुर्वेद से ज्ञात होता है कि शूद्र कन्या के साथ आर्य पुरुष के सम्बन्ध की कभी-कभी राजसभाओं और पुरोहित-वर्ग में हंसी उड़ाई जाती थी।[3] ऐसे विवाह उस समय विधिक दृष्टि से वैध तथा समाज में प्रचलित रहे होंगे, और औशिज, कवष, वत्स आदि महान् व्यक्ति दासी या शूद्रा स्त्रियों से उत्पन्न हुए थे।[4] वैदिक साहित्य में दास की अपेक्षाकृत दासी शब्द के प्रचुर व्यवहार से प्रतीत होता है कि पड़ोसी जनों के पराजय और उन पर आधिपत्य के परिणाम-स्वरूप दासियां अपने आर्य विजेताओं के सम्पर्क में आईं, और इस प्रकार दासी-पुत्र समाज में अत्यन्त सामान्य हो गये।

(ई) प्रतिलोम: वैदिक साहित्य में शूद्र-आर्य विवाह के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। एक यजुर्वेद संहिता में 'अयोगु' शब्द का उल्लेख आता है,[5] और यदि उसका सम्बन्ध परवर्ती 'आयोगव' के साथ स्थापित कर दिया जाए, तो उसका तात्पर्य शूद्र के साथ विवाहित एक अर्य (वैश्य) स्त्री से होगा।[6] वैदिक मन्त्र की इस व्याख्या का समर्थन आश्वलायन गृह्यसूत्र में सुरक्षित एक प्राचीन परम्परा से भी होता है जिसके अनुसार परिवार का दास भी विधवा के देवर के समान ही अपने स्वामी की विधवा स्त्री के साथ विवाह कर सकता था।[7]

---

(१) वही, १. १२६।

(२) तै. ब्रा. ३. ९. ७. ३; शत. ब्रा. १३. २।

(३) वा. सं. १३. ३०. ३१; तै. सं. ७. ४. १९. २-३।

(४) ऋ. वे. १. १८. १; १. ११२. २; प. ब्रा. १४. ११. १६।

(५) यजु. सं. ३०. ५।

(६) शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम्।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसङ्कराः॥ म. स्मृ. १०. १२।

(७) ४. २. १८।

यजुर्वेद संहिता में अन्यत्र भी ऐसे कुछ उदाहरण मिलते हैं, जिनसे प्राचीन काल में इस प्रकार के मिश्रण व सङ्कर के आरम्भ का ज्ञान होता है। अथर्ववेद में प्रतिस्पर्धी प्रेमी या दास उपपति के विरुद्ध निरी शारीरिक शक्ति द्वारा अपनी पत्नी का प्रेम पुनः पाने के लिए एक टोटके का वर्णन किया गया है।[1]

इस प्रकार उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह वैदिक काल में ज्ञात थे तथा समाज उन्हें अमान्य नहीं समझता था, भले ही वे अत्यधिक प्रचलित न रहे हों।

(ङ) अन्तर्जातीय विवाह का परवर्ती इतिहास—आगे चलकर अन्तर्जातीय विवाह किसी प्रकार सहन तो कर लिया जाता था, किन्तु उसे प्रोत्साहन प्राप्त न था। गृह्यसूत्रों के समय में सामान्य नियम था समानवर्ण की कन्या से विवाह करना। किन्तु अनुलोम विवाह अभी तक धर्मशास्त्रों में मान्य तथा समाज-स्वीकृत था, यद्यपि सामान्यतः शूद्रा स्त्री पसन्द नहीं की जाती थी। पारासर लिखते हैं, 'ब्राह्मण की तीन पत्नियाँ हो सकती हैं, क्षत्रिय की दो और वैश्य की एक। कतिपय लेखकों के अनुसार उक्त सभी वर्णों के लोग एक शूद्रा स्त्री से भी वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के बिना विवाह कर सकते हैं[2]।' धर्मसूत्र तथा पूर्ववर्ती स्मृतियाँ सभी निम्न वर्ण की एक कन्या से विवाह की अनुमति देते हैं, यद्यपि ऐसे उदाहरण अधिक न थे और न वे आदर की ही दृष्टि से देखे जाते थे। मनु कहते हैं 'द्विजातियों में विवाह के लिए समानवर्ण की कन्या प्रशस्त है। किन्तु कामुकता की ओर प्रवृत्त पुरुष अपना विवाह क्रमशः निम्नतर (अवर) वर्ण की कन्याओं से भी कर सकते हैं[3]।' उक्त सभी धर्मशास्त्र उच्चवर्ण की कन्या के साथ निम्न वर्ण के पुरुष के विवाह के विरुद्ध हैं।

स्मृति-साहित्य से अन्तर्जातीय विवाह की समस्या पर कुछ अप्रत्यक्ष प्रकाश भी पड़ता है। धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में विभिन्न वर्ण के सम्बन्धियों की मृत्यु के लिए अशौच की व्यवस्था की गयी है, जिससे परोक्ष रूप से अन्तर्जातीय विवाहों का अस्तित्व सिद्ध होता है। सम्पत्ति के 'विभाग' में विभिन्न वर्ण की

(१) अ. वे २. ५. ६। (२) १. ४. ९-१२।
(३) सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः ॥ म. स्मृ. ३. १२।

माताओं से उत्पन्न पुत्र अपना भाग प्राप्त करते है। यहाँ भी धर्मशास्त्र अन्तर्जातीय विवाह की सम्भावना पर विचार करता है। ब्रह्मचारी को अपने आचार्य अथवा गुरु की निम्न वर्ण की पत्नियों के चरणों का स्पर्श न कर उन्हें दूर से ही प्रणाम करने का निर्देश दिया गया है। यह यहाँ पहले से ही मान लिया गया है कि गुरु विभिन्न वर्ण की स्त्रियों से विवाह कर सकते थे तथा इससे उनके सम्मान और प्रतिष्ठा को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती थी। विजातीय पुत्र दत्तक के रूप में गोद भी लिया जा सकता था। उक्त सभी तथ्य परोक्ष रूप से अन्तर्जातीय विवाह के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।

भारतीय इतिहास के मध्ययुग में अन्तर्जातीय विवाहों का प्रचलन संस्कृत-साहित्य तथा अभिलेखों में प्राप्त उदाहरणों से सिद्ध हो जाता है। महाकवि बाण के दो पारशव भाई थे, जो उसकी शूद्रा सौतेली माता से उत्पन्न हुए थे।[1] कविवर राजशेखर की पत्नी कवयित्री अवन्तिसुन्दरी क्षत्रिय-कन्या थी।[2] काश्मीरी कवि कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी में एक ब्राह्मण के साथ संग्रामराज की बहन के विवाह का वर्णन किया है।[3] कथा-सरित्सागर में अन्तर्जातीय विवाहों के उदाहरण प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं।[4] एक राजा अपने सेनापति को अपनी कन्या के लिए ब्राह्मण या क्षत्रिय पति ढूंढने के लिए कहता है। अनङ्गमती के स्वयंवर में विभिन्न वर्ण के पुरुषों का भाग लेना विभिन्न वर्णों के मध्य विवाह की सम्भावना की ओर सङ्केत करता है। पुनश्च, हम एक ब्राह्मण को क्षत्रिय-कन्या के साथ विवाह करते हुए पाते हैं तथा उस सम्बन्ध में निहित भावनाओं को देखने पर इसमें सन्देह के लिए स्थान नहीं रह जाता कि इस प्रकार के विवाह अभी तक वांछनीय समझे जाते थे। 'राजकुमारी और ब्राह्मण-कुमार का विवाह उसी प्रकार एक दूसरे की शोभा का वर्धक हुआ, जिस प्रकार विद्या और विनय का सङ्गम[5]।' जोधपुर के बाउक के अभिलेख में प्रतिहार-वंश के संस्थापक की उत्पत्ति एक ब्राह्मण पुरुष हरिश्चन्द्र तथा एक क्षत्रिय कन्या भद्रा

---

(१) हर्षचरित. १। (२) काव्यमीमांसा १।
(३) ७. १०-१२। (४) १८. २. ६५।
(५) तयोस्तु सोऽभूद्राजेन्द्रपुत्री विप्रेन्द्रपुत्रयोः।
सङ्गमोऽन्योन्यशोभायै विद्याविनययोरिव ॥ कथासरित्सागर, २५. १७१

के विवाह से वर्णित कीगई है।[1] वाकाटक हस्तिभोज के एक अभिलेख के अनुसार सोमदेव नामक एक ब्राह्मण ने एक क्षत्रिय-कन्या के साथ श्रुति और स्मृति के अनुसार विवाह किया।[2] ईस्वी सन् की प्रथम सहस्राब्दी में यह स्थिति थी। यह प्रथा 'श्रुतिस्मृति-विहित' समझी जाती थी। उक्त उदाहरण आकस्मिक होने के कारण बहुमूल्य है। पुराणों में भी अन्तर्जातीय विवाह का परिगणन कलिवर्ज्य की सूची में नहीं किया गया। मिताक्षरा[3] और दायभाग दोनों अन्तर्जातीय विवाह को वैध मानते हैं। प्रतिलोम विवाह के उदाहरण अत्यन्त दुर्लभ हैं तथा साहित्य में उनकी चर्चा नहीं के बराबर है।

(ऊ) अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध—किन्तु एक ऐसा समय आया जब अन्तर्जातीय विवाह निरुत्साहित ही नहीं पूर्णतः निषिद्ध कर दिये गये। मनुस्मृति के काल में भी शूद्रा स्त्री के साथ विवाह निन्दनीय समझा जाता था।[4] परवर्ती स्मृतियाँ एक स्वर से शूद्रा स्त्री के साथ विवाह को निषिद्ध ठहरातीं तथा उससे विवाह करने वाले व्यक्ति के सामाजिक बहिष्कार का विधान करती हैं। इस प्रकार के व्यक्ति को नरक के भय से आतङ्कित किया जाता था। धीरे-धीरे कालक्रम से यही घृणा तथा अरुचि उच्च तीन वर्णों में परस्पर विवाह के प्रति भी उत्पन्न हो गयी। मनु अन्तर्जातीय विवाहों को कामसम्भव कहते हैं[5] तथा आगे चलकर वर्णसङ्करता के काल्पनिक सिद्धान्त का विकास करते हैं, जिसमें अन्तर्जातीय विवाह से उत्पन्न सन्तान को निम्न स्थान दिया गया है।[6] इस प्रवृत्ति का तर्कसङ्गत परिणाम यह हुआ कि कोई भी व्यक्ति अब अपने वर्ण के बाहर विवाह नहीं कर सकता था और यह प्रक्रिया अब पूर्ण हो चुकी है।

---

(१) एपिग्राफिया इंडिका जिल्द १८ पृ ८७।
(२) आर्के सर्वे. वे इं. जिल्द ४ पृ. १४०।
(३) २.१२२।
(४) हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम्॥ ३.१५।
शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते॥ ३.१७।
(५) ३.१२। (६) म. स्मृ. १०।

सम्प्रति, वैश्यों और शूद्रों में विवाह-सम्बन्ध के विषय में केवल वर्ण-भेद का ही नहीं उपजाति-भेद का भी पालन किया जाता है।

अपने ही वर्ण में विवाह के परिसीमन के लिए विभिन्न कारण उत्तरदायी थे। सर्वप्रथम जाति-मिश्रण की समस्या थी। संस्कृति तथा वर्णभेद के कारण पुरुष तथा स्त्रियाँ निम्न जाति से पत्नी या पति के चुनाव में हिचकिचाहट का अनुभव करते थे। आर्य-शूद्र विवाह के निषेध के मूल में यही भावना निहित थी। जाति-प्रथा की कठोरता बढ़ने के साथ-साथ द्विजवर्णों में भी-परस्पर विवाह बन्द हो गये, क्योंकि उनके जीवन के स्तर एक दूसरे से भिन्न थे। किन्तु जीवन व रहन-सहन के स्तर के अतिरिक्त, जन्म को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण उत्पन्न जातिगत-उच्चता की भावना भी अन्तर्जातीय विवाहों के निरोध में सहायक हुई। किन्तु आधुनिक शिक्षा के प्रभाव के कारण अन्तर्जातीय तथा अन्तर्धार्मिक विवाहों का पुनरुज्जीवन हो रहा है। नवपारित [हिन्दू संहिता विधेयक] 'हिन्दू कोड बिल' इस प्रवृत्ति की ओर प्रोत्साहन देना।

(ए) कुल-परीक्षा—वर्ण आदि के विचार के अतिरिक्त उस विशिष्ट वंश या परिवार की भी पूर्णतः परीक्षा की जाती थी, जिसके साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाना होता था। आश्वलायन-गृह्यसूत्र के अनुसार 'सर्वप्रथम माता और पिता दोनों की ओर से कुल की परीक्षा करनी चाहिए[1]।' मनु कहते हैं 'उत्तम कुल के पुरुषों को अपने कुल को उत्कर्ष की ओर ले जाने के लिए सदा उत्तम कुलों से ही सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए, तथा अधम कुलों का दूर से ही त्याग करना चाहिए[2]।' परवर्ती काल में कुल का महत्त्व इतना बढ़ गया कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाने लगा कि कन्या विवाह में कुल को दी जाती है, व्यक्ति को नहीं। कम से कम ब्राह्मणों के विषय में तो उनके कुल पर ही विचार किया जाता था। कुल की तुलना में विद्या की भी उपेक्षा कर दी जाती थी। विष्णु के अनुसार 'ब्राह्मण का केवल कुल ही देखना चाहिए, उसके वेद या विद्या नहीं। कन्यादान तथा श्राद्ध में

---

(१) कुलमग्रे परीक्षेत मातृतः पितृतश्चेति। १. ५।

(२) उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सदा।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत्॥
वीरमित्रोदय, २, पृ. ५८७ पर उद्धृत।

विद्वत्ता तथा ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं है[१]।' याज्ञवल्क्य ने 'कुलीनता' की व्याख्या इस प्रकार की है : 'दस पीढ़ियों (पुरुष) से विख्यात श्रोत्रियों का कुल' ही श्रेष्ठ है[२]।' इस पर टीका करते हुए विज्ञानेश्वर कहते हैं : 'वह कुल श्रेष्ठ माना जाता है, जो माता तथा पिता, दोनों की ओर से पाँच-पाँच पीढ़ियों से अपनी विद्या तथा चरित्र के लिए विख्यात हो[३]।'

वे कुल सर्वोत्तम माने जाते थे जो अपनी उत्तम कृति, विद्या तथा चरित्र और नैतिकता के लिए प्रसिद्ध होते थे। 'सदा उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए जो श्रुति-स्मृति-विहित कार्यों के करने के लिए विख्यात हों, जो उत्तम कुलों में उत्पन्न हुए हों तथा अविच्छिन्न रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे हों, जो स्वयं उत्तम कुलों से सम्बन्धित हों, तथा समाज में सर्वोच्चता प्राप्त कर चुके हों, जो सन्तुष्ट, नम्र, धार्मिक तथा कर्तव्याकर्तव्य का विवेक कर सकते हों; जो लोभ, क्रोध, राग, ईर्ष्या, अभिमान और मोह से मुक्त हों तथा जिनका मन सदा शान्त हो[४]।'

नैतिक तथा भौतिक कारणों से अनेक कुल निषिद्ध थे। मनु के अनुसार 'विवाह-सम्बन्ध में अधोलिखित दस कुल, भले ही वे कितने ही ऐश्वर्य-सम्पन्न क्यों न हों, वर्जनीय हैं। वे इस प्रकार हैं : उत्तम क्रियाओं से हीन, पुरुष सन्तति से रहित, वेद-शास्त्र आदि के पठन-पाठन की परम्परा से हीन, जिनमें स्त्री-पुरुषों के शरीर पर घने और लम्बे केश हों, अर्श (बवासीर), क्षय, मन्दाग्नि, मृगी, श्वेतकुष्ठ तथा गलित कुष्ठ से ग्रस्त[५]।' संक्रामक रोगों से ग्रस्त कुल भी वर्जित थे। यम यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ उक्त कारणों से ही चौदह प्रकार के कुलों को वर्जनीय ठहराते हैं[६]। नये वर्जनीय कुल ये हैं जिनके सदस्य

---

(१) ब्राह्मणस्य कुलं ग्राह्यं न वेदाः सपदक्रमाः।
कन्यादाने तथाश्राद्धे न विद्या तत्र कारणम्॥

वीरमित्रोदय, २, पृ. ५८५ पर उद्धृत।

(२) दशपूरुषविख्याताच्छ्रोत्रियाणां महाकुलात्। १. ५४।

(३) पुरुषा एव पूरुषाः दशभि पुरुषैः मातृतः पञ्चभि पितृत पञ्चभिर्विख्यातं यत् कुलं स्यात्।

(४) म. स्मृ. ३. ६; ३. १७। (५) वही. ३. ६।

(६) वीरमित्रोदय, भा. २, पृ. ५८ पर उद्धृत।

या तो बहुत लम्बे या ठिगने हों, बहुत श्वेत या काले हों, विकलाङ्ग या अधिकाङ्ग हों, जो अत्यन्त विलासी तथा पाण्डु आदि रोगों से ग्रस्त हों।

नैतिक दृष्टि से निम्नलिखित कुल वर्जनीय थे : 'उन कुलों का सावधानतापूर्वक त्याग करना चाहिए, जिनके सदस्य चोर, ठग, नपुंसक, नास्तिक, निन्द्य साधनों से अपनी जीविका चलानेवाले, कुरूप, सबल व्यक्तियों के साथ सदा शत्रुता रखनेवाले, राज्य के शत्रु, श्राद्ध-भोजी, कायर तथा अपमानित हों; जिनकी स्त्री सदस्याएँ या तो वन्ध्या अथवा केवल कन्या पैदा करनेवाली हों और अपने पति के वध का यत्न करती हों[1]।'

कुल की परीक्षा के विषय में इतनी अधिक सावधानी का कारण प्रधानतः प्रजनन-शास्त्रीय था। यथासम्भव श्रेष्ठतम सन्तति अभीष्ट थी और इस प्रयोजन के लिए भौतिक, बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से योग्य दम्पति अनिवार्यतः अपेक्षित थे, क्योंकि सन्तान में माता-पिता के अच्छे या बुरे गुणों का संक्रमण होता है। इस सम्बन्ध में हारीत कहते हैं : 'कुल के अनुरूप ही प्रजाएँ (सन्ततियाँ) उत्पन्न होती हैं[2]।' इसी प्रकार मनु की भी यह धारणा है कि 'सन्तान या तो माता के अथवा पिता के और या दोनों के शील को प्राप्त करती है। किन्तु दुर्योनि से उत्पन्न सन्तति अपनी प्रकृति का त्याग कदापि नहीं कर सकती[3]।' ह्रास से कुल की रक्षा के लिए वर या वधू चुनने में अत्यन्त सावधानी रखनी पड़ती थी। 'कुविवाहों, धार्मिक क्रियाओं के लोप, वेद के अनध्ययन तथा ब्राह्मणों के अतिक्रमण से उत्तम कुल भी अकुलीनता को प्राप्त हो जाते हैं[4]।' विवाह के लिए किसी विशेष कुल का चुनाव करते समय अपने पारिवारिक आनन्द

---

(१) मनु, वही।

(२) कुलानुरूपाः प्रजाः सम्भवन्ति। वही।

(३) पितुर्वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा।
न कथञ्चन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति॥ मनु, वही।

तुलनीय—

मातुलान् भजते पुत्रः कन्यका भजते पितॄन्।
यथाशीला भवेन्माता तथाशीला भवेन्नृप॥ व्यास, वही।

(४) कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च॥ म॰ स्मृ॰ ३. ६३।

पर भी ध्यान दिया जाता था, क्योंकि ऐसे विषयों में परिवार की संस्कृति, उसके रहन-सहन का स्तर आदि अत्यन्त महत्त्व रखते हैं।

११. विवाहयोग्य वय

वर्ण तथा कुल आदि के विचार के पश्चात् स्वयं वधू की परीक्षा की जाती थी। प्रथम विचारणीय विषय था उसका वय। जैसा कि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के वैवाहिक मन्त्रों से स्पष्ट है, वैदिक काल में वर-वधू इतने प्रौढ़ होते थे कि वे स्वयं किसी से विवाह का प्रस्ताव कर सकते थे अथवा किसी के द्वारा प्रार्थित हो सकते थे और अपनी स्वीकृति देने तथा अपने सहयोगी का चुनाव करने की योग्यता भी उनमें होती थी।[1] वर से यह अपेक्षा की जाती थी कि उसका अपना एक स्वतंत्र घर हो जिसकी सम्राज्ञी उसकी पत्नी हो, भले ही किसी कारणवश वर के पिता, भाई और बहनें भी घर पर क्यों न रहें और इस प्रकार घरेलू जीवन में पत्नी को सर्वोच्च स्थान दिया जाता था।[2] बाल-वधू के विषय में यह सम्भव नहीं था। वैदिक कर्मकाण्ड पहले से यह मानकर चलते हैं कि विवाहित दम्पति इतने प्रौढ़ होते थे कि वे प्रेमी, पति और पत्नी तथा शिशुओं के माता-पिता हो सकते थे।[3] प्रायः प्रत्येक कर्मकाण्ड के साथ ऐसे मन्त्र दुहराये जाते हैं जिनसे सन्तति के उत्पादन की उनकी तात्कालिक क्षमता सूचित होती है। पाणिग्रहण तथा सहवास वैदिक विवाह के अनिवार्य अङ्ग हैं। इन सब से यही सूचित होता है कि विवाह कन्या के रजो-दर्शन के पश्चात् ही होता था।

वेदों में अविवाहित कन्याओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जो अपने पिता के ही घर में बूढ़ी हो गयी थीं।[4] अपने पिता के घर में रहनेवाली कुमारियाँ ग्रामीण युवकों से घुल-मिल जाती थीं।[5] ऋग्वेद-काल में किसी भी कन्या का विवाह शैशव या यौवन की प्राप्ति के पूर्व नहीं होता था। उसके

(१) ऋ वे. १०. ८५; अ. वे १४. १, २।

(२) सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु ।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ॥ अ. वे. १४. १. ४४ ।

(३) ऋ वे. ८ ५५. ५, ८।

(४) ऋ. वे. १. ११७. ७; २. १७. ७; १०. ३९. ३।

(५) वैदिक इंडेक्स, २, पृ. ४८५।

विवाह के विषय में विचार करने के पूर्व पिता के घर में उसका पूर्ण शारीरिक विकास (पितृषदं व्यक्ता) होना आवश्यक था।[1] सूर्य की पुत्री सूर्या का विवाह सोम के साथ उसी समय किया गया था जब कि वह युवती हो चुकी थी और पति प्राप्त करने के लिए उत्सुक थी।[2] वेद की स्त्रीऋषि घोषा ने अपना विवाह उस समय किया जब कि उसका यौवन प्रायः बीत चुका था। युवक मर्य प्रायः एक प्रेमी होता था, जो युवती कुमारियों के सम्पर्क में रहता, और किसी (कन्या) का आलिङ्गन करता तो किसी (योषा) की खुशामद।[3] दूसरी ओर हम युवती कुमारियों को भी अनेक विवाहेच्छु युवकों के मध्य उनको प्रसन्न तथा आकर्षित करने के प्रयास में व्यस्त पाते हैं। स्त्रियाँ अपने विवाह की व्यवस्था स्वयं करने में निपुण व क्षम थीं। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में किसी पुरुष या स्त्री का प्रेम प्राप्त करने के लिए अनेक अभिचारों का वर्णन प्राप्त होता है।[4] एक प्रेमी चाहता है कि अपनी प्रेयसी से मिलने के लिए जाने के पूर्व उसके परिवार के सभी सदस्य सो जाएँ।[5] अथर्ववेद में एक 'कुमारीपुत्र' (माधव के अनुसार कानीन या कन्या का पुत्र) का उल्लेख मिलता है,[6] जिससे सूचित होता है कि विवाह के पूर्व भी कुमारियों के शिशु उत्पन्न हो सकते थे। उक्त तथ्यों का विश्लेषण करने पर इसमें कोई भी सन्देह नहीं रह जाता कि विवाह के पूर्व वर और वधू दोनों यौवन प्राप्त कर चुकते थे।

वैदिक काल में बालविवाह के अस्तित्व के पक्ष में केवल कुछ सन्दिग्ध उल्लेख हैं। ऋग्वेद की कुछ अश्लील ऋचाओं (१. १२६. ६–७) में वर्णित इतिहास को वैदिक काल में बालविवाह के अस्तित्व के समर्थक बहुत महत्त्व देते हैं। यहाँ प्रेम का आनन्द लेने के लिए आमन्त्रित भावयव्य अपनी पत्नी रोमशा पर, यह विश्वास करता हुआ कि अभी वह अप्रौढ़ है तथा उसके अङ्ग पूर्णतः विकसित नहीं हो सके हैं, हँसता है। इस पर रोमशा यह कहती हुई कि वह जानती है कि रजोदर्शन के पूर्व मैथुन निषिद्ध है, इसके विपरीत विश्वास

(१) ऋ. वे. १०. ८५. २१. २२। (२) वही, १०. ८५।

(३) वही, २. ३१. ७; ३३. १०; १०. ९६. २०।

(४) वही, १०. १४५; अ. वे. २. १८; २. ३०; २. ३६; ३. २५; ६. ८. आदि।

(५) अ. वे. ५. २८। (६) ५. २८।

कराने के लिए उसे निमन्त्रित करती है। उक्त उद्धरणों से साधारणतः प्रौढ कन्या के साथ विवाह के प्रचलन का ही समर्थन होता है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि उक्त आख्यान रोमशा शब्द की व्युत्पत्ति-सम्बन्धी व्यायाम का परवर्ती काल में आविष्कृत परिणाम है। बाल-विवाह का एक अन्य सम्भव (?) उदाहरण छान्दोग्य उपनिषद् के उस प्रसङ्ग में मिलता है, जिसमें एक दरिद्र ब्राह्मण अध्यापक अपनी आटिकी पत्नी के साथ भिक्षुक का जीवन व्यतीत करना स्वीकार करता है (१. १०. १)। मध्यकालीन टीकाकारों ने 'आटिकी' शब्द के अजातपयोधरा आदि काल्पनिक अर्थ किये हैं, जो केवल इस विचार के प्रति उनकी अरुचि या घृणा का ही सूचक है कि ब्राह्मण अध्यापक की युवती पत्नी स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करे। इस प्रसङ्ग में यह स्मरणीय है कि आटिकी संज्ञा नहीं, विशेषण है। इसकी एकमात्र तर्कसंगत व्याख्या हो सकती है, 'भ्रमणशील या घुमन्तू जीवन के योग्य' अर्थात् दृढ और धीर।

गृह्यसूत्रों के वैवाहिक कर्मकाण्ड से भी यही सूचित होता है कि विवाह की व्यवस्था कन्या के रजोदर्शन के पश्चात् ही की जाती थी। वैवाहिक विधि-विधानों के तुरन्त पश्चात् ही पति और पत्नी सहवास कर सकते थे। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार 'विवाहित दम्पति को तीन दिन तक लवण-क्षारयुक्त भोजन नहीं करना चाहिए, भूमि पर शयन करना चाहिए और एक वर्ष, बारह, छः या न्यूनतम तीन रात्रि पर्यन्त मैथुन नहीं करना चाहिए।'[1] अन्तिम विकल्प से वधू की प्रौढता सूचित होती है। बौधायन विवाह के अवसर पर वधू के रजस्वला होने की सम्भावना पर भी विचार करते हैं।[2] गृह्यसूत्रों के काल में द्वितीय विवाह या द्विरागमन की प्रथा नहीं थी, जिससे बाल-विवाहों का चलन न होने की सूचना मिलती है। विवाहोपरान्त वधू के पति-गृह में जाने के पश्चात् संयम-काल का निर्देश तथा निश्चित समय के व्यतीत होने के पश्चात् सहवास की आवश्यकता, दोनों ही प्रौढ कन्या की ओर सङ्केत करते हैं। यद्यपि सामान्य नियम यही था, किन्तु परवर्ती गृह्यसूत्रों में कन्याओं की विवाह-योग्य आयु घटाने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। गोभिल[3] तथा मानव-गृह्य-सूत्रकार[4] 'नग्निका' को विवाह के लिए सर्वोत्तम मानते हैं। इससे यह

(१) १. ८. २१.।
(२) ४. १. १६.।
(३) ३. १.।
(४) १. ७. १२.।

विदित होता है कि यद्यपि अधिक आयु में विवाह अभी भी प्रचलित थे, किन्तु वे अच्छे नहीं समझे जाते थे।

रामायण और महाभारत के काल में भी विवाह के समय कन्याएं प्रौढ़ होती थीं। रामायण के अनुसार नव-वधुओं ने अयोध्या पहुंच, बड़े-बूढ़ों का अभिवादन कर अपने पतियों के साथ मुदित होकर एकान्त में रमण किया।[1] इससे यह विदित होता है कि विवाह सामान्यतः रजो-दर्शन के उपरान्त ही होते थे। पुनः सीता अनसूया से कहती हैं कि 'मेरे पिता मुझे विवाह-योग्य जानकर उसी प्रकार चिन्तित हुए जिस प्रकार एक निर्धन व्यक्ति अपना वित्तनाश होने पर। दीर्घकाल के पश्चात् विश्वामित्र के साथ राघव यज्ञ (धनुष यज्ञ) को देखने आए'।[2] उपर्युक्त वक्तव्य से ज्ञात होता है कि रजो-दर्शन के पश्चात् भी कन्या दीर्घ-काल तक योग्य वर के लिए प्रतीक्षा कर सकती थी। किन्तु अरण्यकाण्ड में रावण से सीता कहती हैं कि रावण के हरण के लिए आने के समय वे अठारह वर्ष की थीं तथा उनके पति राम की आयु पच्चीस वर्ष की थी और वे विवाह के पश्चात् बारह वर्ष अयोध्या में व्यतीत कर चुके थे। इस प्रकार इस वक्तव्य के आधार पर विवाह के समय सीता केवल छः वर्ष की थीं। किन्तु यह स्मरणीय है कि विभिन्न कालों में रामायण के अनेक संस्करण हुए तथा उक्त श्लोक परवर्ती प्रक्षेप हैं, जो रजो-दर्शनोत्तर विवाह के प्रचुर उदाहरणों से असङ्गत हैं। जब भवभूति उत्तररामचरित में रामायण के उक्त श्लोकों के आधार पर सीता का बाल-वधू के रूप में चित्रण करते हैं,[3] तो वे केवल अपने युग के विचारों को ही प्रतिबिम्बित करते हैं।

रामायण के समान ही महाभारत में भी प्रौढ़ कन्याओं के विवाह के पक्ष में अनेक उदाहरण मिलते हैं। शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह का समाचार जान कर कण्व अपने भावों को इस प्रकार व्यक्त करते हैं, 'शुचिस्मिते, तुम्हारे अनेक

---

(१) अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तथा।
रेमिरे मुदिताः सर्वा भ्रातृभिः सहिता रहः॥ १. ७७. १४।

(२) पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता।
चिन्तामभ्यगमद्दीनो वित्तनाशादिवाधनः॥ १. ११९. ३४।

(३) इसके अनुसार बालिका सीता अपनी सास के सामने खेला करती थीं।
(अङ्क, १. ३७-१. २०)

ऋतुकाल वृथा हो गये; अब जाकर ये सफल हुये हैं; तुमने कोई पाप नहीं किया'।[1] उमा-महेश्वर-संवाद में ऋतु-प्राप्त कन्या विवाह के लिए उपयुक्त कही गई है। 'ऋतु के पश्चात् जो कन्या स्नान करती है, वह शुद्ध कहलाती है। पिता, भाई, माँ, मामा तथा चाचा को उसका विवाह कर देना चाहिए'।[2] परवर्ती संस्कृत महाकाव्यों में भी यही परम्परा पायी जाती है। संस्कृत नाटकों की विषय-वस्तु मुख्यतः प्रेम-प्रसङ्ग या प्रेम-विवाह हैं, जो वर-वधुओं के प्रौढ़ होने पर ही सम्भव थे।

किन्तु परवर्तीकाल में कन्याओं की विवाहयोग्य आयु निम्नतर होती चली गई। इस स्थिति को लाने में अनेक कारणों का हाथ रहा है। भारत की विजय पूर्ण हो जाने पर आर्यों का जीवन अधिकाधिक विलासपूर्ण होता गया। वे देश में सर्वोच्च तथा आश्वस्त हो गये और उन्होंने जीवन के सम्पूर्ण सुखों का उपभोग आरम्भ कर दिया। इसने उन्हें शीघ्रतर यौन जीवन की ओर उन्मुख किया। कन्याओं के वैदिक अध्ययन तथा उपनयन अप्रचलित हो जाने से गुरुकुल के ब्रह्मचर्यपूर्ण तथा अनुशासित जीवन के बन्धनों का भी अन्त हो गया। किन्तु अन्य कारणों ने भी इस प्रक्रिया में योग दिया। ई० पू० तृतीय व चतुर्थ शताब्दी से भारत पर विदेशी आक्रमण आरम्भ हो गये। यूनानियों, वाह्लीकों, पहलवों तथा शकों ने, जो भौतिक दृष्टि से सबल किन्तु भारतीयों की तुलना में कम संस्कृत थे, भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। उनमें स्त्री का स्थान अत्यन्त हीन था और उसे केवल उपभोग की एक सामग्री मात्र समझा जाता था। हिन्दुओं का सामाजिक जीवन सङ्कट में पड़ गया तथा इन विदेशी आक्रान्ताओं से प्रभावित हुआ। सम्भवतः सुरक्षा और प्रचलन दोनों कारणों से उन्होंने कन्याओं का विवाह छोटी आयु में करना आरम्भ कर दिया।

धर्मसूत्रों में, जिनकी रचना ई० पू० ५०० के पश्चात् हुई, कन्याओं की विवाहयोग्य आयु न्यूनतर करने की प्रवृत्ति स्पष्टतः लक्षित होती है। वे साधारणतः स्त्रीत्व की प्राप्ति के पूर्व ही कन्या के विवाह की आज्ञा करते हैं। किन्तु उसके संरक्षकों द्वारा उचित समय पर विवाह की व्यवस्था न करने पर

(१) ऋतवो बहवस्ते वै गता व्यर्थाः शुचिस्मिते।
सार्थकं साम्प्रतं ह्येतन्न च पाप्माऽस्ति तेऽनघे॥ म. भा. १.९४.६५।

(२) म. भा. अनु. २८६. ६।

उसे कुछ समय तक प्रतीक्षा की अनुमति देते हैं। वसिष्ठ[1] और बौधायन[2] तीन वर्ष तक तथा गौतम[3] और विष्णु[4] तीन मास तक प्रतीक्षा करने की अनुमति देते हैं। यद्यपि स्त्रीत्व की प्राप्ति या रजोदर्शन के पूर्व विवाह उन्हें अभीष्ट था, किन्तु धर्मसूत्र विलम्बित विवाहों के फलस्वरूप होनेवाले पाप के विषय में मौन हैं, और वे प्रौढ कन्या के संरक्षकों पर किसी प्रकार का लाञ्छन या दोष नहीं लगाते, जैसा कि परवर्ती धर्मशास्त्रीय साहित्य में सामान्यतः पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह प्रायः सोलह वर्ष की आयु के पूर्व हो जाते थे।

स्मृति-साहित्य में बाल-विवाह की प्रथा के विकास के विभिन्न स्तर परिलक्षित होते हैं। एक ही स्मृति में एक ओर तो ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं जिनसे प्रौढ वर-वधू के विवाह में कोई पाप या दोष प्रतीत नहीं होता और दूसरी ओर अन्य अनेक वचन बाल-विवाह का समर्थन करते हैं। इसका स्पष्टीकरण वैदिक काल के अधिक आयु में होनेवाले विवाहों से बाल-विवाह के वर्द्धमान विस्तार की ओर क्रमिक संक्रमण की कल्पना द्वारा ही संभव है।

मनु के अधोलिखित विवादपूर्ण श्लोक में विवाह के समय कन्या की प्रौढता या बाल्य की अपेक्षा इस प्रश्न को अधिक महत्त्व दिया गया है कि सवर्ण तथा सद्गुण-सम्पन्न वर के साथ ही कन्या का विवाह करना चाहिए[5]। 'पिता उत्कृष्ट, अभिरूप तथा सवर्ण वर के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दे, भले ही अभी वह विवाह के योग्य न हुई हो।' इसके विपरीत यह भी कहा गया है कि 'कन्या ऋतुमती होने पर भले ही आमरण पिता के घर में ही रहे, किन्तु गुणहीन पुरुष के साथ उसका विवाह किसी भी दशा में नहीं करना चाहिए[6]।'

---

(१) कुमारी ऋतुमती त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत। व. ध. सू. १७. ५९।

(२) त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती। बौ. ध. सू. ४. १. १४।

(३) त्रीन् कुमारी ऋतूनतीत्य स्वयं युज्येत, आदि। गौ. ध. सू. १८।

(४) विष्णु ध. सू. २४. ४१।

(५) उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ ९. ८८।

(६) काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ९. ८९।

मनुस्मृति में ही अन्यत्र कहा गया है कि 'ऋतुमती होने पर कुमारी को तीन वर्ष पर्यन्त योग्य वर की प्रतीक्षा करनी चाहिए, इसके पश्चात् उसे स्वयं सवर्ण पति के साथ विवाह कर लेना चाहिए[1]।' किन्तु यद्यपि उक्त श्लोकों में समान वर्ण से ही वर के चुनाव पर बल दिया गया है, तथापि एक ओर तो प्राग्-रजोदर्शन विवाह अपवाद के रूप में 'अप्राप्तामपि' आदि श्लोक में प्रतिबिम्बित हैं और दूसरी ओर 'त्रीणि' आदि से यह स्पष्ट रूप से सूचित होता है कि योग्य पति के न मिलने पर विवाह रजोदर्शन के पश्चात् भी रोका जा सकता था तथा दीर्घकाल के पश्चात् भी हो सकता था। और जब कुछ ही आगे मनु[2] यह विधान करते हैं कि तीस वर्ष के पुरुष को बारह वर्ष की तथा चौबीस वर्ष के पुरुष को आठ वर्ष की कन्या से और धर्म-संकट होने पर इससे भी पूर्व विवाह कर लेना चाहिए, तो यह श्लोक कन्या के रजस्वला होने के पूर्व विवाह का समर्थक प्रतीत होता है।

किन्तु जब हम मनुस्मृति से परवर्ती काल की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो बिना किसी अपवाद के बाल-विवाह के विधायक नियम प्राप्त होते हैं। बौधायन के अनुसार 'कन्या का विवाह उसकी बाल्यावस्था में ही गुण-सम्पन्न व शुद्ध वर के साथ कर देना चाहिए, तथा उसके यौवन प्राप्त करने पर तो अयोग्य वर के साथ भी उसका विवाह करने में सकोच नहीं करना चाहिए[3]।' रजोदर्शन आरम्भ होने के पूर्व विवाह-से सम्बद्ध नियमों को इस धारणा से अतिरिक्त बल मिला कि कन्या के संरक्षकों को इस नियम की अवज्ञा का कुफल प्राप्त होगा। जब कि मनु उचित समय पर कन्या का विवाह न करनेवाले पिता को केवल दोषी ठहराकर ही सन्तोष कर लेते हैं,[4] वहाँ दूसरी ओर वसिष्ठ के अनुसार 'ऋतुकाल के भय से पिता को नग्निका अवस्था में ही कन्या

---

(१) त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम्। ९. ९०।

(२) ९. ९४।

(३) वी. मि सं., भा. २ में उद्धृत।

(४) कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता॥ ९. ४।

का विवाह कर देना चाहिए, क्योंकि ऋतुमती कन्या के घर पर रहने से पिता दोषभागी होता है[1]।'

और भी अधिक परवर्ती काल में ऋतु-कालोत्तर विवाह का आतङ्क इतना भयानक हो गया कि स्मृतियों में और भी छोटी आयु में विवाह का विधान किया जाने लगा। वे विवाहयोग्य कन्याओं को पाँच श्रेणियों में विभक्त करती हैं : (१) नग्निका या नग्न, (२) गौरी या आठ वर्ष की, (३) रोहिणी या नौ वर्ष की, (४) कन्या या दस वर्ष की और (५) रजस्वला या दस वर्ष से अधिक आयु की[2]। विवाह के लिए नग्निका सर्वोत्तम समझी जाती थी। कतिपय आचार्य इस सम्बन्ध में असंगत नियम प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ, महाभारत में उपलब्ध एक परवर्ती व्याख्या के अनुसार 'जन्म होते ही कन्या का विवाह सदृश वर के साथ कर देना चाहिए। उचित काल में कन्या का विवाह कर देने से पिता को धर्म (पुण्य) मिलता है'।[3] ब्रह्मपुराण के अनुसार भी शैशव में ही कन्या का विवाह कर देना चाहिए : 'पिता को शैशव में ही कन्या का विवाह किसी सुन्दर पति से कर देना चाहिए, इससे वह स्वर्ग प्राप्त करता है, अन्यथा उसे पाप लगता है। प्रत्येक स्थिति में चार और दस वर्ष की आयु के बीच कन्या का विवाह कर देना चाहिए। जब तक वह स्त्री-सुलभ लज्जा से परिचित नहीं हो जाती और जब तक वह धूल से खेलती रहती है, तभी तक उसका विवाह कर देना चाहिए, अन्यथा उसके माता-पिता अधोगति को प्राप्त होते हैं'।[4]

बाल-विवाह की प्रथा इतनी दृढ हो चुकी थी कि भारतीय इतिहास के

---

(१) प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यां ऋतुकालभयात् पिता।
ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यां दोषः पितरमृच्छति ॥ व. स्मृ. १७।

(२) गदाधर द्वारा पा. गृ. सू. १. ४. ८ पर उद्धृत सर्वसङ्ग्रहः या. स्मृ. १. २२, शं. स्मृ. १. ६७, पा. स्मृ. ७. ६।

(३) जातमात्रा तु दातव्या कन्यका सदृशे वरे।
काले दत्तासु कन्यासु पिता धर्मेण युज्यते ॥ अनुशासन, २३।

(४) यावल्लज्जां न जानाति यावत् क्रीडति पांसुभिः।
तावत् कन्या प्रदातव्या न चेत् पित्रोरधोगतिः ॥ १. ४।

मध्य-युग तथा मुसलिमकाल के टीकाकार और निबन्ध-प्रणेता प्रौढ़ अवस्था में विवाह के पोषक प्राचीन वचनों की अपने अनुकूल व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि 'योग्य वर के न मिलने पर भले ही कन्या आमरण अविवाहित रहे, किन्तु गुणहीन पुरुष के साथ उसका विवाह कदापि नहीं करना चाहिए' (काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ म. स्मृ. ९. ८९.) आदि वचनों का आशय कन्या की विवाहयोग्य आयु की वृद्धि से नहीं है, वे तो केवल वर की उपयुक्तता पर बल देते हैं।

यह परिवर्तन कब हुआ, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि यह परिवर्तन ईस्वी सन् के आरम्भ के आसपास हुआ। आरम्भ में तो यह हिन्दू समाज के सभी वर्गों को प्रभावित नहीं कर सका। मनुस्मृति में गान्धर्व तथा राक्षस विवाहों को मान्यता प्रदान की गई है। संस्कृत नाटकों तथा महाकाव्यों में भी प्रौढ़ वर-वधू की चर्चा अनेक स्थलों पर आती है। किन्तु जैसा कि ऊपर सङ्केत किया जा चुका है, हिन्दू इन विदेशी आक्रान्ताओं से प्रभावित हुए, जिन्होंने उत्तर-पश्चिमी भारत पर अधिकार कर लिया था। किन्तु गुप्तयुग राष्ट्रीय जागरण का काल था तथा सामाजिक जीवन पूर्णतः सुरक्षित था, अतः प्रौढ़विवाह भी पुनर्जीवित हुए और मुसलिम अभियान के आरम्भ तक प्रचलित रहे। मुसलमानों की भारत-विजय के परिणामस्वरूप हिन्दुओं का जीवन सुरक्षित न रह सका तथा मुसलिम संस्कृति का प्रभाव भी कन्या की विवाह-योग्य आयु कम करने में सहायक हुआ।

किन्तु विदेशियों की भारत-विजय से उत्पन्न सङ्कट तथा उनके प्रभाव के अतिरिक्त एक धार्मिक विश्वास ने भी हिन्दुओं की विवाह-विषयक धारणा में परिवर्तन कर दिया। कालक्रम से विवाह पिता की ओर से वर को कन्या का दान ही माना जाने लगा। दान एक ही बार दिया जा सकता है और उसकी पुनरावृत्ति नहीं की जा सकती तथा पहले ही उपभुक्त कोई वस्तु दान में नहीं देनी चाहिए, इसकी अवज्ञा करने से पाप होता है। दुर्भाग्यवश सोम, गन्धर्व और अग्नि, प्राकृतिक देवता, जो कन्या के शारीरिक विकास में सहायक

समझे जाते थे,[1] आगे चलकर उसके उपभोक्ता माने जाने लगे। अतः स्वभावतः ही कन्या का धर्मभीरु पिता उक्त देवताओं द्वारा उपभोग के पूर्व ही उसका विवाह कर देने के लिए व्याकुल रहने लगा। नग्निका को प्राथमिकता देने का यही कारण था।

आरम्भ में तो किसी प्रकार के भय तथा धार्मिक आवश्यकता का अनुभव न होने के कारण वर की आयु वधू के साथ नहीं घटायी गई। किन्तु आगे चलकर जब कन्याओं के समान उनके विषय में भी आश्रम-व्यवस्था की उपेक्षा की जाने लगी, तो स्वभावतः ही उनकी विवाह-योग्य आयु भी निम्नतर होती गई। कालक्रम से वर-वधू की आयु में सादृश्य लाने के उद्देश्य से कन्या के साथ ही वर की आयु भी कम कर दी गई।

यद्यपि उक्त धार्मिक नियमों को समाज में सदा व्यापक मान्यता प्राप्त हुई तथा अन्त में रूढ़िवादी विवाह का यह एक अभिन्न अङ्ग हो गया, तथापि प्रौढ़-विवाह भी मध्य-युग तक अनेक शताब्दियों पर्यन्त प्रचलित रहे होंगे। आज के समान प्रादेशिक भेद भी विद्यमान रहे होंगे। अन्यथा संस्कृत नाटकों और महाकाव्यों तथा प्रौढ़-विवाह की राजपूतों में प्रचलित प्रथा का स्पष्टीकरण कठिन होगा। प्राचीन काल के हिन्दू आयुर्वेदिक लेखकों ने भी यह सत्य ही लिखा है कि भारतवर्ष में सोलह वर्ष की आयु के पूर्व कन्या की शारीरिक क्षमता का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। सुश्रुत के अनुसार 'एक अनुभवी वैद्य को इस तथ्य का ज्ञान होना चाहिए कि पुरुष पच्चीस वर्ष तथा स्त्री सोलह वर्ष की आयु में पूर्णतः विकसित हो जाते हैं[2]।' अन्यत्र वे इस विचार की

(१) सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्ते परः पतिः।
तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥

ऋ. वे. १०. ८५. ४०।

वसिष्ठ-स्मृति उक्त ऋचा को अधोलिखित रूप प्रदान करती है—

पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः।
गच्छन्ति मानुषान् पश्चात् नैता दुष्यन्ति धर्मतः॥
तासां सोमोऽददच्छौचं गन्धर्वः शिक्षितां गिरम्।
अग्निश्च सर्वभक्षत्वं तस्मात् निष्कल्मषाः स्त्रियः॥

(२) ३५. ८।

पुष्टि इस प्रकार करते हैं, 'जब एक पच्चीस वर्ष से कम आयु का पुरुष सोलह वर्ष से कम अवस्था की स्त्री के साथ सम्भोग करता है, तो भ्रूण गर्भाशय में ही नष्ट हो जाता है और यदि वह किसी प्रकार उत्पन्न भी हुआ तो दीर्घजीवी नहीं हो पाता या अल्प-शक्ति होता है, अतः किसी भी पुरुष को अल्पायु कन्या के साथ सहवास की अनुमति नहीं देनी चाहिए।'

यह एक शुभ लक्षण है कि इस समय भारत के समस्त प्रगतिशील तत्त्व प्रौढ़-विवाहों का समर्थन कर रहे हैं तथा मध्ययुगीन रूढ़िवाद उन परिस्थितियों के साथ ही मरणासन्न हो चला है, जिनमें बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित हुई थी।

१२. वधू की योग्यता

वधू की आयु पर विचार करने के पश्चात् उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं पर ध्यान दिया जाता था। प्राक्सूत्र साहित्य में इस विषय का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं उपलब्ध होता। तथापि शतपथ ब्राह्मण में एक वर्णन मिलता है, जिसमें यज्ञिय वेदी की तुलना एक स्त्री के साथ की गई है, जिससे स्त्री के सौन्दर्य के मानदण्ड के विषय में हम कुछ धारणा बना सकते हैं। 'वे पृथुश्रोणि, विशाल स्तनाभागों (विमृष्टान्तरा) तथा क्षीण कटिवाली (मध्ये सग्राह्या) स्त्री की प्रशंसा करते हैं'।[1] उसी ग्रन्थ में अन्यत्र मधुर व भावुक स्त्री को सुन्दर कहा गया है। जब हम गृह्यसूत्रों की ओर आते हैं, तो इस विषय का ब्यौरेवार वर्णन मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र बाह्य शुभलक्षणों से ही सन्तुष्ट है।[2] मानव गृह्यसूत्र के अनुसार विवाह के प्रसङ्ग में चार बातों पर विचार करना चाहिए—वित्त, रूप, प्रज्ञा और कुल अथवा बान्धव।[3] उक्त गृह्यसूत्रकार के कथनानुसार कतिपय लोकवादी आचार्य बहुत आगे बढ़ गये थे और वे वधू के रूप को ही सर्वोच्च महत्त्व देते थे। 'पुरुष को उस कन्या के साथ विवाह करना चाहिए जिसमें उसका मन रम जाए तथा नेत्र बराबर उसके रूप में उलझे रहें। ऐसी कन्या शुभ लक्षणों से सम्पन्न मानी जाती है। उसके ज्ञान तथा बुद्धि से भला

(१) एवमिव हि योषा प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरा सा मध्ये संग्राह्येति। शत ब्रा. १ २. ५. १६।

(२) १. ५।

(३) चत्वारि विवाहकारणानि वित्तं रूपं प्रज्ञा बान्धवमिति। १. ६।

क्या प्रयोजन[1] ?' किन्तु यह मत बहुजन-सम्मत नहीं था। अधिक धार्मिक बुद्धि के लेखक विद्या को सबसे अधिक महत्त्व देते थे। 'अप्रज्ञा अथवा निर्बुद्धि स्त्री के साथ कैसे रहा जा सकता है' ?[2]

वधू की बाह्य विशेषताओं का स्मृतियों में अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत वर्णन मिलता है। मनु के अनुसार 'पुरुष को ऐसी स्त्री से विवाह करना चाहिए, जो शारीरिक दोषों से मुक्त हो, जिसका नाम सौम्य हो, जिसकी गति हंस या हाथी के समान हो, जिसके शरीर तथा सिर पर केश उचित मात्रा में हों, जिसके दाँत छोटे तथा अवयव मृदु और कोमल हों'।[3] याज्ञवल्क्य सामान्य रूप से कहते हैं कि वधू कान्ता या सुन्दर होनी चाहिए।[4] शातातप वधू के बाह्य गुणों का अधिक विस्तृत वर्णन करते हुए कहते हैं, 'हंस के समान मधुर वाणी तथा मेघ के तुल्य वर्ण वाली तथा जिसकी आँखें मधुर और विशाल हों, ऐसी स्त्री के साथ विवाह कर गृहस्थ सुख प्राप्त करता है।'[5]

शारीरिक कारणों से अधोलिखित कन्याएँ विवाह के लिए वर्जित थीं : 'भूरे बालों वाली, अधिकांगी, रोगिणी, जिसके शरीर में रोम न हों या बहुत हों, वाचाल, तथा जिसकी आँखें पिंगल हों, ऐसी कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए'।[6] वीरमित्रोदय में उद्धृत विष्णुपुराण के एक श्लोक में वधू के कुछ और शारीरिक दोषों का परिगणन किया गया है, 'ऐसी स्त्री से विवाह नहीं करना चाहिए जिसके मुँह पर दाढ़ी या मूंछ हो, जिसकी आकृति पुरुष के समान हो, जिसकी वाणी कर्कश हो और जो सदा अवज्ञा या उपहास-पूर्वक बोलती हो। बुद्धिमान् पुरुष को विवाह में ऐसी स्त्री का सदा वर्जन करना चाहिए, जिसके पलक नहीं

---

(१) यस्यां मनोऽनुरमते चक्षुश्च प्रतिपद्यते तां विद्यात् पुण्यलक्ष्मीकां किं ज्ञानेन करिष्यतीति। १. १२।

(२) अप्रज्ञया हि कथं संवासः। १. १६।

(३) अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्॥ म. स्मृ. ३. १०।

(४) १. १५२।

(५) वीरमित्रोदय, भा. २, पृ. ७३१ पर उद्धृत।

(६) म. स्मृ. ३. ८।

गिरवे, जिसकी दृष्टि क्षीण हो चुकी हो, जिसके जघन-स्थल पर घने बाल हों, जिसके घुटने बहुत उठे हुए हों, जिसके कपोल पिचक गये हों, जिसका ओज नष्ट हो चुका हो, जो पाण्डुरोग से ग्रस्त हो, जिसकी आँखें लाल हों, जिसके हाथ-पैर बहुत पतले हों, जो बहुत लम्बी या ठिगनी हो, जिसकी आँखों पर भौं न हों, जिसके दाँत बहुत कम हों तथा जिसका मुख भयानक व अरुचिकर हो'।[1]

भद्दा तथा अशुभ नाम भी स्त्री का एक दोष माना जाता था। मनु के मतानुसार 'ऐसी कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए, जिसका नाम नक्षत्र, पर्वत, नदी, वृक्ष, निम्न जाति का वाचक, पर्वत, पक्षी, सर्प, दास के नाम पर पड़ा हो या जिसका नाम भीषण व कठोर हो'[2]। इस निषेध के मूल में यह कारण प्रतीत होता है कि उक्त नाम मूलतः असंस्कृत, असभ्य तथा वन्य जातियों में प्रचलित थे, जिनके रहन-सहन के प्रकार तथा सम्पर्क दोनों से सभ्य लोग दूर रहना चाहते थे। आगे चलकर ये ही नाम परिष्कृत हो गये तथा प्रतिष्ठित परिवारों की कन्याओं के नाम भी इसी प्रकार रखे जाने लगे। अन्त में यह निषेध उठा लिया गया। आपस्तम्ब सम्भवतः उच्चारण-सम्बन्धी कठिनाई के कारण ऐसी कन्या से विवाह का निषेध करता है जिसके नाम के अन्त में 'र' या 'ल' पड़ता हो[3]। यम वेद या गन्धर्व के नाम पर नामवाली कन्या के साथ विवाह का निषेध करते हैं[4]। इसका कारण सम्भवतः यह था कि वेद अत्यन्त पवित्र तथा लौकिक प्रयोजनों से परे समझे जाते थे और गन्धर्व कामुकता का प्रतीक था जिसका नाम के रूप में सदा स्त्री के साथ रहना अवांछनीय था।

वधू का चुनाव करते समय कुछ अन्य विशेषताओं पर भी विचार किया जाता था। वाराह-गृह्यसूत्र के अनुसार 'ऐसी कन्या के साथ विवाह करना

---

(१) वीरमित्रोदय, भा. २, पृ. ७३१।

(२) म. स्मृ ३. ९।

(३) सर्वाश्च रेफलकारान्तवर्णाः विवर्जयेत्।

वी. मि. सं. भा. २, पृ. ७३२ पर उद्धृत।

(४) वेदनाम्नीं नदीनाम्नीं शैलगन्धर्वनामिकाम्।

ऋक्षवृक्षलतानाम्नीं दारार्थे परिवर्जयेत्॥ वही।

चाहिए जिसके भाई हों, जो कुमारी हो तथा जो विवस्त्र (नग्निका) होने पर भी सुन्दर प्रतीत हो[1]।' भ्रातृहीन कन्या धार्मिक कारणों से त्याज्य मानी जाती थी, क्योंकि उसके प्रथम पुत्र के कन्या के पिता (मातामह) द्वारा पुत्रिका-पुत्र के रूप में लिए जाने की आशंका बनी रहती थी, जिसके परिणामस्वरूप उसके पति के पितर श्राद्ध या तर्पण के अभाव में उत्तम गति से वञ्चित हो जाते। आगे चलकर इस प्रतिबन्ध का कठोरता से पालन नहीं किया जाता था, क्योंकि धार्मिक विश्वास का स्थान आर्थिक लाभ ने ले लिया था। सम्प्रति इस प्रश्न को विवाह में कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। कुमारीत्व पतिव्रता तथा अ-विधवा स्त्री प्राप्त करने के लिए अपेक्षित था। परवर्ती काल में इस नियम का अधिकाधिक कठोरता से पालन किया जाने लगा, क्योंकि हिन्दू-समाज के उच्च वर्णों में विधवा-विवाह पूर्णतः निषिद्ध हो चुका था। 'नग्निका' होना ही कन्या की अन्तिम विशेषता थी। इसकी विभिन्न मनोरञ्जक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, परवर्ती स्मृतिकार व निबन्धप्रणेता उस कन्या को नग्निका मानते हैं जो ऋतुमती न हुई हो तथा जिसके स्तन विकसित न हुए हों[2]।' मानवगृह्यसूत्र का टीकाकार उक्त व्याख्या को दुहराता हुआ, कहता है कि 'अथवा 'नग्निका' के साथ विवाह करना चाहिए, जो सर्वोत्तम है।' परन्तु वह अपने वक्तव्य को इस प्रकार स्पष्ट करता है : 'ऐसी स्त्री से विवाह करना चाहिए जो विवस्त्र होने पर भी श्रेष्ठ व सुन्दर हो, क्योंकि कुरूप स्त्री भी आभूषणों व वस्त्रों में आकर्षक प्रतीत होती है; अतः विवस्त्र होने पर सभी स्त्रियाँ सुन्दर नहीं प्रतीत होतीं[3]।'

इस सम्बन्ध में सर थॉमस मूर का अपने 'यूटोपिया' में उल्लिखित यह मनोरंजक कथन स्मरणीय है कि 'विवाह के पूर्व एक शान्त तथा ईमानदार

---

(१) १०. ८।

(२) नग्निकां तु वहेत् कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्।
अव्यभिजाता भवेत् कन्या कुचहीना च नग्निका ॥
गृह्यसंग्रह, वी. मि. सं. भा. २, पृ. ७६७ पर उद्धृत।

(३) नग्निकामप्राप्तस्त्रीभावाम्।'''अथवा नग्निकां श्रेष्ठां विवस्त्रा सती श्रेष्ठा या भवेत् तामुपयच्छेत्। यस्मात् कुरूपाऽपि वस्त्रालङ्कारकृता मनोहारिणी भवति। तस्माद् विवस्त्रा सती न सर्वा शोभते। १. ७. ८।

वृद्धा ने स्त्री को भले ही वह कुमारी हो या विधवा, विवस्त्र कर विवाहेच्छु पुरुष को दिखाया।......इस प्रथा पर हम लोग हँस पड़े और हमने इसे मूर्खतापूर्ण समझा'। किन्तु दूसरी ओर वे अन्य समस्त राष्ट्रों की मूर्खता पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं, जो एक बछड़ा या घोड़ा खरीदते समय तो अत्यन्त सावधानी व तत्परता से साज आदि अलग कर उस नग्न पशु का निरीक्षण करते हैं कि कहीं कोई घाव या फोड़ा न छिपा हो। पर पत्नी का चुनाव करते समय वे इतने असावधान रहते हैं कि स्त्री का सम्पूर्ण शरीर तो वस्त्रों तथा अलङ्कारों से ढका रहता है और वे दूर से ही उसका मूल्याङ्कन करते हैं (क्योंकि वे उसके मुँह के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख सकते) तथा इस प्रकार वर-वधू का गठबन्धन कर दिया जाता है[1]।

स्त्री के नग्न प्रदर्शन की यह प्रथा उस काल तथा उस समाज में भी अति-सामान्य नहीं रही होगी जब और जहां स्त्रियों का पार्थक्य न था। हिन्दू-समाज में पर्दा-प्रथा के प्रचलित हो जाने पर स्त्रियां बाहरी व्यक्तियों के लिए अदृश्य हो गयीं और कन्या को दिखाने की मांग ही मूर्खतापूर्ण समझी जाने लगी, और उसका नग्न-परीक्षण तो और भी अविवेक-पूर्ण समझा जाने लगा।

इसके अतिरिक्त कन्या की आयु वर की अपेक्षा न्यून होनी चाहिए। उसे यवीयसी तथा अनन्यपूर्विका (जिसका सम्बन्ध किसी अन्य पुरुष से न हुआ हो) होनी चाहिए।[2] अपेक्षाकृत अल्पायु कन्या का विवाह अधिक आयु के पुरुष से करने का कारण यह था कि स्त्री की शारीरिक क्षमताओं का विकास पुरुष की अपेक्षा कम आयु में ही हो जाता है। अन्यपूर्विका के दो भेद थे—पुनर्भू और स्वैरिणी। याज्ञवल्क्य के अनुसार 'जिस स्त्री का (विवाह) संस्कार दूसरी बार किया जाय, भले ही उसका अन्य पुरुष से शारीरिक सम्बन्ध हुआ हो या नहीं, वह पुनर्भू कही जाती है। स्वैरिणी वह है जो स्वेच्छापूर्वक पूर्व पति का त्यागकर अन्य सवर्ण पुरुष का आश्रय लेती है'।[3] यह निषेध स्वयं

(१) एच. एलिस, स्टडीज इन साइकॉलाजी ऑव् सेक्स, भा. ६, पृ. १०२ पर उद्धृत।

(२) याज्ञ. स्मृ. १. ५२।

(३) अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूस्संस्कृता पुनः ।
स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतः श्रयेत् ॥ वही।

सूचित करता है कि एक काल में इन स्त्रियों के साथ विवाह वैध माना जाता था, भले ही जनसाधारण को वह पसन्द न रहा हो। किन्तु परवर्तीकाल में जब स्त्री के पातिव्रत्य का स्तर बहुत ऊंचा और विधवा-विवाह निषिद्ध हो गया तो इस प्रकार के विवाहों का प्रश्न ही नहीं रहा।

वधू की अन्तिम महत्त्वपूर्ण विशेषता थी उसका स्त्रीत्व या माता होने की क्षमता। विज्ञानेश्वर के अनुसार 'स्त्री' शब्द का तात्पर्य उस स्त्री से है, जिसकी परीक्षा वन्ध्यात्व आदि के सन्देह के निवारण के उद्देश्य से भली-भाँति कर ली गई हो।[1] हिन्दुओं के अनुसार सन्तान की उत्पत्ति विवाह का मुख्य प्रयोजन थी और स्त्री की तुलना एक खेत से की जाती थी, जिसमें बीज बोया जा सकता है। अतः ऐसी स्त्री से विवाह करना निरर्थक था जो सन्तान उत्पन्न न कर सकती हो। यह विचार जनता की जातीय प्रवृत्ति पर आधारित था। कालक्रम से यह धारणा कि विवाह का ध्येय एकमात्र जातीय प्रयोजन की अपेक्षा सामाजिक उद्देश्यों के लिए स्त्री और पुरुष को परस्पर संबद्ध करना था, बलवती हो गयी, यद्यपि यह विचार प्राचीन काल में भी अज्ञात नहीं था। फलस्वरूप स्त्रीत्व के महत्त्व का भली भाँति मूल्याङ्कन सम्भव नहीं रहा। बाल-विवाह की प्रथा भी कन्या की परीक्षा में बाधक हुई।

यह विश्वास था कि वधू के आन्तरिक गुणों का यथावत् ज्ञान प्राप्त करना कठिन है, अतः उनके ज्ञान के लिए अनेक अन्धविश्वासपूर्ण मार्गों का आश्रय लिया गया। आश्वलायन गृह्यसूत्र में कहा गया है : 'स्त्री के आभ्यन्तर लक्षणों का ज्ञान प्राप्त करना नितान्त दुरूह है। अतः विभिन्न स्थानों से मिट्टी के आठ ढेलों को लाकर उन्हें इस प्रकार अभिमन्त्रित करें : 'आरम्भ में ऋत सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ था। सत्य ऋत में प्रतिष्ठित है। अतः यह कन्या मिट्टी के उस ढेले का स्पर्श करे, जिसके लिए वह उत्पन्न हुई है। जो सत्य है, वह प्रकट हो[2]।' मृत्पिण्डों को इस प्रकार संबोधित करने के पश्चात् कन्या से उनमें से किसी भी ढेले को इच्छानुसार स्पर्श करने के लिए कहा जाता था। विभिन्न मृत्पिण्ड भिन्न-भिन्न भाग्यों के सूचक माने जाते थे, जिनके अनुसार उस बेचारी कन्या को

---

(१) अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्। याज्ञ. १. ५२।
स्त्रियं नपुंसकत्वनिवृत्तये स्त्रीत्वेन परीक्षिताम्। मिताक्षरा, वही।

(२) दुर्विज्ञेयानि लक्षणानीति। अष्टौ पिण्डान् कृत्वा पिण्डानभिमन्त्रयते। १.५।

स्वीकृत या अस्वीकृत कर दिया जाता था। गोभिल[1] और शौनिक[2] भी उक्त परीक्षा को दुहराते हैं। किन्तु प्रतीत होता है कि उक्त परीक्षा अधिक प्रचलित नहीं थी, क्योंकि अन्य किसी प्राचीन आचार्य ने उसका उल्लेख नहीं किया है। धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में इसकी चर्चा नहीं है। आधुनिक पद्धतियों में भी इसका समावेश नहीं है। सम्भवतः अति शीघ्र ही यह अविवेकपूर्ण प्रक्रिया लुप्त हो गयी।

वधू की आदर्श विशेषताएँ ये थीं। किन्तु यदि कठोरता से उनका विचार किया जाय तो पचास प्रतिशत स्त्रियाँ विवाहित जीवन से वञ्चित हो जातीं। व्यवहार नियमों की अपेक्षा निश्चय ही सरल व कोमल था। कालक्रम से कुल-सम्बन्धी तथा आर्थिक विचारों को इतना महत्त्व प्राप्त हो गया कि उन्होंने वधू के कुमारीत्व के अतिरिक्त उसकी अन्य समस्त विशेषताओं को आच्छन्न कर लिया। जब बाल-विवाह व्यापक रूप से प्रचलित हो गये, तो विवाह के सम्बन्ध में वर की इच्छा का कोई मूल्य नहीं रहा और सहज ही वधू के परीक्षण की उपेक्षा की जाने लगी। केवल दक्षिण भारत में ही हिन्दू परम्पराएँ आंशिक रूप में जीवित हैं तथा वधू की औपचारिक परीक्षा की जाती है।

१३. वर की योग्यताएँ

वर की योग्यताएँ भी बहुत व्यापक थीं। याज्ञवल्क्य[3] के अनुसार वर में वे समस्त गुण होने चाहिएँ, जो एक वधू में। इस प्रकार वर के प्रति भी किसी प्रकार की रियायत या पक्षपात नहीं किया जाता था। वर की प्रथम विशेषता थी ब्रह्मचर्य की समाप्ति। मनु घोषित करते हैं: 'अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए यथाक्रम तीन, दो या एक वेद का विधिवत् अध्ययन करने पर ही ब्रह्मचारी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर सकता है[4]।' वे आगे लिखते हैं: 'गुरु की अनुमति से स्नान कर यथावत् समावर्तन संस्कार के पश्चात् ही द्विज को

(१) गो. गृ. सू. २.१। (२) वी. मि. सं. भा. २, पृ. ७३२ पर उद्धृत।

(३) एतैरेव गुणैर्युक्तः। याज्ञ. स्मृ. १.५५।

(४) वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।

अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥ म. स्मृ. ३. २।

सवर्ण व शुभ लक्षणों से सम्पन्न कन्या से विवाह करना चाहिए'।[1] ब्रह्मचर्य समस्त स्मृतिकारों द्वारा स्वीकृत प्रथम विशेषता थी।

वर की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता थी उसकी आयु। वीरमित्रोदय में उद्धृत लिङ्गपुराण के अनुसार 'सर्वप्रथम आयु का विचार करना चाहिए, और उसके पश्चात् अन्य लक्षणों का। जिस पुरुष की विवाहयोग्य आयु व्यतीत हो चुकी है, उसके अन्य लक्षणों से क्या लाभ'?[2]

वाराह-गृह्यसूत्र के अनुसार 'विनीतक्रोध तथा सहर्ष पुरुष को हर्षित स्त्री के साथ विवाह करना चाहिए।'[3] अन्य विचारणीय विशेषताएँ थीं–सम्पत्ति, सौन्दर्य, विद्या, बुद्धि और कुल। पर पर पूर्व पूर्व की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण था। गौतम के अनुसार 'विद्या, चारित्र्य, बान्धव तथा शील से सम्पन्न पुरुष के साथ कन्या का विवाह करना चाहिए'।[4] आपस्तम्ब भी प्रायः इन्हीं विशेषताओं की पुनरावृत्ति करते हैं।[5] यम वर की विशेषताओं का सर्वाधिक विस्तृत तथा बुद्धिसंगत वर्णन प्रस्तुत करते हैं: 'वर के कुल, शील, शरीर, आयु, विद्या, वित्त तथा साधन-सम्पन्नता, इन सात गुणों की परीक्षा कर उसके साथ कन्या का विवाह करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी सोचने की आवश्यकता नहीं'।[6]

जिस प्रकार स्त्रीत्व वधू का एक अनिवार्य गुण था, उसी प्रकार पुंस्त्व या पौरुष वर की अनिवार्य विशेषता थी। 'स्त्रियाँ संतान के लिए बनाई गयी हैं; स्त्री क्षेत्र है, पुरुष बीजवान् है। अतः क्षेत्र बीजवान् को देना चाहिए; बीज-

---

(१) ३. ४।

(२) पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमादिशेत्।
आयुर्हीननराणाञ्च लक्षणैः किं प्रयोजनम्॥ वीरमित्रोदय, भा. २, पृ. ७५२।

(३) विनीतक्रोधः सहर्षः सहर्षां भार्यां विन्देत। १०.१; १०.६।

(४) विद्याचारित्र्यबन्धुशीलसम्पन्नाय कन्यां दद्यात्। गौ. ध. सू.।

(५) बन्धुशीललक्षणसम्पन्नः श्रुतवानरोग इति। आप. ध. सू. १. ३. २०।

(६) कुलं च शीलं च वपुर्वयश्च विद्यां च वित्तं च सनाथताञ्च।
एतान् गुणान् सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्॥
वी. मि. सं. भा. २, पृ. ७५१ पर उद्धृत।

रहित पुरुष क्षेत्र (स्त्री) के योग्य नहीं है।[1] अपने अवयवों के लक्षणों द्वारा पौरुष की परीक्षा करने पर जो पुरुष पौरुषसम्पन्न हो वही कन्या प्राप्त करने का अधिकारी है'।[2] नारद चौदह प्रकार के नपुंसक पुरुषों का उल्लेख करते हैं, जो विवाह के लिए वर्जनीय हैं।[3]

अनन्यपूर्वकत्व या कौमार्य जो वधू के लिए इतना आवश्यक था, वर के विषय में अनिवार्य नहीं था, यद्यपि उससे ब्रह्मचर्य की अपेक्षा की जाती थी। एक हिन्दू अपनी पत्नी की मृत्यु होने पर, या उसके शरीर से अशक्त अथवा नैतिक दृष्टि से पतित होने पर दूसरा विवाह कर सकता था।[4] पुरुष के लिए द्वितीय विवाह धार्मिक कारणों से आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था। 'अग्नि-होत्र से अपनी मृत पत्नी की दाह-क्रिया कर गृह्य-अग्नि की पूजा में बिना किसी प्रकार के विलम्ब के पुरुष को विधिवत् दूसरी स्त्री से विवाह कर लेना चाहिए'।[5] किन्तु कुमार वर को विवाह में कन्यादान करना विधुर पुरुष की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ व पुण्यकर माना जाता था। 'ऐसे पुरुष को जिसने अभी तक अपनी (मृत) पत्नी की दाह-क्रिया नहीं की है, कन्यादान करने से अनन्त फल प्राप्त होता है। दूसरी बार विवाह करनेवाले पुरुष के साथ विवाह करने से केवल आधा फल ही प्राप्त होता है, और जो अनेक विवाह कर चुका ऐसे पुरुष के साथ विवाह करना पूर्णतः निष्फल है'।[6]

---

(१) अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टा स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः।
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति॥ पा. गृ. सू. १.८ पर गदाधर द्वारा उद्धृत।

(२) वही।

(३) वही।

(४) याज्ञ. स्मृ. १.७२-७४।

(५) दाहयित्वाऽग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः।
आहरेद्विधिवद्दारानग्नींश्चैवाविलम्बयन्॥ याज्ञ. स्मृ. १. ८९।

(६) अदग्धहस्ते यद्दत्तं तदनन्तफलं स्मृतम्।
दग्धहस्ते तदर्धं स्यान्निष्फलं बहुग्रहतः॥ वी. मि. सं. भा २, पृ. ७५६ पर उद्धृत।

वर की अयोग्यताएँ अनेक थीं। अधोलिखित वर वर्जनीय थे : 'जो परिव्रजित हो चुका हो, जिसको उसके कुल तथा मित्रों ने त्याग दिया हो, असवर्ण, जो पक्षाघात से पीड़ित हो, जो लिङ्गस्थ (प्रच्छन्न वेश में रहता) हो, जो उदरी (बड़े पेटवाला) हो, जो पतित, मृगी रोग से पीड़ित तथा अशक्त या नपुंसक हो, सगोत्र, जिसकी सुनने व देखने की शक्ति समाप्त हो चुकी हो, तथा जो कुष्ठ रोग से ग्रस्त हो। यदि उक्त दोष विवाह के पूर्व ही विद्यमान हों (किसी कारण अज्ञात रूप में) अथवा विवाह के पश्चात् उत्पन्न हो जाएँ, तो कन्यादान अवैध समझना चाहिए[1]।' 'कुल तथा शील से हीन, नपुंसक तथा पतित, मृगी, कुष्ठ आदि से पीड़ित, विधर्मी, रोगी तथा प्रच्छन्न वेश में रहनेवाले और सगोत्र पुरुष से विवाह होने के पश्चात् भी कन्या वापस ले लेनी चाहिए[2]।' वसिष्ठ वर की अन्य अयोग्यताओं का परिगणन इस प्रकार करते हैं : 'निम्नलिखित छः प्रकार के पुरुषों को कन्या नहीं देनी चाहिए: जो अत्यन्त निकट या दूरवर्ती हो, जो अतिबल या अत्यन्त दुर्बल हो, जिसके पास जीविका का कोई साधन न हो तथा जो मन्दबुद्धि हो[3]।' वार्धक्य तथा कुरूपता भी वर के दोष माने जाते थे : 'जो व्यक्ति धन की लिप्सा से वृद्ध, नीच, कुरूप या अकुलीन पुरुषों को कन्यादान करता है, वह आगामी जीवन में प्रेत होता है[4]।'

प्राचीन काल में जब स्त्रियों का विवाह अधिक आयु में किया जाता था और उन्हें पति के चुनाव की स्वतंत्रता प्राप्त थी, वर की ये विशेषताएँ, परवर्ती काल की अपेक्षा, जब बालविवाह नियम बन गया और ऋतु-कालोत्तर विवाह निन्दनीय माने जाने लगे, अधिक यथार्थ तथा महत्वपूर्ण थीं। परवर्ती युगों में निम्नलिखित शास्त्रीय विधि का कठोरतापूर्वक अनुसरण किया जाने लगा। 'गुणवान् तथा ब्रह्मचारी वर के साथ नग्निका कन्या का विवाह करना

(१) कात्यायन, वही, पृ. ७५८।

(२) कुलशीलविहीनस्य पण्डादिपतितस्य च।
अपस्मारिविधर्मस्य रोगिणां वेषधारिणाम्॥
दत्तामपि हरेत् कन्यां सगोत्रोढान्तथैव च। वसिष्ठ, वही।

(३) वही।

(४) कन्यां यच्छति वृद्धाय नीचाय धनलिप्सया।
कुरूपायाकुलीनाय स प्रेतो जायते नरः॥ पराशर, वही।

चाहिए। अथवा, भले ही गुणहीन पुरुष के साथ उसका विवाह कर दिया जाए, किन्तु रजस्वला कन्या के विवाह को किसी प्रकार रोकना नहीं चाहिये'।[1] निस्सन्देह माता, पिता में आज भी योग्यतम वर के चुनाव की पवित्र इच्छा वर्तमान है, परन्तु वे विशुद्ध धार्मिक कारणों तथा जातीय प्रजननशास्त्र की ओर विशेष ध्यान नहीं देते। इस समय विवाह के प्रमुख निर्णायक तत्व वर की सम्पत्ति तथा समाज में उसका स्थान हैं। वर्तमान हिन्दू-संहिता के अनुसार स्मृतियों में वर्जित व्यक्तियों के साथ भी विवाह वैध माने जाते हैं।

१४. विधि-विधान

(अ) मौलिक सादगी : वर-वधू के समुचित चुनाव के पश्चात् विवाह-सम्बन्धी विधि-विधान आरम्भ हो जाते थे। आरम्भ में वे निश्चित ही अत्यन्त सादे रहे होंगे। पुरुष को स्त्री उसके वैध संरक्षक द्वारा दी जाती थी, जिससे वे पति-पत्नी या दम्पति हो जाते थे। किन्तु क्योंकि विवाह का अवसर समाज में अत्यन्त महत्वपूर्ण था, अतः उसके चारों ओर अनेक विधि-विधान, प्रथाएँ तथा रीतियाँ केन्द्रित हो गईं, जिनका नियमन स्वयं समाज के हाथों में था। कालक्रम से समाज जटिल होता गया तथा देश व कालसंबन्धी अनेक भेद अस्तित्व में आ गये।

(आ) क्रमिक जटिलता : मूलतः वैवाहिक विधि-विधानों का उद्भव जाति के धार्मिक विश्वासों में निहित था, किन्तु क्योंकि विवाह सामुदायिक जीवन में एक हर्ष व आनन्द की घटना थी, अतः भोज, संगीत तथा नृत्य आदि के रूप में सभी प्रकार के प्रमोद तथा विनोद उससे सम्बद्ध हो गये। घर की सजावट तथा वर और वधू का अलङ्करण सामुदायिक जीवन की किसी भी महत्वपूर्ण घटना के लिए स्वाभाविक सौंदर्य-भावना के सूचक थे। इसके अतिरिक्त, अनेक विधि-विधान विवाह के विभिन्न पहलुओं के द्योतक हैं। जनसमवाय का मूल सम्बद्ध विभिन्न पक्षों के स्वार्थ में निहित है। वधू पर उसके संबन्धियों का एक प्रकार का नियन्त्रण या अधिकार था, अतः यह आवश्यक था कि वह उनकी उपस्थिति में दी जाती, जिससे इसमें किसी प्रकार का विघ्न

---

(१) दद्याद् गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणे।
अपि वा गुणहीनाय नोपरुन्ध्याद् रजस्वलाम्॥ बौधायन, वही।

उपस्थित न होता। अनेक क्रियाएँ प्रतीकात्मक हैं। कुछ पति और पत्नी के सम्बन्ध की प्रतीक हैं। उदाहरणार्थ पाणि-ग्रहण, ग्रन्थि-बन्धन, हृदयस्पर्श आदि में पति और पत्नी के सुदृढ़ संबन्ध की भावना निहित थी। कतिपय अन्य क्रियाओं का मूल दम्पति की प्रजनन-शक्ति को बढ़ाने तथा परिवार के लिए पोषण की प्रचुरता निश्चित करने की इच्छा में निहित था। कुछ विधि-विधान इस धारणा से संबन्धित हैं कि किसी न किसी प्रकार का संकट जीवन के प्रत्येक संक्रान्तिकाल में निहित है, जिसका प्रतीकार उपयुक्त क्रियाओं द्वारा करना चाहिये। क्योंकि विवाह के साथ जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय का आरंभ होता था, अतः अनेक क्रियाएँ इस घटना से संबद्ध दुष्प्रभावों से रक्षा के लिए की जाती थीं। वैवाहिक विधि-विधानों के अन्य पार्श्व निश्चित रूप से मूलतः धार्मिक हैं। वर तथा आशीर्वाद के लिए मङ्गलकारी देवताओं की प्रार्थना की जाती है और यज्ञ की निश्चित क्रियाओं तथा प्रार्थना के साथ अदृश्य शक्तियों की भी आराधना की जाती है। दैवी परीक्षा आदि भी मूलतः धार्मिक हैं, क्योंकि उनके द्वारा यह जानने का प्रयास किया जाता है कि उच्चतर शक्तियाँ किसी विशेष समय में मङ्गलकारी हैं अथवा नहीं।

(६) वैदिककाल : प्राग्वैदिक वैवाहिक विधि-विधानों की जानकारी हमें प्राप्त नहीं है। अधिक संभव यह प्रतीत होता है कि वे वैदिक साहित्य में वर्णित क्रियाओं के पूर्वगामी रूप रही होंगी। वैवाहिक क्रियाएँ तथा विधि-विधान ऋग्वेद-काल में भी भिन्न-भिन्न कुलों में पृथक्-पृथक् रहे होंगे, किन्तु इस विषय में कोई सामग्री प्राप्त नहीं है। ऋग्वेद[1] तथा अथर्ववेद[2] के वैवाहिक सूक्तों में प्राप्त सामग्री से ही हमें सन्तोष कर लेना चाहिए। उक्त ऋचाएँ सोम के साथ सूर्य की पुत्री सूर्या के विवाह के रूपक से आरम्भ होती हैं। संपूर्ण दृश्य रूपकीय वर्णन का आधार बनाया गया है, जिसमें देवता भाग लेते हैं। विषय-वस्तु कितनी ही काल्पनिक क्यों न हो, यह निष्कर्ष बिना किसी संशय के निकाला जा सकता है कि वैदिक कवियों का वर्णन अधिकांश में व्यावहारिक जीवन से प्राप्त उनके अनुभवों पर आधारित है। उक्त ऋचाओं से हम उस समय प्रचलित वैवाहिक क्रियाओं के प्रमुख भाग की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु उनके क्रम के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना संभव नहीं है। ऋग्वेद तथा

(१) १०. ८५। (२) १४. १, २।

अथर्ववेद में दी हुई विधियाँ अनेक विषयों में एक दूसरे से भिन्न हैं, और ये दोनों ही गृह्यसूत्रों में प्राप्त विधि से पूरा मेल नहीं खातीं। अथर्ववेद का वर्णन अधिक विस्तृत है। अतः वैदिक काल में प्रचलित वैवाहिक कर्मकाण्ड के ज्ञान के लिए, भेदों पर ध्यान देते हुए, उक्त वर्णनों पर विश्वास करना चाहिए। अथर्ववेद के मन्त्रों के क्रम के आधार पर वैवाहिक क्रियाएँ यथाक्रम इस प्रकार थीं—

वधू सुन्दर वस्त्र तथा उत्तरीय धारण कर नेत्रों को अंजन-रञ्जित कर तथा ओपश या कुरीर पद्धति से शिरोवेष्टन धारण कर अपनी सखियों (अन्य देवी) के साथ बैंके रथ में अभीष्ट पति के घर के लिए प्रस्थान करती थी[1]। उसके दहेज से युक्त कोश भी रथ में उसके साथ ही रहता था।[2]

पितृ-गृह छोड़ते समय निम्नलिखित आशीर्वचनों का उच्चारण किया जाता था : 'पतियों तथा कृपालु सुहृदों को प्राप्त करानेवाले अर्यमा की हम प्रार्थना तथा अर्चना करते हैं। जिस प्रकार डंठल से फल पृथक् किया जाता है, उसी प्रकार मैं तुम्हें यहाँ (पितृगृह) से मुक्त करता हूँ, वहाँ (पतिगृह) से नहीं। मैं यहाँ से उसे (वधू को) स्वतन्त्र करता हूँ, वहाँ से नहीं। मैं उसे वहाँ (पतिगृह में) (स्नेह के) मधुर बन्धन से बाँधता हूँ, वह महान् उदार इन्द्र उसे ऐश्वर्य तथा पुत्रों के मध्य प्रसन्न रखे। सम्प्रति मैं तुम्हें वरुण के पाश से मुक्त करता हूँ, जिससे सविता ने तुम्हें बाँध लिया है। सत्य के स्वर्ग में तथा गुणों के संसार में तुम अपने पति-सहित सुखी रहो। भग पाणिग्रहण कर तेरा मार्ग-दर्शन करे। गृह की सम्राज्ञी होने के लिए घर के लिए प्रस्थान कर तथा अपने परिजनों से स्त्री के अनुरूप मधुर भाषण कर[3]।

विवाह के दिन वैदिक मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित जल से वधू को स्नान कराया जाता था और उसके सिर पर जुआ रखा जाता था।[4] वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के साथ उसे वस्त्र पहनाये जाते थे। माता अपनी पुत्री के भावी वियोग पर आँसू बहाती थी[5]।

(१-२) अ. वे. १४. १. ६-१३।
(३) वही, १४. १. १७-२०।
(४) वही, १४. १. ४०। (५) वही, १४. १. ४६।

अब विवाह का वास्तविक कर्मकाण्ड आरम्भ होता था। 'पृथ्वी के अङ्क' का प्रतिनिधित्व करने के लिए वधू एक पत्थर (अश्मन्) पर खड़ी की जाती थी[1]। वर उचित मन्त्रों का उच्चारण करते हुए उसका पाणिग्रहण करता था तथा उसका पालन-पोषण करने का वचन देता था[2]।

इसके पश्चात् वर वधू को वस्त्र तथा मणि-रत्न आदि उपहार में देता था, जो उसे पहनाये जाते थे,[3] और नवीन वस्त्रालङ्कारों से अलंकृत वधू को देखने पर वह हर्ष व्यक्त करता था[4]। भूत-प्रेतों के निराकरण के लिए कतिपय प्रार्थनाओं का उच्चारण कर और रथ की मङ्गल कामना कर वे विवाह-यात्रा के लिए प्रस्थान करते थे[5]। यात्रा के समय मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था, जिनका तात्पर्य यह था कि वधू पहले सोम की, तब गन्धर्व की और उसके पश्चात् अग्नि की पत्नी थी, जिसने उसे अन्त में अपने मनुष्य पति के हाथों में सौंप दिया[6]। इसके पश्चात् जुलूस वर के घर को लौट जाता था, जहाँ से प्रेत पहले ही दूर कर दिये जाते थे। घर में प्रवेश करने के पश्चात् भेंट में प्राप्त उत्तरीय को पहन कर वधू अपने पति के साथ गृह्य अग्नि के सम्मुख बैठती थी। वह वृष-चर्म पर बैठती थी, जिस पर बुलबज घास बिछा रहता था और अपने पति के साथ अग्नि की पूजा करती थी[7]।

तदनन्तर वधू को आशीर्वाद दिया जाता था : 'इस माता के अङ्क से विभिन्न आकृतिवाले पशु (शिशु) उत्पन्न हों; शुभ-लक्षणों से युक्त होकर इस अग्नि के समीप बैठ; और अपने पति के साथ देवताओं का आराधन कर। तू शुभ-लक्षणों से युक्त, गृहों का संवर्धन करनेवाली, अपने पति के लिए अत्यन्त मङ्गलकर, श्वसुर, सास, पति, घर तथा सम्पूर्ण जन के लिए हर्ष-दायिनी हो तथा उनके ऐश्वर्य की वृद्धि कर। यह वधू शुभ-लक्षणों से सम्पन्न है। साथ साथ आएँ, उसका दर्शन करें और ऐश्वर्य प्रदान करें। क्या यहाँ उपस्थित शुभ्र केशोंवाली वृद्ध महिलाएँ, युवती स्त्रियाँ, और उपस्थित वयोवृद्ध लोग

(१) वही, १८. १. ४७। (२) वही, १४. १. ४८-५१।
(३) वही, १४. १. ५३-५७। (४) वही, १४. १. ५९।
(५) वही, १४. १. ६०-६४। (७) वही, १४. २. २-११।
(६) वही, १२-१८, १९,२०,२४।

उसे गौरव प्रदान करते हैं? अब उपस्थित सज्जन अपने अपने घरों को प्रस्थान करें[1]।'

विवाह संस्कार के तुरन्त पश्चात् पति-पत्नी सहवास करते थे[2]। रात्रि में वधू अपने शयन कक्ष में ले जायी जाती थी, जहाँ वह और वर एक दूसरे के नेत्रों को अभिषिक्त करते थे। वधू अपने पति को मनु-जात वस्त्र पहनाती थी और वर अवसर के उपयुक्त मन्त्रों का उच्चारण कर उसे अपनी शय्या पर आरूढ़ होने के लिए कहता था। इसके पश्चात् विश्वावसु गन्धर्व से, जो अविवाहित कन्याओं से सम्बद्ध माना जाता था, वधू से दूर होने की प्रार्थना की जाती थी,[3] और इसके पश्चात् समुचित मन्त्रों के उच्चारण के साथ वे दोनों संयोग करते थे। तब वीर पुत्रों के लिए प्रार्थना और अग्नि से नव-दम्पति को दस पुत्रों को प्रदान करने की याचना की जाती थी[4]।

अन्त में वैवाहिक वस्त्र ब्राह्मण पुरोहित को दिया जाता था, जिससे भूत-प्रेत भी उसी वस्त्र के साथ दूर हो जाएँ; तथा नव-विवाहित दम्पति को अनेक आशीर्वाद दिये जाते थे[5]। पति अन्तिम रूप से अपनी पत्नी का स्वागत करता था: 'मैं पुरुष हूँ, तू स्त्री है, मैं साम हूँ, तू ऋचा है; मैं आकाश हूँ, तू पृथ्वी है; इस प्रकार हम दोनों एक साथ निवास करेंगे; अभी शिशुओं का माता-पिता बनना है[6]।'

विवाह-सम्बन्धी प्रथाएँ ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के काल में प्रायः एक ही थीं, यद्यपि अथर्ववेद के वैवाहिक मन्त्रों से कर्मकाण्ड के क्रम में यत्किञ्चित परिवर्तन ज्ञात होता है। वस्तुतः ऋग्वेद का वैवाहिक सूक्त (१०. ८५.) अथर्ववेद में ज्यों का त्यों ले लिया गया है, किन्तु उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये हैं और उसका विस्तार क्रमशः चौंसठ और पचहत्तर मन्त्रों के दो सूक्तों तक हो गया है, जिनसे अथर्ववेद का सम्पूर्ण चौदहवाँ काण्ड निर्मित है। वर द्वारा वधू का पाणिग्रहण ऋग्वेद के समान ही अथर्ववेद में भी विवाह की सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिया है और कन्यादान पिता पर निर्भर है, तथा वर उसकी

---

(१) वही, २५-२९।

(२) वही, ७. ३६। (३) वही, ७. ३७।

(४) वही, १४. २. ३३-३६।

(५) वही, ४०-५०. ५१-५७। (६) वही, ७१।

कन्या के साथ विवाह की प्रार्थना करने के लिए उसके समीप जाता था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वधू का पाणिग्रहण उसी के घर होता था, जैसा कि आजकल साधारणतः होता है, वर के घर पर नहीं, क्योंकि वधू के जुलूस का पुनः उल्लेख है। यह अत्यन्त विस्मयजनक है कि दस पुत्रों के लिए ऋग्वेद में उपलब्ध प्रार्थना अथर्ववेद में प्राप्त नहीं होती।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के वैवाहिक सूक्तों के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि वर्तमान हिन्दू वैवाहिक विधि-विधानों की प्रमुख रूप-रेखा वही है, जो आज से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व थी।

(ई) सूत्रकाल : सूत्रकाल में कर्मकाण्ड-शास्त्रियों ने विवाहसम्बन्धी संस्कार को क्रमबद्ध किया तथा प्रत्येक गृह्यसूत्र इन विधि-विधानों का वर्णन एक निश्चित प्रकार से करता है।[1] किन्तु अपनी सामग्री के व्यवस्थापन में गृह्यसूत्रों में थोड़ा भेद है तथा उनमें कुछ परस्पर भिन्न विवरणों का समावेश है। इसका कारण यह था कि प्रत्येक वैदिक कुल के अपने अपने स्वतन्त्र सूत्र थे, जिनमें प्रादेशिक तथा जन-संबन्धी भेद भी समाविष्ट थे। किन्तु उनमें किसी प्रकार का तात्त्विक भेद नहीं था, क्योंकि उनकी धार्मिक और सामाजिक पृष्ठभूमि एक ही थी। उनमें प्रायः वे ही वैदिक ऋचाएँ उद्धृत हैं तथा उन्हीं वैवाहिक प्रथाओं का अनुसरण किया गया है। किन्तु वैदिक काल में विकसित विधि-विधानों के अतिरिक्त, कतिपय नवीन विशेषताएँ भी गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होती हैं। निम्नलिखित दो गृह्यसूत्रों की विषयसूचियों से हम वैवाहिक-क्रियाओं में अनुसृत विधि के विषय में अपनी धारणा बना सकते हैं :

पारस्कर गृह्यसूत्र	बौधायन गृह्यसूत्र
१. अर्घ्य तथा मधुपर्क	१. वर-प्रेषण
२. वस्त्र परिधान	२. ब्राह्मण-भोजन
३. समञ्जन	३. नान्दीमुख, विवाह-होम

(१) शौ. गृ. सू. १.५, आ. गृ. सू. १. ५, पा. गृ. सू. १.४-८, गो. गृ. सू. २.१, ख. गृ. सू. १.३, हा. गृ. सू. १.१९, आप. गृ. सू. २.१२, बौ. गृ. सू. १.१, भा. गृ. सू. १.११-२०, मा. गृ. सू. १.७-१२, जा. गृ. सू. १.२० तथा आगे।

४. वधू के साथ निष्क्रमण	४. वर का वधू के घर पर जाना
५. समीक्षण	५. समीक्षण
६. अग्नि-प्रदक्षिणा	६. हस्तग्रहण (पाणि ग्रहण)
७. वैवाहिक होम, आज्याहुति, राष्ट्रभृत, जय तथा अभ्यातन होम	७. सप्तपदी
८. लाजाहोम	८. अर्घ्य तथा मधुपर्क
९. पाणिग्रहण	९. अलङ्करण
१०. अश्मारोहण	१०. अदिति, अनुमति, सरस्वती, सविता तथा प्रजापति को होम
११. गाथा-गान	११. हृदय-स्पर्श
१२. अग्नि-परिक्रमण	१२. कर्णजप
१३. शेष लाजा-होम	१३. पाणि-ग्रहण
१४. सप्तपदी	१४. अग्नि-प्रदक्षिणा
१५ मूर्धाभिषेक	१५. अश्मारोहण
१६. सूर्य-दर्शन	१६. अश्मारोहण
१७ हृदयस्पर्श	१७. पुनः अग्नि-प्रदक्षिणा
१८. अभिमन्त्रण	१८. प्राजापत्य तथा अन्य आहुतियाँ
१९. वृष-चर्म पर बैठना	१९. उद्वाह अथवा विदाई
२०. ग्रामवचन	२०. गृहप्रवेश
२१. आचार्य को दक्षिणा	२१. वृष-चर्म पर बैठना
२२. ध्रुवदर्शन	२२. ध्रुव, अरुन्धती तथा सप्तर्षि-दर्शन
२३. त्रिरात्र व्रत	२३. त्रिरात्र व्रत
२४ आवसथ्य होम	२४. चतुर्थी कर्म
२५. उद्वाहन	२५ उपसंवेशन
२६. चतुर्थी कर्म	
२७. मूर्धाभिषिञ्चन	
२८. स्थाली-पाक-प्रेषण	
२९ पातिव्रत्य का प्रथम उपदेश	
३०. गर्भाधान	

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि प्रधानतः वैदिक कर्मकाण्ड का अनुसरण करते हुए भी, गृह्यसूत्रों ने वैवाहिक-क्रियाओं का विस्तार किया तथा अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन किये, यथा, मधुपर्क; लाजाहोम, अश्मारोहण, गाथा-गान, मूर्धाभिषेक, हृदयस्पर्श, सूर्यदर्शन आदि तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सप्तपदी। गृह्यसूत्रों में वर्णित समस्त विधि-विधानों को वैदिक साहित्य में ढूँढ़ना निरर्थक होगा। प्रतीत होता है कि वैदिक काल के पश्चात् अनेक लोकप्रिय क्रियाओं तथा विधि-विधानों का समीकरण कर पुरोहितों ने, जो अपने धर्म के क्षेत्र को और भी व्यापक करना चाहते थे, उनका समावेश धर्मशास्त्रों में कर दिया। ये परवर्ती क्रियाएँ मूलतः वैदिक कर्मकाण्ड का अङ्ग नहीं थीं।

(उ) परवर्तीकाल : सूत्रकाल के पश्चात् वैवाहिक विधि-विधानों में और भी परिवर्तन हुआ। उनमें अनेक संशोधन हुए तथा नवीन प्रथाएं चल पड़ीं। नवीन प्रथाओं के समावेश में पारस्कर-गृह्यसूत्र का ग्रामवचन[1] तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र का जनपद-धर्म[2] अत्यन्त शक्तिशाली कारण थे। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार संस्कारसंबन्धी अनेक प्रथाओं को समाज के वयोवृद्ध स्त्री-पुरुषों द्वारा मान्यता प्राप्त हुई थी, जो प्राचीन तथा लोकप्रिय रीति-रिवाजों तथा क्रियाओं के संरक्षक थे। आश्वलायन गृह्यसूत्र यह मानता है कि स्थानीय प्रथाएं स्थान-भेद से भिन्न-भिन्न हैं, तथा संस्कारों के अनुष्ठान में उनका पालन करना चाहिए। नारायण भट्ट प्रथाओं के महत्त्व का वर्णन इस प्रकार करते हैं: 'पद्धति का वर्णन किया जा चुका है, किन्तु उसका अनुसरण अपने देशाचार के अनुसार करना चाहिये'।[3] कमलाकर अपने निर्णय-सिन्धु में लिखते हैं कि 'विवाह में जनपदधर्म तथा ग्रामधर्मों का विश्वास करना चाहिये'।[4] संस्कार-कौस्तुभ के अनुसार 'अनेक लोग धर्मशास्त्रों की स्पष्ट विधियों का अतिक्रमण कर देशाचार का अनुसरण करते थे'।[5]

---

(१) ग्रामवचनञ्च कुर्युः। १.८.११।

(२) १.५।

(३) क्रम उक्तः स च देशाचारवशेनानुसर्तव्यः। प्रयोगरत्न।

(४) जनपदधर्मान् ग्रामधर्मांश्च विवाहे प्रतीयात्। पूर्वभाग ३।

(५) सकलग्रन्थाननादृत्याचारानुसरणमेवेच्छापरितोषार्थं यथाचारमपि प्रयोगो लिख्यते।

(ऊ) वर्तमान स्वरूप : इस प्रकार कालक्रम से धार्मिक विचारधारा, सामाजिक प्रथाएँ, क्रिया तथा विधि-विधान परिवर्तित हुए। आरम्भ में धर्मशास्त्रों में केवल वैदिक कर्मकाण्डों के ही समावेश का प्रयत्न लक्षित होता है तथा विशुद्ध लौकिक क्रियाओं और प्रथाओं को उनमें समुचित स्थान नहीं दिया गया है। किन्तु आगे चलकर परिस्थितियों ने पुरोहितों को लौकिक विधि-विधानों तथा प्रथाओं को मान्यता प्रदान करने के लिए बाध्य कर दिया। विवाह-संस्कार-विषयक पद्धतियों तथा प्रयोगों ने, जो प्राचीन धर्मशास्त्रों की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक हैं, संस्कार की सीमा में अनेक नवीन तत्त्वों का समावेश भी कर लिया। भारत के भिन्न-भिन्न भागों में विभिन्न पद्धतियों तथा प्रयोगों का अनुसरण किया जाता है। परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न प्रदेशों में वैवाहिक-क्रियाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु धार्मिक और सामाजिक रूढ़िवाद भारत में इतना प्रबल है कि संस्कारों की प्रमुख रूपरेखा वैदिक युग से वर्तमान काल तक अविच्छिन्न रही है, तथा उसके साधारण तत्त्व समस्त देश में एक समान हैं। साधारणतः, पद्धतियों तथा प्रयोगों में निम्नलिखित पद्धति स्वीकृत है :

माण्डलिक	गदाधर
१. वाग्दान	१. वाग्दान
२. मण्डप करण	२. मृदाहरण
३. पुण्याहवाचन	३. हरिद्रा-लेपन
४. वर-गमन	४. मण्डप-निर्माण
५. मधुपर्क	५. गणपति-पूजन
६. विष्टर-दान	६. सङ्कल्प
७. गौरी-हर-पूजा	७. नान्दी-श्राद्ध
८. कन्यादानीय जलशुद्धि	८. वर-वरण
९. कन्या-दान	९. घटी-स्थापन
१०. अक्षतरोपण	१०. वर-गमन
११. कङ्कण-बन्धन	११. नीराजन
१२. आर्द्राक्षत-रोपण	१२. मधुपर्क
१३. तिलक-करण	१३. वर-पूजा

१४. अष्टफलिदान
१५. मङ्गलसूत्र-बन्धन
१६. गणपति-पूजन
१७. वर और वधू का उत्तरीय-प्रान्त-बन्धन (ग्रन्थि)
१८. अक्षतारोपण
१९. लक्ष्मी-पार्वती-शची-पूजन
२०. वापन-दान
२१. विवाह-होम
२२. सप्तपदी
२३. गृह-प्रवेश-होम
२४. अर्णिदान
२५. श्वसुर को कन्यार्पण
२६. गृह-प्रवेश
२७. सूर्यावलोकन
२८. अभिमन्त्रण
२९. वृष-चर्म पर बैठना
३०. ध्रुव-दर्शन
३१. देवकोत्थापन और मण्डपोद्वासन
३२. चतुर्थि-कर्म

१४. अग्निस्थापन
१५. वस्त्र-परिधापन
१६. समञ्जन
१७. गोत्रोच्चार
१८. कन्यादान
१९. प्रतिग्रहण
२०. समीक्षण
२१. अग्नि-प्रदक्षिण
२२. वैवाहिक-होम आदि
२३. लाजा-होम
२४. पाणि-ग्रहण
२५. अश्मारोहण
२६. गाथागान
२७. परिक्रमा के साथ शेष लाजा-होम
२८. अभिषिञ्चन
२९. हृदय-स्पर्श
३०. सिन्दूर-दान
३१. आचार्य-दक्षिणा
३२. त्रिरात्र-व्रत
३३. वधू-प्रवेश

(ए) वर्णन तथा महत्त्व

(१) वाग्दान

वैवाहिक विधियों का आरम्भिक भाग या वाग्दान अथवा वर को कन्यादान की मौखिक स्वीकृति। प्राचीनकाल में वर और वधू का चुनाव प्रेम या अन्य कारणों से एक पारस्परिक कार्य था, तथा अधिकांश में प्रेम ही इसका प्रमुख कारण था। जब संतान पर पैतृक नियंत्रण अधिक कठोर हो गया, तो माता-पिता की औपचारिक अनुमति आवश्यक हो गयी। ऋग्वेद-काल में भी वर के मित्र वधू के पिता के समीप जाकर उसके

सामने औपचारिक रूप से प्रस्ताव रखते थे, जैसा कि सूर्या के विषय में सोम की ओर से अश्विनों ने किया था।[1] वधू के पिता की अनुमति मिलने पर विवाह निश्चित हो जाता था। गृह्यसूत्र साधारणतः वाग्दान की क्रिया का उल्लेख नहीं करते, अतः उस काल में विवाह किस प्रकार निश्चित किये जाते थे, इस विषय में हमें कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। नारद-स्मृति में एक परम्परा का उल्लेख किया गया है। इस प्रसंग में वाग्दान को कन्या-वरण कहा गया है। उसके अनुसार, न केवल वर के मित्र अपितु स्वयं वर भी अपने मित्रों के साथ वधू के पिता के पास औपचारिक रूप से विवाह निश्चित करने के लिए जाता था। 'विवाह के मास में, किसी शुभ दिन कन्या-वरण करना चाहिए। वस्त्रालंकार से सुसज्जित होकर, गाजे-बाजे तथा मन्त्रों के गान के साथ वर को प्रेमपूर्ण हृदय से वधू के पिता के पास जाना चाहिये। वधू के पिता को प्रसन्नता-पूर्वक अपनी स्वीकृति दे देनी चाहिए। शची की आराधना कर, वर को सुस-ज्जित वधू का सत्कार करना चाहिए, और सौभाग्य, स्वास्थ्य तथा सन्तति के लिए उसकी प्रार्थना करनी चाहिए'।[2] प्रतीत होता है कि मध्य-युग में स्वयं वर के वधू के पिता के पास जाने की प्रथा त्याग दी गई थी, तथा वर का स्थान उसके पिता ने ले लिया था, जो एक दल के साथ अपने पुत्र की ओर से कन्यादान की मौखिक स्वीकृति प्राप्त करने के लिए वधू के पिता के पास जाता था। गदाधर ने इस रीति का वर्णन इस प्रकार किया है 'ज्योतिष के अनुसार किसी शुभ काल में उपयुक्त वस्त्रों को धारण कर तथा शुभ शकुन-सूचक पक्षी को देखकर दो-चार अथवा आठ व्यक्तियों को वर के पिता के साथ वधू के पिता के पास जाकर उससे इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए, 'मेरे पुत्र को अपनी कन्या दे दीजिए।' अपनी पत्नी आदि से परामर्श कर, वधू के पिता को कहना चाहिए 'इस शुभ अवसर पर मैं अमुक गोत्र में उत्पन्न, अमुक व्यक्ति को, अमुक नामवाली पुत्री देता हूँ।' तदनन्तर उसे इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए, 'सन्तति के लिए मैंने मौखिक रूप से उस कन्या का दान कर दिया है तथा आप लोगों ने स्वीकार कर लिया है। कृपया प्रसन्नता-पूर्वक शान्त व स्थिर मन से कन्या का निरीक्षण कीजिए।' वर के

---

(१) ऋ. वे. १०. ८५. ९, १५, ३३।

(२) वी. मि. सं. भा. २, पृ. ८१० पर उद्धृत।

पिता को उत्तर देना चाहिए : 'मौखिक रूप से आपने यह कन्या सन्तति के लिए दी है, तथा मैंने सन्तति के लिए स्वीकृत कर ली है। कृपया शान्त व स्थिर मन से वर को देखिये'।[1] प्रस्ताव की स्वीकृति के पश्चात् वर का पिता अपने कुल की प्रथा के अनुसार चावल, वस्त्र तथा पुष्प आदि से कन्या की पूजा करता था। ब्राह्मणों के आशिषों के साथ यह क्रिया समाप्त होती थी।[2]

दक्षिण में यह प्रथा औपचारिक रूप से कन्या को देखने तथा विवाह निश्चित करने के रूप में अब भी प्रचलित है। किन्तु उत्तर भारत में पर्दा-प्रथा तथा दहेज की प्रमुखता के कारण इस उपयोगी प्रथा का अन्त हो गया। यहाँ, अधिकांश में वाग्दान की प्रथा वधू के पिता द्वारा दी जानेवाली धन-राशि निश्चित करने तथा वर को यज्ञोपवीत, द्रव्य तथा कुछ फलों के उपहार के रूप में, जिसे वररचा या फलदान कहा जाता है, अवशिष्ट रह गयी है। इस रीति के द्वारा वर का पिता नैतिक रूप से इस प्रस्ताव के प्रति उत्तरदायी समझा जाता है।

वर-वरण की प्रथा कन्या-वरण की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है। चण्डेश्वर के अनुसार 'वधू के भाई तथा ब्राह्मणों को वर के घर पर जाकर वर-वरण के अवसर पर उसे उपवीत, फल, पुष्प तथा वस्त्र आदि भेंट करने चाहियें'।[3] आजकल यह प्रथा तिलक के नाम से प्रचलित है, तथा उक्त वस्तुओं के अतिरिक्त, धन की एक निश्चित राशि भी भेंट की जाती है। गदाधर के मतानुसार यह विधि विवाह के एक दिन पूर्व होनी चाहिए, किन्तु यह विवाह के बहुत दिन पहले ही कर ली जाती है।

(२) विवाह का दिन

वाग्दान के पश्चात् विवाह संस्कार के लिए एक शुभ दिन निश्चित कर लिया जाता है। प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में इस सम्बन्ध में ज्योतिष-विषयक विचारों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था। क्योंकि वधू और वर का

---

(१) वाग्दानविधि, गदाधर द्वारा पा. गृ. सू. पर उद्धृत।

(२) ततो ब्राह्मणा आशीर्मन्त्रान् पठेयुः। वही।

(३) उपवीतं फलं पुष्पं वासांसि विविधानि च।
देयं वराय वरणे कन्याभ्रात्रा तथैव च॥ कृत्यचिन्तामणि।

सम्बन्ध प्रेम के पारस्परिक आकर्षण पर निर्भर था, अतः ग्रह-नक्षत्रों की गति की वास्तविक पूर्व-गणना तथा निश्चय के आधार पर विवाह सम्भव न थे। इसके अतिरिक्त यद्यपि प्राचीन हिन्दू खगोल विद्या तथा ज्योतिष से परिचित थे, तथापि विवाह से सम्बन्धित ज्योतिष की शाखा का या तो विकास ही नहीं हुआ था अथवा विवाह के विषय में उस पर कोई विशेष ध्यान ही नहीं दिया जाता था। गृह्यसूत्रों में ज्योतिष-विषयक विचार अत्यन्त साधारण हैं। साधारणतः विवाह सूर्य के उत्तरायण में होने पर, मास के शुक्लपक्ष में किसी शुभ दिन होते थे। परवर्ती स्मृतियां, पुराण, ज्योतिषविषयक मध्यकालीन ग्रन्थ तथा निबन्ध विवाह की प्रत्येक क्रिया के लिए समय निश्चित करने के लिए अत्यन्त सचेष्ट हैं।

(३) मृदाहरण

विवाह के कुछ दिन पूर्व मृदाहरण या मिट्टी लाने की क्रिया की जाती है।[1] इस प्रथा का जन्म लोक में निहित है। हिन्दुओं के प्राचीन धर्मग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं पाया जाता है। गदाधर द्वारा उद्धृत ज्योतिर्निबन्ध में कहा गया है कि 'प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में मङ्गल-सज्जा के लिए पल्लवों का व्यवहार करना चाहिए। विवाह के पूर्व नवें, सातवें, पांचवे अथवा तीसरे दिन, शुभ अवसर पर नृत्य तथा सङ्गीत के साथ, घर के पूर्व या उत्तर की ओर से मिट्टी के बर्तन या बांस की टोकरी में अङ्कुर उगाने के लिए मिट्टी लेने जाना चाहिए'।[2] विवाह के एक या दो दिन पूर्व हरिद्रा-लेपन या वर और वधू के शरीर का हल्दी तथा तेल से उबटन भी किया जाता है। उक्त तत्त्व शरीर के लिए लाभ-प्रद होने के अतिरिक्त मङ्गलमय भी माने जाते हैं।

(४) गणपति-पूजन

विवाह के दिन के पूर्व किये जानेवाले विधि-विधान इस प्रकार हैं: प्रारम्भ में सर्वाधिक मङ्गलकारी देव गणेश का पूजन किया जाता है तथा उनका प्रतीक धर्मग्रन्थों में निर्दिष्ट नियमों के अनुसार निर्मित विवाह-मण्डप में स्थापित किया जाता है। मण्डप के नीचे वैवाहिक होम के लिए यज्ञिय वेदी भी बनायी जाती

---

(१) इसका उल्लेख केवल पद्धतियों में ही प्राप्त होता है।

(२) गदाधर द्वारा पा गृ. सू. १.८ पर उद्धृत।

है। तब दिन के प्रथम अर्द्ध भाग में वधू का पिता अपनी पत्नी के साथ स्नान कर मङ्गलसूचक वस्त्र पहनता है। इसके पश्चात् वह निश्चित आसन पर बैठ कर आचमन तथा प्राणायाम करता है। तदनन्तर वह देश और काल से प्रार्थना करता है तथा विवाह के अङ्ग के रूप में स्वस्तिवाचन, मण्डप-प्रतिष्ठा, मातृ-पूजन, वसोर्धारापूजन, आयुष्य-जप तथा नान्दि-श्राद्ध करने का सङ्कल्प करता है।[1] सङ्कल्प एक मानसिक क्रिया है तथा अभिमत उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी शक्तियों के नियमन तथा निर्देश का निश्चय है।[2]

(५) घटिका

विवाह के दिन घटिका या पानी की घड़ी इस श्लोक के साथ स्थापित की जाती है : 'तू यन्त्रों का मुख है। सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ने तेरा निर्माण किया है। काल ही पति-पत्नी के भाव (उत्तम भाव) तथा अभाव (दुर्भावना) का साधन (मापनेवाला) कारण है'।[3] घटिका केवल वैवाहिक कार्यक्रमों के यथासमय निर्वाह के लिए ही उपयोगी नहीं है, वह उस काल का प्रतीक भी है, जो सम्पूर्ण विश्व का शासन करता है। यह प्रथा अधिक प्रचलित नहीं है।

(६) वैवाहिक स्नान

प्रातःकाल वर और वधू अपने-अपने घर सुवासित जल से पति-पत्नी के दैहिक सम्बन्ध के सूचक श्लोकों के उच्चारण के साथ स्नान करते हैं।[4] इसके पश्चात् वर की ओर से वधू के पिता के घर के लिए बारात प्रस्थान करती है। दिन के दूसरे आधे भाग में वर स्नान करता है, शुभ वस्त्रों का एक जोड़ा पहनता है, अपने को इत्र तथा माला से सजाता है और कुल-देवताओं का पूजन करता है। इसके पश्चात् वह ब्राह्मणों को भोजन कराता है, जो वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करते हैं।

---

(१) गर्गपद्धति। (२) रघुनाथ राव, दी आर्यन मैरेज, पृ. २०।

(३) मुखं त्वमसि यन्त्राणां ब्रह्मणा निर्मितं पुरा।
भावाभावाय दम्पत्योः कालः साधनकारणम् ॥
गदाधर द्वारा पा. गृ. सू. १.४-८ पर उद्धृत।

(४) गो. गृ. सू. २.१.१०; शां. गृ. सू. १.११; ख. गृ. सू. १.३.६।

(७) वर-यात्रा

तब अनेक कौतुक और मनोविनोद होते हैं तथा वर अपने मित्रों और बान्धवों के साथ यथायोग्य वाहन पर आरूढ होकर वधू के घर के लिए प्रयाण करता है।[1] वहां पहुँचने पर वर घर के द्वार के बाहर पूर्व दिशा की ओर मुंह कर खड़ा होता है, जहां दीपक और मङ्गल-घट लिए स्त्रियों का एक दल उसका स्वागत करता है। बारात का उल्लेख ऋग्वेद और अथर्ववेद जैसे प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है।[2] शाङ्खायन तथा आश्वलायन गृह्यसूत्रों में भी इसका वर्णन किया गया है। उनके अनुसार वर का वाहन रथ, हाथी या अश्व हो सकता था। उस काल में मनुष्यों द्वारा ढोई जानेवाली पालकी की प्रथा नहीं थी। सम्भवतः यह सामन्ती काल में प्रचलित हुई।

(८) मधुपर्क

श्वसुर वर का जो प्रथम सत्कार करता है, वह है मधुपर्क देना।[3] यह अत्यन्त दुर्लभ सम्मान था, जो समाज के विशिष्ट व्यक्तियों तथा सर्वाधिक प्रतिष्ठित सम्बन्धियों के लिए सुरक्षित था। अतिथि के लिए आसन लाने का आदेश देकर श्वसुर वर से कहता है, 'महाशय, कृपया आसन ग्रहण कीजिए। हम लोग आपका अर्चन करेंगे।' वह एक कुशासन वर के बैठने के लिए और दूसरा उसके पैर रखने के लिए, पैर धोने के लिए अर्घ्यजल, आचमन के लिए जल तथा काँसे के ढक्कन से ढके हुए काँसे के एक बरतन में दही, घृत तथा मधु का घोल प्रस्तुत करता है। एक अन्य व्यक्ति अतिथि को आसन तथा दी जानेवाली अन्य वस्तुएँ तीन बार निवेदन करता है। वर आसन को स्वीकार कर लेता है और इस मन्त्र के साथ उस पर बैठ जाता है: 'मैं अपने जनों में उसी प्रकार उच्चतम हूँ, जिस प्रकार सूर्य विद्युत-जगत् में। यहां मैं अपना प्रतिरोध करनेवाले किसी भी व्यक्ति को हरा डालूँगा।' जब वह

---

(१) कृतकौतुकबन्धश्च मित्रबान्धवसंयुत।
यानं यथार्हमारुह्य यातव्यश्च वधूगृहम्॥
वी. मि. सं. भा. २, पृ. ८१९ पर उद्धृत—शौनक।

(२) ऋ. वे. १०. ८५; अ. वे. १४. १२।

(३) पा गृ. सू. १. ३. १-३२।

आसन पर बैठ जाता है, तो श्वसुर पहले अतिथि का बायाँ और फिर दायाँ पैर धोता है; यदि आतिथ्य करनेवाला ब्राह्मण होता है, तो पहले वह दाहिना पैर धोता है। ऐसा वह इस मन्त्र के साथ करता है : 'तुम विराज् के दूध हो। मैं विराज् का दूध प्राप्त कर सकूँ। मुझमें पाद्य का दूध (विराज्) निवास करे। वर अर्घ्यजल को इस मन्त्र के साथ स्वीकार करता है, 'तुम जल हो। मैं तुम्हारे द्वारा अपनी सभी कामनाओं को प्राप्त कर सकूँ'। जल को बाहर गिराते हुए वह जल से कहता है, 'मैं तुम्हें समुद्र में भेजता हूँ, तुम अपने उद्गम-स्थान को लौट जाओ। हमारे लोग अक्षत हों। मेरा सार च्युत न हो।' वह इस वचन के साथ आचमन करता है, 'तुम ऐश्वर्य तथा गौरव के साथ मेरे निकट आओ। मुझे तेज तथा ओज से युक्त करो। मुझे समस्त प्राणियों का प्रिय, पशुओं का स्वामी तथा किसी भी प्राणि का अहित न करनेवाला बनाओ'। तदनन्तर वह 'मित्र के साथ' आदि शब्दों का उच्चारण करता हुआ मधुपर्क को देखता है तथा 'भगवान् सविता की प्रेरणा से' आदि वाक्य का उच्चारण करते हुए उसे स्वीकार करता है। उसे अपने बायें हाथ में लेकर दाहिने हाथ की चौथी अंगुली से इस वचन के साथ वह उसे लगभग तीन बार मिलता है, 'कपिलाकृति को नमस्कार! भोजन कर लेने पर जो कुछ क्षति हुई, वह मैं तुमसे पृथक् कर लेता हूँ'। चौथी अंगुली और अंगूठे से वह उसका थोड़ा सा भाग विभिन्न दिशाओं में छिड़कता है और निम्नलिखित शब्दों के साथ उसे तीन भागों में विभक्त कर देता है, 'जो मधु का उच्चतम मधुर स्वरूप है, उसके भोजन के द्वारा मैं सर्वोच्च, तथा मधुर भोजन का उपभोक्ता हो जाऊँ'। आचमन के पश्चात् वह शरीर के विभिन्न अंगों का इन वचनों के साथ स्पर्श करता है, 'मेरे मुख में वाणी (भाषण-शक्ति) का निवास हो, मेरी नाक में प्राण (वायु) रहे, मेरे नेत्रों में देखने की शक्ति हो, श्रोत्रों में श्रवण की शक्ति हो, मेरी बाहुओं में बल का निवास हो, मेरी जाँघों में ओज रहे, मेरे अङ्ग अरिष्ट या अक्षत हों। मेरा शरीर देह की समस्त क्षमताओं से युक्त हो'।[1]

प्राचीनकाल में अतिथि के सम्मान में बिना एक गाय की बलि दिये

---

(१) यह भारतीय आर्यों का औपचारिक स्वागत है। किन्तु वर्तमान व्यवहार उसकी विडम्बना-मात्र है।

अर्घ्य की क्रिया पूर्ण नहीं समझी जाती थी।[1] अतिथि के आचमन कर चुकने पर आतिथ्य करनेवाला, कसाई का छुरा लेकर तीन बार उससे कहता था 'एक गाय!' अतिथि इसका उत्तर देता हुआ कहता था, '(यह) रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, आदित्यों की बहन तथा सम्पूर्ण अमरता की नाभि है। जो लोग मुझे भली-भाँति समझते हैं, उनसे मैं कहता हूँ—इस निरपराध गाय की हत्या मत करो, जो अदिति है।' यदि उसे गाय का मारा जाना अभीष्ट होता था, तो वह कहता था, 'मैं अपने तथा अमुक के पाप को मारता हूँ।' किन्तु यदि वह उसे मुक्त कर देना चाहता, तो कहता था, 'मेरा तथा अमुक व्यक्ति का पाप मार दिया गया। ओम्! उसे मुक्त कर दो। उसे घास चरने दो'।[2] गाय भारतीय आर्यों का अभीष्टतम उपहार था। आर्यों के यहाँ गाय के उपहार की अपेक्षा *अतिथि का कोई भी उच्चतर सम्मान न था।* किन्तु गौ वैदिक काल में ही धार्मिक महत्त्व प्राप्त करने लगी थी और कालक्रम से अतिथि के लिए वह अवध्य हो गयी। यह प्रवृत्ति गृह्यसूत्र-काल में लक्षित होती है, जब गाय का मारना वैकल्पिक हो गया था।[3] इस प्रवृत्ति का कारण संभवतः हिन्दू समाज में पशुओं का बढ़ता हुआ मान, गृहस्थ तथा गाय के मध्य निकट घरेलू सम्बन्ध तथा गो-वध के आर्थिक लाभ-हानि का विचार था। स्मृतियों के काल में गो-हत्या पूर्णतः निषिद्ध हो चुकी थी। पुराणों में इसका परिगणन कलिवर्ज्यों में किया गया है।[4] आजकल वर को जीवित गाय उपहार में दी जाती है। गदाधर अपनी पद्धति में लिखते हैं, 'यज्ञ तथा विवाह में गाय का वध विधि के अनुसार करना चाहिए। किन्तु कलियुग में ऐसा नहीं होता। वध के अभाव में 'गौ' शब्द का भी ग्रहण नहीं होता। *व्यापक प्रतिषेध के अन्तर्गत इसका भी साधारण रूप से त्याग कर दिया गया* है, जैसा कि कारिका में कहा गया है—'कलियुग में समस्त स्थलों पर गो-वध के निषेध के कारण, गौ सदा उपहार के रूप में दी जाती है'।[5]

---

(१) न त्वेवामांसोऽर्घः स्यात्। पा. गृ. सू. १. ३. ३०।

(२) वही. १. ३. २७-२९। (३) वही. १. ३. २९।

(४) महाप्रस्थानगमनं गोसंज्ञप्तिश्च गोसवे। आदित्यपुराण, निर्णयसिन्धु, पृ. २६२ पर उद्धृत।

(५) पा. गृ सू. १. ३. ३०–३१ पर गदाधर की व्याख्या।

(६) वधू का सत्कार

मधुपर्क की उक्त विधि के पश्चात् श्वसुर इत्र, माला, यज्ञोपवीत तथा आभूषणों द्वारा वधू की अर्चना करता है। भगवती गौरी का पूजन तथा आराधना कर वधू स्वयं भी आसन पर आसीन होती है।[1] इसके पश्चात् वर लौकिकाग्नि का स्थापन करता है। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह अग्नि रगड़ से उत्पन्न की जाती थी। वधू का मामा उसे पूर्व की ओर मुँह करा कर वैवाहिक अग्नि के निकट लाता है तथा वर और वधू के बीच एक पर्दा डाल दिया जाता है।[2]

(१०) वधू को वस्त्रोपहार

अब वर इस मन्त्र के साथ वधू को एक अधो-वस्त्र भेंट करता है, 'वार्द्धक्य पर्यन्त जीवित रहो, वस्त्र का धारण करो, मानव-जनों की शाप से रक्षा करो, ऐश्वर्य तथा सन्तति से सम्पन्न होओ, दीर्घायुष्य से सम्पन्न होकर इस वस्त्र को धारण करो'।[3] आजकल साधारणतः ये उपहार विवाह-मण्डप में नहीं दिये जाते। विवाह के पूर्व ही वे भेज दिये जाते हैं। श्वसुर द्वारा वर को वस्त्र उपहार में देने की प्रथा भी प्रचलित है।

(११) समञ्जन

इसके पश्चात् वधू का पिता भावी दम्पति का समंजन करता है। उस समय वर को इस ऋचा का उच्चारण करना चाहिए, 'विश्वेदेवा तथा जल (आपः) हमारे हृदयों को एक सूत्र में आबद्ध कर दें (समंजन्तु)। मातरिश्वा, धाता तथा देष्ट्रा हमें संयुक्त कर दें (संदधातु नौ)।' समंजन स्नेह या प्रेम और परिणामस्वरूप भावी दम्पति के सम्बन्ध का प्रतीक है। इस क्रिया को समञ्जन कहा जाता है। कतिपय आचार्य इसकी व्याख्या करते हैं, 'एक दूसरे की ओर मुँह कर।' किन्तु क्योंकि 'समीक्षण' की विधि का पृथक् उल्लेख किया गया है, अतः यह व्याख्या स्वीकृत नहीं की जा सकती।

---

(१) गर्गपद्धति।

(२) वही।

(३) पा. गृ. सू. १. ४. १३-१४।

(१२) गोत्रोच्चार

कन्यादान के पूर्व वर और वधू के पूर्वजों के नामों की गोत्र और प्रवर-सहित, वासुदेव तथा हरिहर के अनुसार तीन बार तथा गंगाधर के अनुसार एक बार ऊँचे स्वर से सूचना दी जाती है।[1] इस प्रथा का महत्त्व यह है कि उपस्थित लोगों को यह जानना चाहिए कि वर और वधू उच्च कुल के हैं, जिनके पूर्वजों की परम्परा अनेक पीढ़ियों तक चली जाती है। गृह्यसूत्रों में इसका उल्लेख नहीं है। यह केवल पद्धतियों में ही मिलती है।

(१३) कन्यादान

अब कन्यादान की क्रिया आती है।[2] केवल कुछ निश्चित व्यक्तियों को कन्यादान का अधिकार प्राप्त होता है। गृह्यसूत्रों में वधू के पिता द्वारा कन्यादान करने का उल्लेख है।[3] स्मृतियाँ इस अधिकार को अन्य संबन्धियों तक व्यापक कर देती हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार 'पिता, पितामह, भाई, सजातीय व्यक्ति तथा माता, ये यथाक्रम पूर्व-पूर्व के नाश होने पर कन्यादान के अधिकारी हैं'।[4] नारद पितामह का उल्लेख नहीं करता तथा मित्र, नाना तथा राज्य का समावेश कर लेता है।[5] प्राचीनकाल में किसी जन अथवा स्थान का पितृ-प्रमुख ही अन्तिम संरक्षक था, जो वर्तमान राज्यों की अपेक्षा धार्मिक तथा सामाजिक भावनाओं से अधिक ओत-प्रोत होता था। किन्तु आजकल भी हिन्दू-संहिता के अनुसार अविवाहित कन्या के लिए पैतृक सम्पत्ति में से कुछ न कुछ व्यवस्था कर दी गई है।

वधू का अभिभावक निम्नलिखित संकल्प का उच्चारण करता है: 'समस्त पितरों के निरतिशय आनन्द तथा ब्रह्मलोक की प्राप्ति आदि कन्यादान के कल्पोक्त फल की सिद्धि के लिए, बारह अतीत और बारह भावी पीढ़ियों को पवित्र करने के लिए तथा अपने घर लक्ष्मी तथा नारायण की प्रीति

---

(१) गर्गपद्धति। (२) वही।

(३) पित्रा प्रत्तामादाय। पा. गृ. सू. १. ४. १६।

(४) पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा।
कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥ या. स्मृ. १. ६३।

(५) वी. मि. सं. भा. २, पृ. ८२२ पर उद्धृत।

के लिए मैं कन्यादान करूँगा'।[1] इसके पश्चात् वह कहता है, 'मैं स्वर्णाभूषणों से अलंकृत यह कन्या तुझ विष्णु को ब्रह्मलोक जीतने की इच्छा से देता हूँ। निखिल विश्व का पालक, समस्त प्राणी तथा देव इस तथ्य के साक्षी हैं कि मैं अपने पूर्वजों की मोक्ष-प्राप्ति के लिए यह कन्यादान करता हूँ।' तदनन्तर वर को कन्या दे दी जाती है, जो उसे औपचारिक रूप से स्वीकार करता है।

(१४) प्रतिबन्ध

कन्यादान करते समय वधू का संरक्षक निम्नलिखित प्रतिबन्ध सामने रखता है: 'तुम धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति में इसका अतिचरण या अतिक्रमण न करना।' इसके उत्तर में वर वचन देता है, 'मैं इसका अतिचरण नहीं करूँगा'।[2] तीन बार यही वचन माँगा तथा दुहराया जाता है। वधू के साथ वस्त्र-आभूषण आदि अनेक उपयुक्त उपहार भेंट में दिये जाते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार कोई भी यज्ञ बिना उपयुक्त दक्षिणा के पूर्ण नहीं माना जा सकता। अतः विवाह भी, जो यज्ञ का ही एक प्रकार समझा जाता है, धन तथा उपहारों के रूप में समुचित दक्षिणा के ही साथ समाप्त होना चाहिए।

(१५) एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न

वधू को स्वीकार करने के पश्चात् वर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न कन्या के संरक्षक के सामने रखता है: 'यह वधू मुझे किसने दी है?' उत्तर है 'काम ने'।[3] तब वह वधू के साथ विवाह-मंडप छोड़ देता है और एकांत में वधू पर विजय प्राप्त करने के लिए उससे इस प्रकार कहता है: 'तू अपने मन के द्वारा वायु के समान विभिन्न दिशाओं में कहाँ भ्रम रही है; हिरण्य-पर्ण वैकर्ण (वायु) तुम्हारा मन मुझमें केन्द्रित कर दे'।[4] पद्धतियों में इसे वध्वादेश नाम

---

(१) समस्तपितॄणां निरतिशयानन्दब्रह्मलोकावाप्त्यादिकन्यादानकल्पोक्तफलावाप्तये... द्वादशावरान् द्वादशापरान् पुरुषांश्च पवित्रीकर्तुमात्मनश्च श्रीलक्ष्मीनारायणप्रीतये कन्यादानमहं करिष्ये। जगन्नाथकृत विवाहपद्धति।

(२) धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या त्वयेयम्। 'नातिचरामि' इति वरः।

(३) कोऽदात्। काम इति।

(४) यदेषि मनसादूरं दिशोऽनुपवमानो वा। हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां कृणोतु। पा. गृ. सू. १. ४. १६।

दिया गया है। इसके बाद समीक्षण आता है। वर वधू की ओर देखता हुआ इस मन्त्र का उच्चारण करता है, 'अदुष्ट नेत्रों से, अपने पति के लिए मृत्यु की वाहिका न बनकर, तू घरेलू पशुओं के सौभाग्य की वाहिका बन, तू आनन्द तथा तेज से ओतप्रोत हो। तू वीरप्रसू हो, तू देवत्व तथा मैत्रीभाव से युक्त हो। तू मनुष्यों तथा पशुओं के लिए सौभाग्य ला'।[1]

(१६) रक्षा-सूत्र

अब कङ्कण-बन्धन की क्रिया आती है।[2] यह रीति प्राचीन काल में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि ऐसा विश्वास था कि अपने हाथ में कङ्कण या रक्षा बँधे होने के कारण इस समय से समावेश (यौन-सम्बन्ध) के पूर्व वर और वधू को किसी प्रकार के सङ्कट या आपत्ति का सामना नहीं करना पड़ता था।[3] आजकल सजावट के अतिरिक्त इसका कोई मूल्य नहीं रह गया है। कुछ प्रान्तों में इसे केवल मङ्गलसूचक माना जाता है और इसे 'मङ्गलसूत्र' कहा जाता है। गृह्यसूत्रों में इस प्रथा का उल्लेख नहीं है और यह धर्मग्रन्थों की अपेक्षा लौकिक ही अधिक है।

(१७) वधू के विकास का संकेत

अब वर निम्नलिखित ऋचा का उच्चारण करता है, जिसके द्वारा वह वधू को यह ध्यान दिलाता है कि अब वह युवती हो चुकी है और उन दोनों को पति और पत्नी के दायित्वपूर्ण जीवन में प्रवेश करना है, 'प्रथम सोम ने तुझे पत्नी के रूप में प्राप्त किया, तब गन्धर्व ने; अग्नि तेरा तृतीय पति था और चौथा मैं मनुष्यजन्मा। सोम ने तुझे गन्धर्व को दिया, गन्धर्व ने अग्नि को दिया, और अग्नि ने ऐश्वर्य तथा पुत्रों के लिए तुझे मेरे हाथों में सौंप दिया है'।[4] सायण

---

(१) वही. १. ४. १७।

(२) द्रष्टव्य, माण्डलिककृत पद्धति।

(३) दि आर्यन मैरेज, पृ. २४-२५।

(४) सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजः॥
सोमोऽददद् गन्धर्वाय गन्धर्वोऽददग्नये।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्॥

ऋ. वे. १०. ८५. ४०,-४१।

ने इन रहस्यपूर्ण ऋचाओं की व्याख्या इस प्रकार की है : 'अभी जब काम-भोग की इच्छा भी उत्पन्न नहीं हो पाती, उस समय सोम कन्या का उपभोग करता है; जब यह आरम्भ ही होती है, तो गन्धर्व उसे ग्रहण कर लेता है, और विवाह के समय वह उसे अग्नि को हस्तान्तरित कर देता है, जिससे कि मनुष्य उसे (उसकी क्षमताओं व शक्तियों का पूर्ण विकास होने पर) ऐश्वर्य तथा सन्तति उत्पन्न करने के लिए प्राप्त करता है'।[1] स्मृतियों की व्याख्या अधिक स्पष्ट है : 'स्त्रियों का भोग प्रथम सोम, गन्धर्व और अग्निदेव करते हैं और मनुष्य तो उनके पश्चात् ही उन्हें प्राप्त करते हैं। किन्तु इससे स्त्रियों को कोई दोष या पाप नहीं लगता। सोम ने उन्हें पवित्रता दी, गन्धर्व ने वाणी और अग्नि ने सर्वमेधत्व। अतः स्त्रियों की पवित्रता सदा बनी रहती है'।[2] स्त्री के शारीरिक तथा मानसिक विकास के विभिन्न स्तरों की व्याख्या अन्यत्र इस प्रकार की गई है : 'सोम सस्याधिपति या वनस्पति-जगत् का अधिपति है तथा वह मन का भी अधिष्ठाता है।'''कन्या का शारीरिक विकास सोम देवता के अधीन है। कन्या के मन का विकास भी उसी की देख-रेख में होता है।''' गन्धर्व सौन्दर्य का स्वामी है। कन्या के शरीर को सुन्दर बनाना तथा उसकी वाणी को मधुरता प्रदान करना उसका कार्य है। उसी की देखरेख में उसके नितम्ब विकसित होते हैं तथा स्तन गोल और आकर्षक हो जाते हैं। नेत्र प्रेम की भाषा बोलने लगते हैं तथा सम्पूर्ण शरीर में कुछ विचित्र सौन्दर्य व्याप्त हो जाता है। अपना कार्य समाप्त होने के पश्चात् वह उसे अग्नि को हस्तान्तरित कर देता है। अग्नि कौन है? वह अग्नि-तत्त्व का अधिदेवता है। वसन्त तथा ग्रीष्म में प्रकृति आनन्द और रंग से रँग जाती है; पशु वसन्त में ही उल्लसित होते हैं।'''अग्नि उन्हें फलवान् बनाता है। वही स्त्रियों में रज लाता है, जिसके पश्चात् स्त्रियां प्रजनन में समर्थ हो जाती हैं, तब अग्नि उसे अपने चतुर्थ मनुष्य-

---

(१) उक्त ऋचाओं पर सायण का भाष्य।

(२) पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः।
गच्छन्ति मानुषान् पश्चान्नैता दुष्यन्ति धर्मतः॥
सोमः शौचं ददौ तासां गन्धर्वश्च तथा गिरम्।
पावकः सर्वमेधत्वं मेध्यत्वं योषितां सदा॥ अ. स्मृ. १३७।

जन्मा पति को सौंप देता है' ।[1] हिन्दुओं का विश्वास है कि कन्या के शारीरिक और मानसिक विकास के विभिन्न स्तरों के विभिन्न देवता अधिष्ठाता हैं और ये देवता पौराणिक रूप से उसके पति माने जाते हैं।

(१८) राष्ट्रभृत तथा अन्य यज्ञ

इसके पश्चात् अनेक होम होते हैं, जिनमें राष्ट्रभृत, जय, अभ्यातन और लाजाहोम प्रमुख है ।[2] प्रथम तीन होमों में वर को ज्ञात या अज्ञात अनिष्टकारी शक्तियों पर विजय तथा उनसे रक्षा के लिए प्रार्थनाओं का समावेश है। अन्तिम होम उर्वरता तथा समृद्धि का प्रतीक है ।[3] वधू का भाई अपनी बँधी हुई अंजलि से अपनी बहन की बँधी हुई अंजलि में शमीपत्रों सहित कुछ पक्व अन्न डालता है। वधू खड़ी होकर दृढतापूर्वक बँधी हुई अंजलि से उनका होम करती है। उस समय वर इन ऋचाओं का उच्चारण करता है : 'कन्या ने अर्यमन् देव के लिए होम कर दिया है, वह अग्नि का यजन करे; हे अर्यमन्, हमें यहाँ से मुक्त करो किन्तु पति-गृह से नहीं, स्वाहा।' कन्या अन्न की आहुति देते समय इस प्रकार स्तुति करती थी, 'मेरा पति दीर्घायु हो, मेरे सम्बन्धी ऐश्वर्यसम्पन्न हों, स्वाहा। मैंने यह अन्न अग्नि में छोड़ दिया है, यह तुम्हें (पति को) ऐश्वर्यदाता हो तथा मुझे तुमसे युक्त कर दे। अग्नि हमें यह वर दे, स्वाहा!'

(१९) पाणिग्रहण

अब पाणिग्रहण आता है ।[4] वर वधू का दाहिना हाथ यह कहता हुआ ग्रहण करता है, 'मैं सौभाग्य के लिए तेरा पाणिग्रहण करता हूँ; तू मुझ पति के साथ दीर्घायु (जरदष्टि) हो। भग, विष्णु, सविता और पुरन्धि, इन देवों ने मुझे मेरे हाथ सौंपा है, जिससे हम अपने घर पर शासन करें। मैं यह

(१) दि आर्यन मैरेज, पृ. २६-२७।

(२) पा. गृ. सू. १. ६. १-२।

(३) इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव। वही।

(४) ऋ. वे. १४. १. ४९; शा. गृ. सू. १. १३. २; आ. गृ. सू. १. ७. ३.; गो. गृ. सू. २. २. १६; ख. गृ. सू. १. ३. १७. ३१; हा. गृ. सू. १. ६. २०. १।

हूँ। तू वह है। तू वह है, मैं यह हूँ। मैं साम हूँ, तू ऋक् है; मैं नभ हूँ, तू पृथ्वी है। आओ, हम दोनों विवाह करें। हम अपनी शक्ति एक करें। हम सन्तान उत्पन्न करें। हमें अनेक दीर्घायु पुत्र प्राप्त हों। सौ शरद् ऋतुओं पर्यन्त हमारे मन प्रेमपूर्ण, विशुद्ध तथा प्रकाशमान रहें; सौ शरद् ऋतुओं तक हम जीवित रहें; सौ शरद् ऋतुओं पर्यन्त हमारे श्रवणों में सुनने की क्षमता हो।' यह क्रिया कन्या का दायित्व तथा भार सँभालने का प्रतीक है। यह दायित्व अत्यन्त पवित्र है, क्योंकि कन्या केवल उसके पिता द्वारा ही नहीं, उपर्युक्त अधिष्ठातृ देवताओं द्वारा भी दी हुई समझी जाती है, जो प्रत्येक गम्भीर अनुबन्ध के साक्षी हैं। अन्तिम प्रार्थना सफल, उन्नतिशील तथा आनन्दपूर्ण वैवाहिक जीवन का प्रतीक है।

(२०) अश्मारोहण

अपने प्रति भक्ति तथा पातिव्रत्य में पत्नी को सुदृढ़ करने के लिए वर, अग्नि के उत्तर में, निम्नलिखित मन्त्र को दुहराते हुए, वधू का दाहिना पैर पत्थर पर रखवाता है,[1] 'इस पत्थर (अश्मन्) पर तू आरूढ़ हो; तू पत्थर के समान स्थिर हो; तू शत्रुवत् आचरण करनेवालों को अपने पैरों से रौंद डाल, तथा शत्रुओं को मुँह की दे।' यहाँ पत्थर शत्रुओं के दमन की शक्ति तथा उसमें दृढ़ता का प्रतीक है। इस क्रिया को अश्मारोहण कहा जाता है।

(२१) स्त्रियों का यशोगान

इस प्रकार पति के प्रति अपने कर्तव्य में दृढ़ हो जाने पर वर स्त्रियों की प्रशंसा में एक गीत गाता है, जिनका प्रतिनिधित्व यहाँ देवी सरस्वती करती हैं, 'हे सरस्वति, अपने इस कार्य की पूर्ति करो; हे सुभगे, हे उदार (वाजिनीवति), हम सर्वप्रथम तुम्हारी स्तुति करते हैं; तुम्हीं से सब कुछ

---

(१) शां. गृ. सू. १. १३. १०; आ. गृ. सू. १. ७. ७; पा. गृ. सू. १. ७. १; गो. गृ. सू. २. ३. ३; ख. गृ. सू. १. ३. १९; हा. गृ. सू. १. १९. १८; आप. गृ. सू. ५. ३।

(विश्वभूत) उत्पन्न हुआ तथा तुम्हीं में निवास करता है; मैं आज उस गाथा का गान करूँगा, जो स्त्रियों का उत्तम यश है।[1]

(२२) अग्नि-प्रदक्षिणा

इसके पश्चात् वर-वधू अग्नि की प्रदक्षिणा करते हैं और वर अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण करता है 'उन लोगों ने वधू-यात्रा (वहतु) के साथ सूर्या के द्वारा तेरी प्रदक्षिणा कराई। हे अग्ने, तू पुनः पतियों को प्रजा या सन्ततिसहित पत्नी (जाया) प्रदान कर'।[2] लाजाहोम से लेकर समस्त क्रियाएँ पुनः दुहरायी जाती हैं और वधू अग्नि में अवशिष्ट लाजाओं की टोकरी से 'भगाय स्वाहा', कहती हुई आहुति देती है।

(२३) सप्तपदी

तदनन्तर सप्तपदी होती है।[3] पति पत्नी को उत्तर दिशा में निम्नलिखित शब्दों के साथ सात पग चलाता है, 'ऐश्वर्य के लिए एकपदी हो, ऊर्ज के लिए द्विपदी हो, भूति के लिए त्रिपदी हो, सुखों के लिए चतुष्पदी हो, पशुओं के लिए पञ्चपदी हो, ऋतुओं के लिए षट्पदी हो, हे सखे, मुझसे सख्य के लिए सप्तपदी हो। इस प्रकार तू मेरी अनुव्रता हो।' उपर्युक्त पदार्थ सुखी पारिवारिक जीवन के लिए अनिवार्य हैं। वैधानिक दृष्टि से यह क्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सप्तपदी के पश्चात् वैध रूप से विवाह पूर्ण समझा जाता है।[4]

---

(१) सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति।
यान्त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजया यस्यामतः॥
तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः॥

(२) तुभ्यमग्ने पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह। पुनः पतिभ्यो जायान्दा अग्ने प्रजया सह।

(३) पा० गृ० सू० १. ८. १।

(४) स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात् सप्तमे पदे।
पाणिग्रहणमन्त्रास्तु नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विवाहात् सप्तमे पदे॥ म० स्मृ० ८. ७०।
नोदकेन न वाचा वा कन्यायाः पतिरुच्यते।
पाणिग्रहणसंस्कारात् पतित्वं सप्तमे पदे॥ या० स्मृ० १. ८४।

(२४) वधू का अभिषिञ्चन

सप्तपदी के पश्चात् वधू के सिर पर इस मन्त्र के साथ अभिषिञ्चन किया जाता है : 'ये सौभाग्यशाली, अधिकतम सौभाग्यशाली जल (आपः), ये शान्त, शान्ततम जल तुम्हें औषध प्रदान करें'।[1] सभी धर्मों में जल का औषध-तत्वों तथा पवित्रता से सम्पन्न होना सुप्रसिद्ध है। इस विधि के द्वारा वधू को शारीरिक दोषों से मुक्त तथा वैवाहिक जीवन के लिए पवित्र समझा जाता है।

(२५) हृदयस्पर्श

अब वधू के दाहिनी ओर जाकर वर इन शब्दों के साथ उसके हृदय का स्पर्श करता है, 'मैं अपने व्रत में तेरा हृदय धारण करता हूँ; तेरा चित्त मेरे चित्त का अनुगामी (अनुचित्त) हो; मेरी वाणी में तू एकाग्र मन से (एकमनाः) निवास कर (जुषस्व)। प्रजापति तुझे मुझ से सम्बद्ध करें'।[2] हृदय भावों का केन्द्र है। इसके स्पर्श द्वारा वर प्रतीक रूप से उन्हें उद्‌बुद्ध तथा प्रवाहित करना चाहता है, जिससे वे उसके हृदय से मिल जाएँ और इस प्रकार स्नेह के संसार में उन्हें संयुक्त करें।

(२६) वधू को आशीर्वाद

निम्नलिखित शब्दों का उच्चारण करता हुआ वर उपस्थित अभ्यागतों तथा सम्बन्धियों को वधू को आशीर्वाद देने के लिए आमन्त्रित करता है : 'यह स्त्री सुमङ्गली है, आओ और इसे देखो, उसे सौभाग्य प्रदान कर आप लोग विदा हों'।[3] इस समय सिन्दूर-दान होता है। आधुनिक वैवाहिक विधि-विधानों की यह सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिया है, किन्तु गृह्यसूत्रों में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है। पद्धतियों में कहा गया है, 'चलन (आचार) के अनुसार सिन्दूर-दान आदि किया जाता है'।[4] आजकल इस प्रथा को सुमङ्गली कहा जाता है। यह नाम उपर्युक्त आशीर्वाद में आये हुए 'सुमङ्गली' शब्द के आधार पर पड़ा है।

---

(१) पा. गृ. सू. १. ८. ५।

(२) वही १. ८. ८।   (३) वही, १. ८. ९।

(४) अत्राचारात् स्त्रियः सिन्दूरदानादि कुर्वन्ति।

गदाधर पद्धति, पा. गृ. सू. १. ८. ९ पर उद्धृत।

(२७) वृषभ-चर्म पर बैठना

गृह्यसूत्रों के अनुसार, आशीर्वाद के पश्चात्, एक सबल पुरुष स्त्री को झटके के साथ पकड़कर पूर्व या उत्तर दिशा में मार्ग से दूरस्थित घर में एक लाल बैल के चमड़े पर इन शब्दों के साथ बिठाता था, 'यहाँ गाय, घोड़े और मनुष्य बैठें। यहाँ सहस्रों दानों के साथ यज्ञ हों, यहाँ पूषा आसीन हो'।[1] बैल का चमड़ा उर्वरता तथा समृद्धि का प्रतीक माना जाता था, जैसा कि इस विधि के साथ की जानेवाली स्तुति से स्पष्ट है। आजकल न तो कन्या को झटके के साथ पकड़ा ही जाता है और न बैल के चमड़े की ही आवश्यकता होती, क्योंकि प्रथम अनुचित समझा जाता है और दूसरी वस्तु अपवित्र मानी जाती है। किन्तु प्रार्थना के पश्चात् वर-वधू अन्य स्त्रियों के साथ घर के एक कमरे में चले जाते हैं, जहाँ वर के साथ अनेक परिहासपूर्ण खेल खेले जाते हैं।

(२८) स्थानीय प्रथाएँ

वैवाहिक क्रियाओं की इस स्थिति में स्थानीय प्रथाओं तथा परम्परा के अनुसार अनेक विधि-विधान सम्पन्न होते हैं। पारस्कर-गृह्यसूत्र के अनुसार, 'ग्रामवचन या स्थानीय प्रथाओं का पालन करना चाहिए'।[2] गदाधर ग्रामवचन की व्याख्या इस प्रकार करते हैं, 'सूत्र में विहित न होने पर भी वधू और वर का मङ्गल-सूत्र-धारण, गले में माला पहनना, वर और वधू के वस्त्रों में ग्रन्थि देना, वट-वृक्ष का स्पर्श करना, वर के वक्षःस्थल पर दही के लेप करना आदि, वर के पहुँचने पर नाक छूना आदि, तथा अन्य क्रियाएँ, जिन्हें ग्राम की स्त्रियाँ तथा वृद्ध कहें, करनी चाहिएँ'।[3]

(२९) विवाह की दक्षिणा

अन्त में संस्कार करानेवाला पुरोहित दक्षिणा प्राप्त करता है। गृह्यसूत्रों के अनुसार 'आचार्य को ब्राह्मण द्वारा एक गाय, क्षत्रिय द्वारा एक ग्राम तथा

---

(१) पा. गृ. सू. १. ८. १०। (२) वही, १. ८. ११।

(३) विवाहे श्मशाने च वृद्धानां स्त्रीणां च वचनं कुर्यु। सूत्रे अनुपदिष्टमपि वधूवरयोर्मङ्गलसूत्रं गले मालाधारणमादि, पा. गृ. सू. १. ८. ११. पर गदाधर।

वैश्य द्वारा एक घोड़ा दक्षिणा में दिया जाना चाहिए।[1] आज कल गाय तो केवल औपचारिक दक्षिणा है, जिसके साथ यथाशक्ति द्रव्य तथा वस्त्र दिये जाते हैं।'

(३०) सूर्य-दर्शन तथा ध्रुव-दर्शन

यद्यपि अब विवाह संस्कार समाप्त हो जाता है, किन्तु अभी विवाह से सम्बन्धित अनेक क्रियाएँ करने को शेष रहती हैं। उनमें से कुछ तो स्वभावतः प्रतीकात्मक हैं। यदि विवाह दिन में होता है तो वधू को 'वह नेत्र आदि'[2] शब्दों के साथ सूर्य की ओर देखना होता है। रात्रि में निम्नलिखित शब्दों के साथ वर वधू को ध्रुव तारा दिखाता है, 'तू ध्रुव है, मैं तुझ ध्रुव को देखता हूँ। हे चपले, तू मेरे साथ ध्रुव हो। बृहस्पति ने तुझे मेरे हाथ सौंपा है; तू अपने मुझ पति से सन्तान प्राप्त करती हुई सौ शरद् ऋतुपर्यन्त जीवित रह'।[3] अन्य आचार्यों के अनुसार वधू को अरुन्धती तथा सप्तर्षि-मण्डल भी दिखाना चाहिए।[4] भले ही वह उन्हें देखती हो या नहीं, प्रश्न करने पर उससे 'देखती हूँ' यह उत्तर देने के लिए कहा जाता है। ये क्रियाएँ दाम्पत्य-जीवन की दृढ़ता की सूचक थीं।

(३१) त्रिरात्र-व्रत

वैवाहिक विधि-विधानों के पश्चात् त्रिरात्र-व्रत का क्रम आता है।[5] 'एक वर्ष, बारह दिन, छः रात्रि अथवा न्यूनतम तीन रात्रिपर्यन्त नव-दम्पति को लवण-क्षारयुक्त भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए; भूमि पर शयन करना चाहिए और सहवास से दूर रहना चाहिए। ये धार्मिक विधियाँ हैं जिनका पालन पति-पत्नी को करना चाहिए। किन्तु आजकल नव-दम्पति पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं रहते और वैवाहिक उत्सवों में वे सक्रिय भाग लेते हैं। प्राचीनकाल में उपर्युक्त व्रत के अन्त में एक बड़ी ही मनोरंजक विधि प्रचलित थी। नव-दम्पति आभूषण धारण कर एक ही शय्या पर लेट जाते थे और उनके मध्य में चन्दन-लेप से लिपा तथा वस्त्र से आवृत, उदुम्बर की

---

(१) पा. गृ. सू. १. ८. १५-१७। (२) पा. गृ. सू. १. ८. ७।
(३) वही, १. ८. १९। (४) आ. गृ. सू. १. ७. २२।
(५) पा. गृ. सू. १. ८. २१।

लकड़ी का बना हुआ विश्वावसु गन्धर्व रहता था। पक्व-होम के अनुष्ठान के पश्चात् वर-वधू एक भली-भाँति सुसज्जित कक्ष में जाते और एक अत्यन्त महत्त्व के मन्त्र का उच्चारण किया जाता था, 'हे विश्वावसु, हमारी इस शय्या से उठो, हम प्रार्थना करते हैं, तुम उठो। तुम किसी ऐसी कन्या को ढूँढ़ लो जिसकी आयु अभी स्वल्प हो और जिसे तुम्हारी सहायता की अपेक्षा हो। मेरे निकट तुम इस वधू, मेरी पत्नी को छोड़ दो और इसे मुझसे संयुक्त होने दो;' 'उसका पति तुम्हें प्रणाम करता है और तुमसे इस अनुग्रह की याचना करता है। जाओ और तुम किसी अप्रौढ़ कन्या को खोज निकालो, जो अभी अपने पिता के घर रहती हो। ऐसी कन्या पर तो तुम्हारा जन्म-सिद्ध अधिकार है'।[1] इसके पश्चात् वह दण्ड फेंक दिया जाता था। इस क्रिया के यथार्थ महत्त्व को स्पष्ट करना कठिन है, क्योंकि इस प्रथा का उद्भव उन विश्वासों में हुआ, जो कि आज हमारे लिए अचिन्तनीय हैं। डॉ० अ० च० दास की यह धारणा है कि '*इस दण्ड में विश्वावसु गन्धर्व के रहने का विश्वास था,* जो उनके ब्रह्मचर्य का साक्षी था'।[2] ओल्डेनबर्ग के आधार पर ए० बी० कीथ लिखते हैं कि इस चमत्कार का वास्तविक आधार अनिश्चित है, सहवास से पृथक् रहने के द्वारा अमङ्गलकारी भूत-प्रेतों को भ्रम में डाल देना तथा उन्हें दूर कर देना एक सम्भव कारण हो सकता है। गन्धर्व होने के नाते विश्वावसु विवाह के पश्चात् भी स्त्री के साथ सम्बन्ध का दावा करता प्रतीत होता है, और स्वभावतः पहले उसे प्रसन्न करना तथा पश्चात् औपचारिक रूप से उसे दूर कर देना चाहिए। किन्तु संपूर्ण संसार में प्रचलित अन्य समान क्रियाओं के साथ इसका सम्बन्ध इस प्रथा की व्याख्या के विषय में सुरक्षा की भावना के विरुद्ध चेतावनी है'।[3] अ० च० दास की अपेक्षा कीथ की व्याख्या अधिक संभव प्रतीत होती है। वैदिक काल में यह विश्वास प्रचलित था कि अपने विकास के क्रम में कन्या का उपभोग सोम, गन्धर्व और अग्नि करते हैं और अन्त में वह पुरुष को दी जाती है, जो उसका चतुर्थ पति है।

(१) बौ. गृ. सू. १. ५. १७, १८।

(२) ऋग्वेदिक कल्चर, पृ. ३८१।

(३) रिलीजन एण्ड फिलासफी ऑव् दि वेदाज, पृ. ३७; तु. ओल्डेनबर्ग, रेलि. डेस वेद, पृ. ८८, २४५।

गृह्यसूत्रों में भी इसका उल्लेख किया गया है।[1] संभवतः लोग यह सोचते रहे होंगे कि विवाह के पश्चात् भी गन्धर्व अभी पीछे पड़ा ही रहता है, अतः उससे औपचारिक रूप से वधू को छोड़ने के लिए कहना वे आवश्यक समझते रहे होंगे।

त्रिरात्र-व्रत का उद्देश्य वर-वधू को यौन-जीवन में संयत मार्ग का पाठ पढ़ाना प्रतीत होता है। पति और पत्नी दोनों ही यौवन के आवेश से ओत-प्रोत रहते थे और वे राग के कारण एक दूसरे के प्रति आकृष्ट भी होते थे। अतः यह सोचना स्वाभाविक ही है कि वे शीघ्र ही शारीरिक सम्बन्ध करने और फलस्वरूप विवाह की क्रियाओं की शीघ्र ही समाप्ति के लिए भी अत्यन्त उत्सुक रहते थे। किन्तु नहीं, अभी उन्हें यह सीखना तथा अनुभव करना शेष था कि यथार्थ प्रेम कामुकता-पूर्ण या कामज न होकर पूर्ण आत्मसंयम पर आधारित है। उन्हें न्यूनतम तीन रात्रि तथा अधिकतम एक वर्ष पर्यन्त संयम का जीवन व्यतीत करना होता था[2]। संयम की अवधि जितनी ही दीर्घ होती, उतनी ही उत्तम सन्तान प्राप्त करने का भी अवसर था[3]।

जब प्रौढ़ युवक-युवतियों के विवाह होते थे, उस समय त्रिरात्र-व्रत की वास्तविक आवश्यकता थी। किन्तु बाल-विवाहों के प्रचलित होने पर यह अर्थहीन हो गया। रूढ़िवादी परिवारों में यह चतुर्थी-कर्म के साथ, जो विवाह के पश्चात् चतुर्थ रात्रि को किया जाता है, समाप्त माना जाता है। अधिकांश में इस पर कोई भी ध्यान नहीं दिया जाता। वधू के घर पर तीन दिनों के निवास का समय नृत्य, संगीत तथा भोज आदि में ही व्यतीत हो जाता है।

(३२) वधू का उद्वाह और उसे आशीर्वाद

प्राचीनकाल में विवाह संस्कार की समाप्ति होने पर विवाहित दम्पति उपयुक्त वाहन से अपने घर की ओर प्रस्थान करते थे[4] और जब वधू उस पर आरूढ़ होती थी, तो पति उससे कहता था, 'अब तू मेरी स्वामिनी होगी और मेरे लिए दस पुत्र उत्पन्न करेगी। अपने श्वसुर तथा सास की सम्राज्ञी

(१) अ. वे. १४. २. ३, ४; पा. गृ. सू. १. ४. १७।

(२) तु. ऋग्वेदिक कल्चर, पृ. ३८१।

(३) बौ. गृ. सू. १. ७. ११।

(४) पा. गृ. सू. १. १०. ११।

हो। तू इनकी तथा घर की अन्य पुत्र-वधुओं, शिशुओं, ऐश्वर्य तथा अन्य सभी वस्तुओं की सम्राज्ञी होगी'।[1] वर्तमान हिन्दू समाज में विवाह के अवसर पर वधू अपने नवीन घर को नहीं भेजी जाती, और यदि किसी प्रकार भेजी भी जाती है तो औपचारिक रूप से और वह भी केवल दो या तीन दिन के लिए। आजकल सामान्यतः द्वितीय विवाह या गौना प्रचलित है। इसके अतिरिक्त, बाल-वधू में न तो उक्त वक्तव्य को समझने की ही क्षमता होती है और न अपने नये घर की स्वामिनी बनने का विशेषाधिकार ही उसे प्राप्त होता है।

(३३) गृह-अग्नि की प्रतिष्ठा : चतुर्थी-कर्म

गृह्यसूत्रों के अनुसार विवाह के पश्चात् चतुर्थ रात्रि में, प्रातःकाल पति गृह में गृह्य अग्नि की प्रतिष्ठा कर उसके दक्षिण में अपना आसन रखता, उत्तर में ब्रह्मा के लिए एक जल का पात्र रखता, यज्ञिय अन्न पकाता, दो आज्य-भागों का होम करता और अन्य आज्याहुतियाँ इन मन्त्रों के साथ देता था, 'हे अग्ने! शोधन! तू देवताओं का शोधक है। मैं ब्राह्मण रक्षा की इच्छा से तेरी स्तुति करता हूँ। उसमें रहनेवाला वह तत्त्व, जो उसके पति की मृत्यु लानेवाला है दूर हो, स्वाहा!' इसी प्रकार पति सन्तति, पशु, गृह तथा यश की रक्षा के लिए, वायु, सूर्य, चन्द्र और गन्धर्व की स्तुति करता है। तब वह वधू का अभिषिञ्चन इस मन्त्र के साथ करता था, 'तुझ में रहनेवाले, तेरे पति, सन्तति, पशु, घर और यश के मारक तत्त्व को मैं उस तत्त्व में परिणत कर देता हूँ, जो तेरे उपपति या जार का मृत्युवाहक हो। इस प्रकार वृद्धावस्था-पर्यन्त मेरे साथ निवास कर।' यह क्रिया चतुर्थी-कर्म कहलाती है,[2] क्योंकि यह विवाह के पश्चात् चौथे दिन सम्पन्न होती है। आजकल यह घर के घर पर न होकर, बारात के वापस लौटने के पूर्व वधू के पिता के ही घर पर होती है। इस

(१) कुछ लोगों के अनुसार यह वधू का अपने नये घर पहुँचने पर किया जानेवाला स्वागत-सूचक सम्बोधन है।

(२) पा. गृ. सू. १. ११. १२; गो. गृ. सू. २. ५; शां. गृ. सू. १. १८. १९; ख. गृ. सू. १. ४. २३; हि. गृ. सू. १. १३. ११; आ. गृ. सू. ८. ८।

क्रिया का प्रयोजन वधू से उन दुष्ट प्रभावों का निराकरण है, जो परिवार के लिए हानिकर हो सकते हैं।

(३४) स्थाली-पाक

चतुर्थी-कर्म की समाप्ति पर, जब कि यह वर के घर पर होता था, पति पत्नी को कुछ पक्व भोजन निम्न शब्दों के साथ खिलाता था, 'मैं अपने प्राणों से तेरे प्राणों को, अस्थियों से अस्थियों को, मांस से मांस को और त्वचा से तेरी त्वचा को धारण करता हूँ'।[1] आगे चलकर यह प्रीतिभोज के रूप में परिवर्तित हो गया, जो अब द्वितीय विवाह या गौने के पश्चात् किया जाता है। पारस्कर गृह्यसूत्र पर गदाधर लिखता है कि 'इस प्रथा के अनुसार वर स्त्री के साथ भोजन करता है'।[2] हिन्दू धर्मशास्त्रों में पत्नी के साथ भोजन करना निषिद्ध है। किन्तु यह एक अपवाद है, जिसमें कोई भी दोष या पाप नहीं है। यह विधि पति और पत्नी दोनों के ऐक्य का प्रतीक है।

(३५) विवाह-मण्डप का उत्थापन

एक अन्य क्रिया के अनुसार, जिसका गृह्यसूत्रों में उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु पद्धतियों में विधान है, विभिन्न देवता अपने-अपने स्थान को विदा कर दिये जाते हैं और विवाह-मण्डप हटा दिया जाता है।[3] यह विवाह के पश्चात् किसी सम दिन को सम्पन्न होना चाहिए। पञ्चम और सप्तम के अतिरिक्त अन्य विषम दिन निषिद्ध हैं।

---

(१) प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधामि अस्थिभिरस्थीनि मांसैर्मांसानि त्वचा त्वचम्। पा. गृ. सू. १. ११. ५।

(२) अत्र स्त्रिया सह वरोऽपि समाचाराद् भोजनं करोति। स्त्रिया सह भोजनेऽपि न दोष इत्याह हेमाद्रौ प्रायश्चित्तकाण्डे गालवः—

एकयानसमारोहः एकपात्रे च भोजनम्।
विवाहे पथि यात्रायां कृत्वा विप्रो न दोषभाक्॥
अन्यथा दोषमाप्नोति पश्चाच्चान्द्रायणं चरेत्॥

(३) समे च दिवसे कुर्याद्देवकोत्थापनं बुधः।
षष्ठं च विषमं नेष्टं मुक्त्वा पञ्चमसप्तमौ॥ गर्गपद्धति में उद्धृत।

१५. हिन्दू विवाह का प्रतीकत्व

(अ) प्रतीक का अर्थ—अपने समान गुणों या विशेषताओं, अथवा वास्तविक या मानसिक सम्बन्ध के कारण, जिस वस्तु को देखते या सुनते ही कोई अन्य सूचित वस्तु तत्काल ही बरबस स्मरण हो आती हो, उसे प्रतीक कहा जाता है। प्रतीक अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं होता। यह तो एक वाहन के समान है जो अपने से भिन्न अन्य किसी वस्तु का वहन करता है। यह अभिव्यक्ति का एक प्रकार है, जो अमूर्त्त, रहस्यपूर्ण तथा अपरिचित अथवा अतिप्राकृत भावों को जनसाधारण के समक्ष सजीव कर देता है। प्राचीनकाल में, जब मनुष्य की कल्पना-शक्ति अपेक्षाकृत सबल थी किन्तु वाणी का इतना समुचित विकास न हो सका था कि जिससे विचारों की प्रत्येक छाया को अभिव्यक्ति प्रदान की जा सके, प्रतीकों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। धर्मों तथा पौराणिक कथाओं में सामान्यतः उनका व्यवहार होता था। किन्तु आज भी उनका मूल्य समाप्त नहीं हुआ है। आधुनिकतम राजनीतिक विचारधाराएँ भी, जो धर्म का न्यूनतम उपयोग करती हैं, अपने उद्देश्यों और आदर्शों के लिए प्रतीकों का प्रयोग करती हैं।

(आ) विवाह संस्कार और प्रतीक—हिन्दू विवाह, जिसका अनुष्ठान उपर्युक्त विधि-विधानों द्वारा सम्पन्न होता है, के आधुनिक अर्थ में एक सामाजिक अनुबन्ध न होकर, एक धार्मिक संस्था व संस्कार है। इससे हमारा तात्पर्य यह है कि विवाह में वर और वधू, इन दो पक्षों के अतिरिक्त, तीसरा अतिमानव, आध्यात्मिक अथवा दैवी तत्त्व भी वर्तमान है। दोनों पक्षों की दैहिक स्थिति सदैव परिवर्तन का विषय है, अतः वह विवाह का स्थायी आधार नहीं हो सकती। पति और पत्नी के मध्य स्थायी सम्बन्ध का अस्तित्व इस तृतीय तत्त्व पर ही निर्भर करता है। पति और पत्नी केवल परस्पर एक दूसरे के प्रति ही उत्तरदायी नहीं होते, किन्तु उन्हें इस तृतीय तत्त्व के प्रति और भी महत्तर निष्ठा रखनी पड़ती है। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक विशुद्ध सामाजिक तथा भौतिक अनुबन्ध में यह धार्मिक या रहस्यात्मक तत्त्व है। इसके बिना दाम्पत्य जीवन का आकर्षण और स्थायित्व नष्ट हो जाता है। हिन्दू विवाह का रहस्यात्मक पार्श्व प्रतीकों के व्यवहार को आवश्यक बना देता है।

(इ) विवाह योग्यतम दम्पति का एकीकरण— हिन्दू वैवाहिक विधि-विधानों के आरम्भ में ही एक क्रिया है, जो योग्यतम स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की प्रतीक है। यह क्रिया, जो अर्घ्य[1] कहलाती है, और जिसके द्वारा वर को महान् सम्मान दिया जाता है, यह सूचित करती है कि वह अपने समकक्षों में श्रेष्ठतम है। वर के लिए एक आसन प्रस्तुत कर वधू का पिता वर से कहता है, 'महोदय, कृपया बैठिये। श्रीमन्, हम आपका अर्चन करेंगे'। वे एक आसन उसके बैठने के लिए और दूसरा उसके पैर रखने के लिए, पैर धोने तथा आचमन के लिए जल और काँसे के ढक्कन से आवृत काँसे के ही एक पात्र में मधुपर्क प्रस्तुत करते हैं। वर आसन को स्वीकार करता है और उस पर बैठते हुए कहता है, 'मैं अपने समान व्यक्तियों में उसी प्रकार श्रेष्ठतम हूँ, जिस प्रकार प्रकाशमान पिण्डों में सूर्य। जो भी व्यक्ति मेरा तिरस्कार करेगा, उसे मैं रौंद डालूँगा'।[2] इस अवसर पर सम्मानित अतिथि, अपने श्वसुर से उपर्युक्त वस्तुएँ स्वीकार करता हुआ सार्वजनिक रूप से घोषित करता है कि वह वधू के लिए योग्यतम वर है।

(ई) विवाह एक नवीन संबन्ध—वैवाहिक विधि-विधानों के कतिपय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकरण वे हैं, जो इस बात के प्रतीक हैं कि विवाह पति-पत्नी के बीच एक नवीन संबन्ध को जन्म देता है। वे उन दो छोटे-छोटे पौधों के समान सम्बद्ध होते हैं, जो भिन्न-भिन्न स्थानों से उखाड़ कर किसी एक स्थान पर लगा दिये गये हों। उन्हें अपने सामान्य स्वार्थ तथा आदर्श की दिशा में अपनी संपूर्ण शक्ति का समर्पण कर इस संबन्ध को पालना-पोसना होता है : इस प्रकार की एक विधि समञ्जन की है।[3] वधू का पिता दम्पति का समञ्जन करता है। जब यह विधि सम्पन्न होती रहती है, तो वर इस मन्त्र का उच्चारण करता है, 'समस्त देव (विश्वेदेवाः), ये जल (आपः) हम दोनों के हृदय को संयुक्त करें। मातरिश्वा, धाता तथा देष्ट्रा हमें सम्बद्ध करें'।[4] समञ्जन स्नेह

---

(१) पा. गृ. सू. १. ३. १-३२।

(२) वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः। आदि, वही. १. ३. ९।

(३) वही. १. ४. १५।

(४) समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।
सम्मातरिश्वा सन्धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥ वही।

और फलस्वरूप नव दम्पति के सम्बन्ध का प्रतीक है। इस प्रकार की एक अन्य विधि पाणिग्रहण की है।[1] वह वधू का दाहिना हाथ इस मन्त्र के साथ पकड़ता है, 'मैं तेरा हाथ सौभाग्य के लिए ग्रहण करता हूँ, तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त जीवित (जरदष्टि) रह। भग, अर्यमा, सविता, इन देवताओं ने गार्हपत्य के लिए तुझे मेरे हाथों में सौंपा है। यह मैं हूँ, वह तू है। तू वह है, मैं यह हूँ। मैं साम हूँ, तू ऋक् है; मैं द्यौ हूँ, तू पृथ्वी है। आओ, हम दोनों विवाह करें।'[2] यह क्रिया पति और पत्नी के बीच शारीरिक सम्बन्ध की प्रतीक है। इस प्रकार की अगली क्रिया है हृदयस्पर्श।[3] वधू के दाहिने कन्धे की ओर जाकर वर उसके हृदय का स्पर्श इन शब्दों के साथ करता है, 'मैं अपने व्रत में तेरा हृदय धारण करता हूँ, तेरा चित्त मेरे चित्त का अनुगामी (अनुचित्त) हो, तू मेरी वाणी में (वाचि), एकाग्रचित्त (एकमना) होकर निवास कर। प्रजापति तुझे मुझसे संयुक्त करे (युनक्तु)'।[4] यह विधि सूचित करती है कि विवाह केवल दो व्यक्तियों का शारीरिक संबन्ध ही नहीं है, वह तो दो हृदयों या दो आत्माओं का भी सम्बन्ध है। हृदय भावनाओं का केन्द्र है। इसके स्पर्श के द्वारा वर वधू के हृदय की संपूर्ण कोमल भावनाओं को उद्बुद्ध और अपनी भावनाओं से अभिन्न कर देने के लिए प्रवाहित करना और इस प्रकार मनोमय जगत् में एक यथार्थ सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इस प्रसङ्ग में एक अन्य क्रिया का भी उल्लेख किया जा सकता है। स्थालीपाक अथवा सहभोजन में वर वधू को कुछ पक्वान्न इन शब्दों के साथ खिलाता है, 'मैं (अपने) प्राणों से तेरे प्राणों को धारण करता हूँ, अपनी अस्थियों से तेरी अस्थियों को, मांस से मांस को, और त्वचा से त्वचा को धारण करता हूँ'।[5] यहाँ पति और पत्नी के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों तत्वों को संयुक्त किया जाता है।

(ट) विवाह एक सनातन तथा स्थायी संबन्ध—विवाह क्षणिक *शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति करने या कुछ काल तक परस्पर सहवास का लाभ* उठाने के लिए किया जानेवाला एक अस्थायी संबन्ध नहीं है, जो नाम मात्र की

(१) ऋ. वे. १४. १. ४९; आ. गृ. सू. १.७. ३; गो.गृ.सू. २.२.१६।
(२) वही। (३) पा. गृ. सू. १. ८. ८।
(४) मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु। वही।
(५) प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधामि, आदि। पा. गृ. सू. १. ११. ५।

असुविधा होते ही विच्छिन्न हो जाए। यह एक ऐसा संबन्ध है, जो जीवन के विभिन्न परिवर्तनों तथा संकटों की भट्ठी में पककर और भी दृढ़तर तथा स्थायी हो जाता है। यह तथ्य प्रतीक रूप से हिन्दू विवाह की अनेक क्रियाओं में प्रतिबिम्बित हुआ है। अश्मारोहण की क्रिया में वर वधू को एक प्रस्तर-खण्ड पर इन शब्दों के साथ आरूढ़ करता है, 'इस प्रस्तर (अश्मा) पर आरूढ़ हो, और तू इसी के समान (अश्मेव) स्थिर हो'।[1] पत्थर स्थिरता व शक्ति का प्रतीक है। यहाँ पत्नी को अपने पातिव्रत्य में स्थिर होने के लिए कहा जाता है। इस प्रकार की एक अन्य विधि है ध्रुवदर्शन की। रात्रि में वर वधू को निम्न लिखित मन्त्र के साथ ध्रुवनक्षत्र दिखाता है, 'तू ध्रुव है; मैं तुझे ध्रुव दिखाता हूँ। हे चपले, तू मेरे साथ ध्रुव हो। बृहस्पति ने मुझ पति द्वारा सन्तति प्राप्त करने के लिए तुझे मेरे हाथों में सौंपा है, मेरे सौ शरद् ऋतु पर्यन्त (शरदां शतम्) जीवित रह'।[2] यहां दो बातें सूचित होती हैं। प्रथम यह कि पत्नी को, आकाश में असंख्य गतिशील नक्षत्रों के मध्य ध्रुव नक्षत्र के समान, असंख्य विपदाओं में भी स्थिर रहना चाहिए। दूसरे, यह संबन्ध सौ वर्ष पर्यन्त विद्यमान रहना चाहिये, जो कि मानव-जीवन की साधारण अवधि है। इस प्रकार स्थिर तथा आजीवन संबन्ध अभीष्ट है। विवाह का यह पहलू अत्यन्त मूल्यवान् समझा जाता है और वर इसकी रक्षा के लिए सरस्वती से प्रार्थना करता है, 'हे सरस्वती, तुम इसका संवर्धन करो, हे सुभगे, हे वाजिनीवति! तुम समस्त भूतों में सर्वप्रथम हो, विश्व में जो भी कुछ है, तुम्हीं से उसका उद्भव हुआ है, और तुम्हीं में यह सम्पूर्ण विश्व स्थित है—आज मैं उस गाथा का गान करूँगा, जो स्त्रियों का उत्तम यश है'।[3]

(ऊ) विवाह का प्राणिशास्त्रीय प्रतीकवाद—विवाह का प्रथम प्रयोजन जातीय अर्थात् सन्तति उत्पन्न कर जाति की अक्षुण्णता बनाये रखना है। हिन्दू विवाह की विधि में ऐसी अनेक क्रियाएँ हैं, जो इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं और जिनका उद्देश्य इस सम्बन्ध को सफल बनाना तथा सहवास से सम्बद्ध संकटों का निराकरण और प्रजनन-विधि के विभिन्न पहलुओं

(१) आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव। शां. गृ. सू. १. ८. १९।
(२) ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि, आदि। पा. गृ. सू. १. ८. १९।
(३) पा. गृ. सू. १.७.२।

को सुविधाजनक कर देना है। श्वसुर द्वारा औपचारिक रूप से दी हुई कन्या का दान स्वीकार कर वर कन्या के अभिभावक के समक्ष एक अत्यन्त महत्व का प्रश्न प्रस्तुत करता है, 'यह वधू मुझे किसने दी है?' इसका उत्तर है, 'काम ने (दी है)'।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि सन्तति के द्वारा अपने अस्तित्व को बनाये रखने की मूल कामना ही विवाह के लिए प्रधानतः उत्तरदायी है। एक अन्य स्थान पर हम वधू के शारीरिक विकास, विवाहित जीवन के लिए उसकी तैयारी और परिणामस्वरूप सन्तति उत्पन्न करने की ओर संकेत पाते हैं। वर वधू को ध्यान दिलाता है, 'प्रथम तू सोम की वधू थी, उसके पश्चात् तुझे गन्धर्व ने प्राप्त किया, अग्नि तेरा तृतीय पति था, मैं मनुष्यजन्मा तेरा चतुर्थ पति हूँ। सोम ने तुझे गन्धर्व को दिया, गन्धर्व ने अग्नि को और अग्नि ने तुझे ऐश्वर्य (भग) तथा पुत्रों की प्राप्ति के लिए मेरे हाथ सौंपा है'।[2]

सायण ने इन ऋचाओं की व्याख्या इस प्रकार की है, 'जब कि अभी सहवास की इच्छा उद्बुद्ध ही नहीं हो पाती, उस समय सोम कन्या का उपभोग करता है; जब यह आरम्भ होती है, तब उसे गन्धर्व संभाल लेता है, और विवाह के अवसर पर वह उसे अग्नि को हस्तान्तरित कर देता है, जो क्षमता आ जाने पर उसे ऐश्वर्य (भग) तथा सन्तति उत्पन्न करने के लिए मनुष्य-जन्मा पति को सौंप देता है'।[3] स्मृतियाँ उपर्युक्त रहस्यात्मक ऋचाओं की अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करती हैं: 'सोम ने स्त्रियों को शौच दिया, गन्धर्व ने उन्हें मधुर वाणी दी और अग्नि ने उन्हें सर्वमेध्यत्व या सर्वशुचिता प्रदान की'।[4] एक आधुनिक लेखक इसको आगे स्पष्ट करता है, 'सोम सस्याधिपति या वनस्पति-जगत् का अधिदेवता है और वह मन का अधिष्ठाता है।......रोमों के सहित स्त्री का शारीरिक विकास सोमदेव की देख-रेख में होता है। उसी के निर्देशन में उसका मन भी विकसित होता है। गन्धर्व सौन्दर्य या शोभा का अधिष्ठाता है। स्त्री के शरीर को सुन्दर बनाना

(१) कोऽदात् ? काम इति।

(२) ऋ. वे. १०. ८५. ४०, ४१।

(३) उक्त ऋचा पर सायण का भाष्य।

(४) अ. स्मृ. १३७।

तथा उसकी वाणी को मधुरता प्रदान करना उसका कार्य है। उसी की देख-रेख में उसके नितम्ब विकसित होते हैं और स्तन गोल तथा आकर्षक हो जाते हैं। आँखें प्रेम की भाषा में बोलने लगती हैं और उसके अङ्ग-अङ्ग में एक विलक्षण छवि व्याप्त हो जाती है। उसका कार्य अब समाप्त हो जाता है और वह उसे अग्नि को हस्तान्तरित कर देता है। अग्नि कौन है? वह वह्नि अथवा अग्नि-तत्त्व का अधिष्ठाता है। वसन्त ऋतु में प्रकृति एक रंग तथा हर्ष से आप्लुत रहती है, अग्नि उसे फलवान् बनाता है। वही स्त्री में रजःप्रवाह लाता है और तब स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न कर सकती हैं। तब अग्नि उसे अपने चतुर्थ मनुष्यजन्मा पति को सौंप देता है'।[1] पाणिग्रहण की विधि में भी विवाह के जीवशास्त्रीय पहलू को स्पष्ट कर दिया जाता है। वर वधू से कहता है, 'मैं द्यौ हूँ, तू पृथ्वी है। हम दोनों विवाह करें। हम दोनों अपने वीर्य (रेतस्) को संयुक्त करें। हम सन्तान उत्पन्न करें। हम अनेक दीर्घायु पुत्रों को प्राप्त करें। हम दोनों स्नेहपूर्ण, प्रकाशमान मन से सन्तान उत्पन्न करते हुए सौ शरद् ऋतु देखें, सौ शरद् ऋतुओं पर्यन्त जीवित रहें'।[2] जिस प्रकार वैदिक देववाद में द्यौ और पृथ्वी (द्यावापृथ्वी) देवों अथवा द्युतिमान् नक्षत्रों के जनक-जननी हैं, उसी प्रकार पति और पत्नी से एक अपने संसार के उत्पन्न करने की आशा की जाती है।

(५) विवाह की सफलता तथा उन्नतिशीलता—वैवाहिक विधियाँ विवाह के केवल जीवशास्त्रीय प्रयोजन का ही प्रतीक नहीं हैं, विवाहित जीवन के उर्वरता तथा ऐश्वर्यसम्बन्धी अनेक प्रतीक भी उनमें निहित हैं। लाजाहोम की विधि में वधू का भाई अपनी अञ्जलि से शमीपत्रों से मिश्रित एक अन्न अपनी बहन के हाथों में डालता है। खड़ी हुई वधू अपनी दृढ़तापूर्वक बँधी हुई अञ्जलि से उनकी आहुति अग्नि में देती है, जब कि वर इन ऋचाओं का उच्चारण करता है, 'कन्या ने अर्यमा और अग्नि को आहुति दे दी है, ये देव अर्यमा हम लोगों को यहाँ से मुक्त करें, किन्तु पति के गृह से नहीं, स्वाहा।' कन्या उक्त आहुति देती हुई प्रार्थना करती है, 'मेरा पति चिरायु हो, मेरे

(१) दि आर्यन मैरेज, पृ. २६, २७।

(२) द्यौरहं पृथ्वी त्वम्। तावेहि विवहावहै सह रेतो दधावहै, आदि।
हि. गृ. सू. १. ६. २०-२१।

सम्बन्धी ऐश्वर्यसम्पन्न हों, स्वाहा। इस अन्न की आहुति मैंने अग्नि में दे दी है, वह मुझे (पति को) ऐश्वर्य प्रदान करे और मुझे तुमसे संयुक्त करे। अग्नि हमें अमुक-अमुक वस्तु प्रदान करे, स्वाहा'।[1] यहाँ अन्न और शमीपत्र उर्वरता तथा ऐश्वर्य के प्रतीक हैं। एक अन्य विधि भी उक्त बात पर ही जोर देती है। गृह्यसूत्रों के अनुसार, एक सबल पुरुष वधू को झटक कर भूमि से उठाता है, और उसे पूर्व या उत्तर दिशा में लाल बैल के चमड़े पर इन शब्दों के साथ बिठाता है; 'यहाँ गाय, अश्व और मनुष्य बैठें। यहाँ सहस्रदक्षिण यज्ञ हो, यहाँ पूषा बैठें'।[2] वृषभ, अश्व, गाय और मनुष्य तथा यज्ञ, सभी उर्वरता तथा प्रजनन-शक्ति के प्रतीक माने जाते हैं। ऐश्वर्य-सम्पन्न तथा उन्नतिशील जीवन का भाव तथा उसके लिए तीव्र इच्छा की सप्तपदी की विधि में अधिक उत्तम अभिव्यक्ति हुई है। वर वधू को उत्तर दिशा में सात पग इन शब्दों के साथ चलने के लिए कहता है, 'इष के लिए एक पग, ऊर्ज के लिए दो, ऐश्वर्य (भग) के लिए तीन, सुख के लिए चार, पशुओं के लिए पाँच और ऋतुओं के लिए छह पग चल। सखे, सात पगों के साथ तू मुझ से संयुक्त हो। इस प्रकार तू मेरे प्रति अनुव्रता हो'।[3]

(ऐ) विवाह एक क्रांति : दुष्ट प्रभावों का निवारण—विवाह मनुष्य के जीवन में सर्वाधिक क्रांतिकारी घटना है और यह मनुष्य के जीवन में एक पूर्णतः नवीन अध्याय का प्रारम्भ कर देती है। यह दो व्यक्तियों के बीच एक सर्वथा नवीन सम्बन्ध स्थापित करती है, जिसके विषय में अनेक सम्भावनाएँ, आशाएँ तथा आशङ्काएँ रहती हैं। वैवाहिक विधि में विवाह की घटना से सम्बद्ध आशङ्काओं के निवारण के लिए अनेक प्रयत्न किये जाते हैं। वधू का पिता, जब कि वह वर-वधू को एक दूसरे की ओर देखने के लिए कहता है, वधू को इस प्रकार शिक्षा देता है, 'तू सुन्दर और सुखकर नेत्रोंवाली हो; अपने पति के प्रति किसी भी दुष्ट भाव को अपने मन में स्थान न दे; पशुओं तथा अन्य आश्रितों के प्रति दयालु तथा हितैषिणी हो; सदैव हर्षित तथा उन्नतिशील हो; तू वीर पुत्रों की माता हो; देवों का यजन कर; प्रसन्न हो।

---

(१) पा. गृ. सू. १. ६. १। (२) वही, १. ८. १०।

(३) वही, १. ८. ११

हम लोगों, द्विपदों तथा चौपायों के लिए शुभसूचक हो'।[1] प्रथम आशङ्का तथा सन्देह वधू के विषय में हैं, जिसे घर का केन्द्रबिन्दु बनना है तथा केवल अपने पति से ही नहीं, परिवार के अन्य आश्रितों तथा पशुओं से भी व्यवहार करना है। इन सभी के प्रति उससे स्नेहपूर्ण, दयालु तथा उदार होने की आशा की जाती है। राष्ट्रभृत् यज्ञ में वर महत्त्वपूर्ण देवों तथा पितरों से विवाहित जीवन के मार्ग में आनेवाले समस्त सम्भावित सङ्कटों से रक्षा के लिए प्रार्थना करता है। वह कहता है, 'प्राणियों का अधिष्ठाता अग्नि मेरी रक्षा करे; महान् का अधिष्ठाता इन्द्र मेरी रक्षा करे; पृथ्वी का अधिष्ठाता यम मेरी रक्षा करे'।[2] अभिषिञ्चन क्रिया में जल (आपः) से पूर्ण स्वास्थ्य तथा सर्वतः शान्ति प्रदान करने के लिए प्रार्थना की जाती है; 'शुभसूचक, सर्वाधिक शुभसूचक तथा शान्तिपूर्ण, सर्वाधिक शान्तिपूर्ण जल तुम्हारे लिए स्वास्थ्यप्रद औषध हो'।[3] इसके पश्चात् सुमङ्गली या आशीर्वाद का क्रम आता है, जिसमें वर समस्त उपस्थित अतिथियों तथा सम्बन्धियों को वधू को आशीर्वाद देने के लिए इन शब्दों के साथ आमन्त्रित करता है, 'यह वधू सुमङ्गली है, आएँ और इसे देखें; इसे सौभाग्य प्रदान कर आप लोग अपने-अपने घर के लिए प्रस्थान करें'।[4] वैवाहिक विधि के अन्त में चतुर्थी-कर्म नामक एक क्रिया है,[5] जो विवाह के पश्चात् चतुर्थ दिन की जाती है। पति इन ऋचाओं के साथ आहुति देता है, 'हे अग्ने ! शोधक ! तू देवों का शोधक है। रक्षा का इच्छुक मैं ब्राह्मण तेरी प्रार्थना करता हूँ। उसमें रहनेवाला वह तत्त्व, जो उसके पति के लिए मृत्यु लाता है, स्वाहा'।[6] इसके पश्चात् वह निम्न शब्दों के साथ जल से वधू का अभिषिञ्चन करता है, 'तुझमें विद्यमान दुष्ट तत्त्व, जो तेरे पति, शिशुओं, पशु, गृह तथा यश के लिए मृत्यु लानेवाले हैं; उन्हें मैं उस तत्त्व में परिणत करता हूँ जो तेरे जार या उपपति के लिए मृत्यु का वाहक हो। इस प्रकार तू मेरे साथ वृद्धावस्था पर्यन्त निवास कर'।[7] उक्त समस्त क्रियाओं में विवाह की सङ्कटपूर्ण प्रकृति तथा उससे सम्बद्ध आशङ्काओं की ओर स्पष्ट

(१) पा. गृ. सू. १. ४. १७।　(२) वही. १. ५. ७–११।
(३) वही. १. ८. ५।　(४) वही. १. ८. ९।
(५) आप. गृ. सू. ८. ८; खा. गृ. सू. १. ४. २२।
(६) पा. गृ. सू. १. ११. २।　(७) वही।

संकेत किया गया है और उनके निवारण के लिए प्रयत्न किये गये हैं। इस प्रसङ्ग में एक बात विशेष रूप से स्मरणीय है। वधू यहाँ वर की अपेक्षा आशङ्काओं के प्रति अधिक सन्दिग्ध समझी गई है, अतः वही शुभसूचक क्रियाओं की केन्द्र है।

(ओ) विवाह विषय-भोग का अनुमतिपत्र नहीं—इस तथ्य पर कि विवाह काम-भोग में आसक्ति का प्रमाणपत्र न होकर एक मानवीय संस्था है, जिसका उद्देश्य दाम्पत्य जीवन में संयत मार्ग का अनुसरण है, वैवाहिक विधि-विधानों के अन्त में त्रिरात्र व्रत में बल दिया गया है। 'तीन रात्रि पर्यन्त लवण-क्षार-युक्त भोजन ग्रहण नहीं करेंगे; तथा अधिकतम एक वर्ष और न्यूनतम तीन दिन पर्यन्त वे सहवास से दूर रहेंगे'।[1] विवाहित दम्पति को दाम्पत्य जीवन में संयत मार्ग की शिक्षा देना ही इस क्रिया की प्रतीकात्मकता प्रतीत होती है। युवक पुरुष तथा युवती स्त्री के लिए परस्पर एक दूसरे के प्रति घनिष्टतया आकृष्ट होना और यथासम्भव शीघ्र एक दूसरे के शारीरिक सम्पर्क में आने के लिए उत्सुक होना स्वाभाविक है। किन्तु यहाँ उपर्युक्त व्रत को प्रस्तुत कर धार्मिक विधियाँ चेतावनी का एक शब्द मुखरित करती हैं। विवाहित दम्पति को अभी भी प्रतीक्षा तथा इस तथ्य का अनुभव करना शेष रहता है कि *विवाहित प्रेम अन्धकामुकता द्वारा नियन्त्रित न होकर* पूर्ण आत्मसंयम पर आधारित होना चाहिए। मध्यम मार्ग के अनुसरण के अनुपात में ही विवाहित जीवन भी अधिकाधिक सुखकर होगा।

(औ) विवाह एक सामाजिक परिवर्तन तथा यज्ञ—विवाह की उक्तियाँ, वचन, आशा तथा आशङ्काएँ वर और वधू के जीवन में एक महान् सामाजिक संक्रमण की प्रतीक हैं। वे अब अपने भोजन तथा विचारों के लिए माता-पिता पर आश्रित रहनेवाले अनुत्तरदायी युवक व युवती नहीं रह जाते। उन पर जीवन की गम्भीरता प्रकट होती है। वे एक नवीन परिवार बसाने के लिए अपना पुराना परिवार त्याग देते हैं। उन्हें अब अपने स्वतन्त्र गृह का सञ्चालन, और अपनी जीविका का अर्जन करना तथा सन्तान उत्पन्न करना और देवों, पितरों तथा विश्व के इतर प्राणियों के प्रति अपना ऋण चुकाना होता है। यह दायित्वों तथा चिन्ताओं का जीवन है। केवल इसी व्याख्या के

(१) पा. गृ. सू. १. ८. २१।

द्वारा हिन्दू 'विवाह' को जिसका अर्थ होता है, 'ऊपर उठाना; योग देना, ग्रहण करना, धारण करना' अपने यथार्थ रूप में समझा जा सकता है। इसमें एक महान् समझौता और पारस्परिक आत्म-समर्पण की भावना निहित है। जो विवाह को सुख-प्राप्ति की समस्या का एक समाधान समझते हैं, उन्हें अपनी त्रुटिपूर्ण धारणा के कारण कष्ट उठाना होता है। जो सुख तथा तृप्ति के लिए विवाह करते हैं, उन्हें घोर निराशा सहन करनी पड़ती है। विवाह-मण्डप में जीवन की अनिवार्य कठिनाइयों का निराकरण नहीं, यथार्थ में उन्हें आमन्त्रण दिया जाता है। उत्तरदायित्वों की चेतन स्वीकृति कष्टों को निमन्त्रण देना है। निस्सन्देह हम सुखपूर्ण विवाह की बात करते हैं। किन्तु विवाहित जीवन का आनन्द वैयक्तिक सुख की स्वार्थपूर्ण भावना में सम्भव नहीं है। विवाह अपना वास्तविक अर्थ तथा पूर्णता केवल तभी प्राप्त करता है, जब दाम्पत्य सम्बन्ध इस अनुभव पर आधारित रहता है कि विवाह अपने सहयोगी, परिवार, समाज तथा संसार के कल्याण के लिए स्वेच्छापूर्ण त्याग व आत्मसमर्पण है।

इस प्रकार वैवाहिक प्रतीकवाद का साधारण प्रयोजन विवाहित जीवन के समस्त पार्श्वों को आवृत करना है। प्राणिशास्त्रीय महत्त्व, क्रांतिकारी प्रकृति, दम्पति का दैहिक तथा मानसिक एकीकरण, मध्यम मार्ग, सामाजिक संक्रमण और यज्ञ, ये हिन्दू वैवाहिक विधि-विधानों के प्रमुख पार्श्व हैं। वे केवल प्रतीक रूप में ही परामृष्ट हैं, किन्तु उनका पारदर्शी या स्पष्ट गद्य में वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि प्रतीकों के माध्यम से उनमें अपेक्षाकृत अधिक सबलता, स्पष्टता और विलक्षण मर्मस्पर्शिता आ जाती है।

—०—

नवम अध्याय

अन्त्येष्टि संस्कार

१. प्रास्ताविक

हिन्दू के जीवन का अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि है, जिसके साथ वह अपने ऐहिक जीवन का अन्तिम अध्याय समाप्त करता है। अपने जीवनकाल में, हिन्दू अपनी प्रगति के भिन्न-भिन्न स्तरों पर विविध क्रियाओं तथा विधि-विधानों द्वारा जीवन को संस्कृत करता है। इस संसार से उसके प्रस्थान करने पर, उसके जीवित सम्बन्धी परलोक में उसके भावी सुख या कल्याण के लिए उसका मृत्यु-संस्कार करते हैं। मरणोत्तर होने पर भी यह संस्कार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि हिन्दू के लिए इस लोक की अपेक्षा परलोक का मूल्य उच्चतर है। बौधायन पितृमेध-सूत्र में कहा गया है, 'यह सुप्रसिद्ध है कि जन्मोत्तर संस्कारों के द्वारा व्यक्ति इस लोक को जीतता है और मरणोत्तर संस्कार द्वारा उस (पर) लोक को'।[1] अतः मृतक-संस्कार को अत्यधिक सावधानी के साथ सम्पन्न करने के लिए कर्मकाण्डी अत्यन्त व्याकुल हैं।

२. उद्भव

(१) मृत्यु का भय

अन्य संस्कारों की भाँति अन्त्येष्टि-क्रियाओं का उद्भव भी रहस्यावृत है। ऐसे अनेक कारण थे, जिन्होंने मृत्यु के समय की जानेवाली क्रियाओं तथा विधि-विधानों को जन्म दिया। उनमें सर्वप्रथम मृत्यु का भय था। आदिम मानव के लिए मृत्यु जीवन का प्राकृतिक अन्त न होकर, उसे पूर्ण रूप से झकझोर देनेवाली एक असाधारण घटना थी। यह भय मृत्यु के समय होनेवाले शारीरिक कष्ट पर उतना आधारित नहीं था, जितना कि इस घटना के रहस्य तथा इसके उसके और संबन्धियों के लिए इससे होनेवाले परिणाम पर। इस घटना के साथ ही उनके मध्य विद्यमान समस्त निकट

---

(१) जातसंस्कारेणेमं लोकमभिजयति मृतसंस्कारेणामुं लोकम्। ३.१.४।

असुविधा होते ही विच्छिन्न हो जाए। यह एक ऐसा संबन्ध है, जो जीवन के विभिन्न परिवर्तनों तथा संकटों की भट्ठी में पककर और भी दृढ़तर तथा स्थायी हो जाता है। यह तथ्य प्रतीक रूप से हिन्दू विवाह की अनेक क्रियाओं में प्रतिबिम्बित हुआ है। अश्मारोहण की क्रिया में वर वधू को एक प्रस्तर-खण्ड पर इन शब्दों के साथ आरूढ़ करता है, 'इस प्रस्तर (अश्मा) पर आरूढ़ हो, और तू इसी के समान (अश्मेव) स्थिर हो'।[1] पत्थर स्थिरता व शक्ति का प्रतीक है। यहाँ पत्नी को अपने पातिव्रत्य में स्थिर होने के लिए कहा जाता है। इस प्रकार की एक अन्य विधि है ध्रुवदर्शन की। रात्रि में वर वधू को निम्नलिखित मन्त्र के साथ ध्रुवनक्षत्र दिखाता है, 'तू ध्रुव है; मैं तुझे ध्रुव दिखाता हूँ। हे चपले, तू मेरे साथ ध्रुव हो। बृहस्पति ने मुझ पति द्वारा सन्तति प्राप्त करने के लिए तुझे मेरे हाथों में सौंपा है, मेरे सौ शरद् ऋतु पर्यन्त (शरदः शतम्) जीवित रह'।[2] यहाँ दो बातें सूचित होती हैं। प्रथम यह कि पत्नी को, आकाश में असंख्य गतिशील नक्षत्रों के मध्य ध्रुव नक्षत्र के समान, असंख्य विपदाओं में भी स्थिर रहना चाहिए। दूसरे, यह संबन्ध सौ वर्ष पर्यन्त विद्यमान रहना चाहिये, जो कि मानव-जीवन की साधारण अवधि है। इस प्रकार स्थिर तथा आजीवन संबन्ध अभीष्ट है। विवाह का यह पहलू अत्यन्त मूल्यवान् समझा जाता है और वर इसकी रक्षा के लिए सरस्वती से प्रार्थना करता है, 'हे सरस्वती, तुम इसका संवर्धन करो, हे सुभगे, हे वाजिनीवति! तुम समस्त भूतों में सर्वप्रथम हो, विश्व में जो भी कुछ है, तुम्हीं से उसका उद्भव हुआ है, और तुम्ही में यह सम्पूर्ण विश्व स्थित है—आज मैं उस गाथा का गान करूँगा, जो स्त्रियों का उत्तम यश है'।[3]

(ऊ) विवाह का प्राणिशास्त्रीय प्रतीकवाद—विवाह का प्रथम प्रयोजन जातीय अर्थात् सन्तति उत्पन्न कर जाति की अक्षुण्णता बनाये रखना है। हिन्दू विवाह की विधि में ऐसी अनेक क्रियाएँ हैं, जो इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं और जिनका उद्देश्य इस सम्बन्ध को सफल बनाना तथा सहवास से सम्बद्ध संकटों का निराकरण और प्रजनन-विधि के विभिन्न पहलुओं

(१) आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव। शां. गृ. सू. १. ८. १९।
(२) ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि, आदि। पा. गृ. सू. १. ८. १९।
(३) पा. गृ. सू. १.७.२।

को सुविधाजनक कर देना है। श्वसुर द्वारा औपचारिक रूप से दी हुई कन्या का दान स्वीकार कर वर कन्या के अभिभावक के समक्ष एक अत्यन्त महत्त्व का प्रश्न प्रस्तुत करता है, 'यह वधू मुझे किसने दी है?' इसका उत्तर है, 'काम ने (दी है)'।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि सन्तति के द्वारा अपने अस्तित्व को बनाये रखने की मूल कामना ही विवाह के लिए प्रधानतः उत्तरदायी है। एक अन्य स्थान पर हम वधू के शारीरिक विकास, विवाहित जीवन के लिए उसकी तैयारी और परिणामस्वरूप सन्तति उत्पन्न करने की ओर संकेत पाते हैं। वर वधू को ध्यान दिलाता है, 'प्रथम तू सोम की वधू थी, उसके पश्चात् तुझे गन्धर्व ने प्राप्त किया, अग्नि तेरा तृतीय पति था, मैं मनुष्यजन्मा तेरा चतुर्थ पति हूँ। सोम ने तुझे गन्धर्व को दिया, गन्धर्व ने अग्नि को और अग्नि ने तुझे ऐश्वर्य (भग) तथा पुत्रों की प्राप्ति के लिए मेरे हाथ सौंपा है'।[2]

सायण ने इन ऋचाओं की व्याख्या इस प्रकार की है, 'जब कि अभी सहवास की इच्छा उद्‌बुद्ध ही नहीं हो पाती, उस समय सोम कन्या का उपभोग करता है; जब यह आरम्भ होती है, तब उसे गन्धर्व संभाल लेता है, और विवाह के अवसर पर वह उसे अग्नि को हस्तान्तरित कर देता है, जो क्षमता आ जाने पर उसे ऐश्वर्य (भग) तथा सन्तति उत्पन्न करने के लिए मनुष्य-जन्मा पति को सौंप देता है'।[3] स्मृतियाँ उपर्युक्त रहस्यात्मक ऋचाओं की अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करती हैं : 'सोम ने स्त्रियों को शौच दिया, गन्धर्व ने उन्हें मधुर वाणी दी और अग्नि ने उन्हें सर्वमेध्यत्व या सर्वशुचिता प्रदान की'।[4] एक आधुनिक लेखक इसको आगे स्पष्ट करता है, 'सोम सस्याधिपति या वनस्पति-जगत् का अधिदेवता है और वह मन का अधिष्ठाता है।......रोमों के सहित स्त्री का शारीरिक विकास सोमदेव की देख-रेख में होता है। उसी के निर्देशन में उसका मन भी विकसित होता है। गन्धर्व सौन्दर्य या शोभा का अधिष्ठाता है। स्त्री के शरीर को सुन्दर बनाना

(१) कोऽदात्? काम इति।
(२) ऋ वे. १०. ८५. ४०, ४१।
(३) उक्त ऋचा पर सायण का भाष्य।
(४) अ. स्मृ. १३७।

तथा उसकी वाणी को मधुरता प्रदान करना उसका कार्य है। उसी की देख-रेख में उसके नितम्ब विकसित होते हैं और स्तन गोल तथा आकर्षक हो जाते हैं। आँखें प्रेम की भाषा में बोलने लगती हैं और उसके अङ्ग-अङ्ग में एक विलक्षण छवि व्याप्त हो जाती है। उसका कार्य अब समाप्त हो जाता है और वह उसे अग्नि को हस्तान्तरित कर देता है। अग्नि कौन है? वह वह्नि अथवा अग्नि-तत्त्व का अधिष्ठाता है। वसन्त ऋतु में प्रकृति एक रंग तथा हर्ष से आप्लुत रहती है, अग्नि उसे फलवान् बनाता है। वही स्त्री में रजःप्रवाह लाता है और तब स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न कर सकती हैं। तब अग्नि उसे अपने चतुर्थ मनुष्यजन्मा पति को सौंप देता है'।[1] पाणिग्रहण की विधि में भी विवाह के जीवशास्त्रीय पहलू को स्पष्ट कर दिया जाता है। वर वधू से कहता है, 'मैं द्यौ हूँ, तू पृथ्वी है। हम दोनों विवाह करें। हम दोनों अपने वीर्य (रेतस्) को संयुक्त करें। हम सन्तान उत्पन्न करें। हम अनेक दीर्घायु पुत्रों को प्राप्त करें। हम दोनों स्नेहपूर्ण, प्रकाशमान मन से सन्तान उत्पन्न करते हुए सौ शरद् ऋतु देखें, सौ शरद् ऋतुओं पर्यन्त जीवित रहें'।[2] जिस प्रकार वैदिक देववाद में द्यौ और पृथ्वी (द्यावापृथ्वी) देवों अथवा द्युतिमान् नक्षत्रों के जनक-जननी हैं, उसी प्रकार पति और पत्नी से एक अपने संसार के उत्पन्न करने की आशा की जाती है।

(५) विवाह की सफलता तथा उन्नतिशीलता—वैवाहिक विधियाँ विवाह के केवल जीवशास्त्रीय प्रयोजन का ही प्रतीक नहीं हैं, विवाहित जीवन के उर्वरता तथा ऐश्वर्यसम्बन्धी अनेक प्रतीक भी उनमें निहित हैं। लाजाहोम की विधि में वधू का भाई अपनी अञ्जलि से शमीपत्रों से मिश्रित पक्व अन्न अपनी बहन के हाथों में डालता है। खड़ी हुई वधू अपनी दृढ़तापूर्वक बँधी हुई अञ्जलि से उसकी आहुति अग्नि में देती है, जब कि वर इन ऋचाओं का उच्चारण करता है, 'कन्या ने अर्यमा और अग्नि को आहुति दे दी है, वे देव अर्यमा हम लोगों को यहाँ से मुक्त करें, किन्तु पति के गृह से नहीं, स्वाहा।' कन्या उक्त आहुति देती हुई प्रार्थना करती है, 'मेरा पति चिरायु हो, मेरे

(१) दि आर्यन मैरेज, पृ. २६, २७।

(२) द्यौरहं पृथ्वी त्वम्। तावेहि विवहावहै सह रेतो दधावहै, आदि।
हि. गृ. सू. १. ६. २०-२१।

सम्बन्धी ऐश्वर्यसम्पन्न हों, स्वाहा। इस अन्न की आहुति मैंने अग्नि में दे दी है, यह मुझे (पति को) ऐश्वर्य प्रदान करे और मुझे तुमसे संयुक्त करे। अग्नि हमें अमुक-अमुक वस्तु प्रदान करे, स्वाहा'।[1] यहाँ अन्न और शमीपत्र उर्वरता तथा ऐश्वर्य के प्रतीक हैं। एक अन्य विधि भी उक्त बात पर ही जोर देती है। गृह्यसूत्रों के अनुसार, एक सबल पुरुष वधू को झटक कर भूमि से उठाता है, और उसे पूर्व या उत्तर दिशा में लाल बैल के चमड़े पर इन शब्दों के साथ बिठाता है; 'यहाँ गाय, अश्व और मनुष्य बैठें। यहाँ सहस्रदक्षिण यज्ञ हों, यहाँ पूषा बैठें'।[2] वृषभ, अश्व, गाय और मनुष्य तथा यज्ञ, सभी उर्वरता तथा प्रजनन-शक्ति के प्रतीक माने जाते हैं। ऐश्वर्य-सम्पन्न तथा उन्नतिशील जीवन का भाव तथा उसके लिए तीव्र इच्छा की सप्तपदी की विधि में अधिक उत्तम अभिव्यक्ति हुई है। वर वधू को उत्तर दिशा में सात पग इन शब्दों के साथ चलने के लिए कहता है, 'इष के लिए एक पग, ऊर्ज्ज के लिए दो, ऐश्वर्य (भग) के लिए तीन, सुख के लिए चार, पशुओं के लिए पाँच और ऋतुओं के लिए छह पग चल। सखे, सात पगों के साथ तू मुझ से संयुक्त हो। इस प्रकार तू मेरे प्रति अनुव्रता हो'।[3]

(ऐ) विवाह एक क्रांति : दुष्ट प्रभावों का निवारण—विवाह मनुष्य के जीवन में सर्वाधिक क्रांतिकारी घटना है और यह मनुष्य के जीवन में एक पूर्णतः नवीन अध्याय का प्रारम्भ कर देती है। यह दो व्यक्तियों के बीच एक सर्वथा नवीन सम्बन्ध स्थापित करती है, जिसके विषय में अनेक सम्भावनाएँ, आशाएँ तथा आशङ्काएँ रहती हैं। वैवाहिक विधि में विवाह की घटना से सम्बद्ध आशङ्काओं के निवारण के लिए अनेक प्रयत्न किये जाते हैं। वधू का पिता, जब कि वह वर-वधू को एक दूसरे की ओर देखने के लिए कहता है, वधू को इस प्रकार शिक्षा देता है, 'तू सुन्दर और सुखकर नेत्रोंवाली हो; अपने पति के प्रति किसी भी दुष्ट भाव को अपने मन में स्थान न दे; पशुओं तथा अन्य आश्रितों के प्रति दयालु तथा हितैषिणी हो; सदैव हर्षित तथा उन्नतिशील हो; तू वीर पुत्रों की माता हो; देवों का भजन कर; प्रसन्न हो;

(१) पा. गृ. सू. १. ६. १। (२) वही, १. ८. १०।
(३) वही, १. ८. १।

हम लोगों, द्विपदों तथा चौपायों के लिए शुभसूचक हो'।[1] प्रथम आशंका तथा सन्देह वधू के विषय में हैं, जिसे घर का केन्द्रबिन्दु बनना है तथा केवल अपने पति से ही नहीं, परिवार के अन्य आश्रितों तथा पशुओं से भी व्यवहार करना है। इन सभी के प्रति उससे स्नेहपूर्ण, दयालु तथा उदार होने की आशा की जाती है। राष्ट्रभृत् यज्ञ में वर महत्त्वपूर्ण देवों तथा पितरों से विवाहित जीवन के मार्ग में आनेवाले समस्त सम्भावित सङ्कटों से रक्षा के लिए प्रार्थना करता है। वह कहता है, 'प्राणियों का अधिष्ठाता अग्नि मेरी रक्षा करे; महान् का अधिष्ठाता इन्द्र मेरी रक्षा करे; पृथ्वी का अधिष्ठाता यम मेरी रक्षा करे'।[2] अभिषिञ्चन क्रिया में जल (आपः) से पूर्ण स्वास्थ्य तथा सर्वतः शान्ति प्रदान करने के लिए प्रार्थना की जाती है; 'शुभसूचक, सर्वाधिक शुभसूचक तथा शान्तिपूर्ण, सर्वाधिक शान्तिपूर्ण जल तुम्हारे लिए स्वास्थ्यप्रद औषध हो'।[3] इसके पश्चात् सुमङ्गली या आशीर्वाद का क्रम आता है, जिसमें वर समस्त उपस्थित अतिथियों तथा सम्बन्धियों को वधू को आशीर्वाद देने के लिए इन शब्दों के साथ आमन्त्रित करता है, 'यह वधू सुमङ्गली है, आएँ और इसे देखें; इसे सौभाग्य प्रदान कर आप लोग अपने-अपने घर के लिए प्रस्थान करें'।[4] वैवाहिक विधि के अन्त में चतुर्थी-कर्म नामक एक क्रिया है,[5] जो विवाह के पश्चात् चतुर्थ दिन की जाती है। पति इन ऋचाओं के साथ आहुति देता है, 'हे अग्ने! शोधक! तू देवों का शोधक है। रक्षा का इच्छुक मैं ब्राह्मण तेरी प्रार्थना करता हूँ। उसमें रहनेवाला वह तत्त्व, जो उसके पति के लिए मृत्यु लाता है, स्वाहा'।[6] इसके पश्चात् वह निम्न शब्दों के साथ जल से वधू का अभिषिञ्चन करता है, 'तुझमें विद्यमान दुष्ट तत्त्व, जो तेरे पति, शिशुओं, पशु, गृह तथा यश के लिए मृत्यु लानेवाले हैं; उन्हें मैं उस तत्त्व में परिणत करता हूँ जो तेरे जार या उपपति के लिए मृत्यु का वाहक हो। इस प्रकार तू मेरे साथ वृद्धावस्था पर्यन्त निवास कर'।[7] उक्त समस्त क्रियाओं में विवाह की सङ्कटपूर्ण प्रकृति तथा उससे सम्बद्ध आशङ्काओं की ओर स्पष्ट

(१) पा. गृ. सू. १. ४. १७। (२) वही, १. ५. ७–११।
(३) वही, १. ८. ५। (४) वही, १. ८. ९।
(५) आप. गृ. सू. ८. ८; खा. गृ. सू. १. ४. २२।
(६) पा. गृ. सू. १. ११. २। (७) वही।

संकेत किया गया है और उनके निवारण के लिए प्रयत्न किये गये हैं। इस प्रसङ्ग में एक बात विशेष रूप से स्मरणीय है। वधू यहाँ वर की अपेक्षा आशङ्काओं के प्रति अधिक सन्दिग्ध समझी गई है, अतः वही शुभसूचक क्रियाओं की केन्द्र है।

(ओ) विवाह विषय-भोग का अनुमतिपत्र नहीं—इस तथ्य पर कि विवाह काम-भोग में आसक्ति का प्रमाणपत्र न होकर एक मानवीय संस्था है, जिसका उद्देश्य दाम्पत्य जीवन में संयत मार्ग का अनुसरण है, वैवाहिक विधि-विधानों के अन्त में त्रिरात्र व्रत में बल दिया गया है। 'तीन रात्रि पर्यन्त लवण-क्षार-युक्त भोजन ग्रहण नहीं करेंगे; तथा अधिकतम एक वर्ष और न्यूनतम तीन दिन पर्यन्त वे सहवास से दूर रहेंगे'।[1] विवाहित दम्पति को दाम्पत्य जीवन में संयत मार्ग की शिक्षा देना ही इस क्रिया की प्रतीकात्मकता प्रतीत होती है। युवक पुरुष तथा युवती स्त्री के लिए परस्पर एक दूसरे के प्रति घनिष्ठतया आकृष्ट होना और यथासम्भव शीघ्र एक दूसरे के शारीरिक सम्पर्क में आने के लिए उत्सुक होना स्वाभाविक है। किन्तु यहाँ उपर्युक्त व्रत को प्रस्तुत कर धार्मिक विधियाँ चेतावनी का एक शब्द मुखरित करती हैं। विवाहित दम्पति को अभी भी प्रतीक्षा तथा इस तथ्य का अनुभव करना शेष रहता है कि विवाहित प्रेम अन्धकामुकता द्वारा नियन्त्रित न होकर पूर्ण आत्मसंयम पर आधारित होना चाहिए। मध्यम मार्ग के अनुसरण के अनुपात में ही विवाहित जीवन भी अधिकाधिक सुखकर होगा।

(औ) विवाह एक सामाजिक परिवर्तन तथा यज्ञ—विवाह की उक्तियाँ, वचन, आशा तथा आशङ्काएँ वर और वधू के जीवन में एक महान् सामाजिक संक्रमण की प्रतीक हैं। वे अब अपने भोजन तथा विचारों के लिए माता-पिता पर आश्रित रहनेवाले अनुत्तरदायी युवक व युवती नहीं रह जाते। उन पर जीवन की गम्भीरता प्रकट होती है। वे एक नवीन परिवार बसाने के लिए अपना पुराना परिवार त्याग देते हैं। उन्हें अब अपने स्वतन्त्र गृह का सञ्चालन, और अपनी जीविका का अर्जन करना तथा सन्तान उत्पन्न करना और देवों, पितरों तथा विश्व के इतर प्राणियों के प्रति अपना ऋण चुकाना होता है। यह दायित्वों तथा चिन्ताओं का जीवन है। केवल इसी व्याख्या के

(१) पा. गृ. सू. १. ८. २१।

द्वारा हिन्दू 'विवाह' को जिसका अर्थ होता है, 'ऊपर उठाना; योग देना, ग्रहण करना, धारण करना' अपने यथार्थ रूप में समझा जा सकता है। इसमें एक महान् समझौता और पारस्परिक आत्म-समर्पण की भावना निहित है। जो विवाह को सुख-प्राप्ति की समस्या का एक समाधान समझते हैं, उन्हें अपनी त्रुटिपूर्ण धारणा के कारण कष्ट उठाना होता है। जो सुख तथा तृप्ति के लिए विवाह करते हैं, उन्हें घोर निराशा सहन करनी पड़ती है। विवाह-मण्डप में जीवन की अनिवार्य कठिनाइयों का निराकरण नहीं, यथार्थ में उन्हें आमन्त्रण दिया जाता है। उत्तरदायित्वों की चेतन स्वीकृति कष्टों को निमन्त्रण देना है। निस्सन्देह हम सुखपूर्ण विवाह की बात करते हैं। किन्तु विवाहित जीवन का आनन्द वैयक्तिक सुख की स्वार्थपूर्ण भावना में सम्भव नहीं है। विवाह अपना वास्तविक अर्थ तथा पूर्णता केवल तभी प्राप्त करता है, जब दाम्पत्य सम्बन्ध इस अनुभव पर आधारित रहता है कि विवाह अपने सहयोगी, परिवार, समाज तथा संसार के कल्याण के लिए स्वेच्छापूर्ण त्याग व आत्मसमर्पण है।

इस प्रकार वैवाहिक प्रतीकवाद का साधारण प्रयोजन विवाहित जीवन के समस्त पार्श्वों को आवृत करना है। प्राणिशास्त्रीय महत्त्व, क्रांतिकारी प्रकृति, दम्पति का दैहिक तथा मानसिक एकीकरण, मध्यम मार्ग, सामाजिक संक्रमण और यज्ञ, ये हिन्दू वैवाहिक विधि-विधानों के प्रमुख पार्श्व हैं। वे केवल प्रतीक रूप में ही परामृष्ट हैं, किन्तु उनका पारदर्शी या स्पष्ट गद्य में वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि प्रतीकों के माध्यम से उनमें अपेक्षाकृत अधिक सबलता, स्पष्टता और विलक्षण मर्मस्पर्शिता आ जाती है।

—oo:o:oo—

नवम अध्याय

अन्त्येष्टि संस्कार

१. प्रास्ताविक

हिन्दू के जीवन का अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि है, जिसके साथ वह अपने ऐहिक जीवन का अन्तिम अध्याय समाप्त करता है। अपने जीवनकाल में, हिन्दू अपनी प्रगति के भिन्न-भिन्न स्तरों पर विविध क्रियाओं तथा विधि-विधानों द्वारा जीवन को संस्कृत करता है। इस संसार से उसके प्रस्थान करने पर, उसके जीवित सम्बन्धी परलोक में उसके भावी सुख या कल्याण के लिए उसका मृत्यु-संस्कार करते हैं। मरणोत्तर होने पर भी यह संस्कार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि हिन्दू के लिए इस लोक की अपेक्षा परलोक का मूल्य उच्चतर है। बौधायन पितृमेध-सूत्र में कहा गया है, 'यह सुप्रसिद्ध है कि जन्मोत्तर संस्कारों के द्वारा व्यक्ति इस लोक को जीतता है और मरणोत्तर संस्कार द्वारा उस (पर) लोक को'।[1] अतः मृतक-संस्कार को अत्यधिक सावधानी के साथ सम्पन्न करने के लिए कर्मकाण्डी अत्यन्त व्याकुल हैं।

२. उद्भव

(१) मृत्यु का भय

अन्य संस्कारों की भाँति अन्त्येष्टि-क्रियाओं का उद्भव भी रहस्यावृत है। ऐसे अनेक कारण थे, जिन्होंने मृत्यु के समय की जानेवाली क्रियाओं तथा विधि-विधानों को जन्म दिया। उनमें सर्वप्रथम मृत्यु का भय था। आदिम मानव के लिए मृत्यु जीवन का प्राकृतिक अन्त न होकर, उसे पूर्ण रूप से झकझोर देनेवाली एक असाधारण घटना थी। यह भय मृत्यु के समय होनेवाले शारीरिक कष्ट पर उतना आधारित नहीं था, जितना कि इस घटना के रहस्य तथा इसके लक्ष्य और संबन्धियों के लिए इससे होनेवाले परिणाम पर। इस घटना के साथ ही उनके मध्य विद्यमान समस्त निकट

---

(१) जातसंस्कारेणेमं लोकमभिजयति मृतसंस्कारेणामुं लोकम्। ३.१.४।

संबन्धों का अन्त हो जाता था तथा इन संबन्धों के केन्द्र शरीर का नाश भी। इस व्याकुलता ने मृत्यु की अनिवार्यता के संबन्ध में एक दृढ़-पूर्ण अविश्वास को जन्म दिया। इससे पलायन या बचाव के उपाय पुनः पुनः दुहराये जाते हैं, यद्यपि अन्त में इनकी शोकप्रद असफलता निश्चित है। यहाँ तक कि पूर्णतः स्वाभाविक तथा अनिवार्य मृत्यु के लिए भी ऐसे कारणों को दोषी ठहराया जाता है, जो मानव-नियन्त्रण के परे नहीं हैं। मनुष्य द्वारा ऐहिक जीवन के अनिवार्य अन्त को स्वीकार न करने का निराशापूर्ण प्रयत्न मनुष्य के इतिहास की सर्वाधिक मर्मस्पर्शी कथाओं में से एक है। मृत्यु के विरोध के निरर्थक प्रयत्नों से अनेक आदिम विधि-विधान उद्भूत हुए। किन्तु जीवन तथा मृत्यु का विरोध इतना स्पष्ट था कि अन्त में मनुष्य को उसे मानवीय जीवन का स्वाभाविक अन्त मानना ही होता था। तब वह मृत्यु तथा मृत्यूत्तर जीवन को सरल बनाने के लिए समुचित प्रबन्ध करता था।[1]

(२) मृत्यु के पश्चात् जीवनका सिद्धांत

आदिम विश्वास के अनुसार मृत्यु के साथ मनुष्य का पूर्णतः अन्त नहीं हो जाता था। मृत्यु की प्रक्रिया के संबन्ध में साधारण सिद्धान्त यह था कि मृत्यु के द्वारा आत्मा शरीर से पृथक् हो जाता है। आत्मा मृत्यु के पूर्व भी स्वप्नों में शरीर से पृथक् हो सकता है। रुग्णावस्था को साधारणतः इसी प्रकार का पार्थक्य समझा जाता था। इन दोनों पार्थक्यों में अन्तर केवल यही था कि मृत्यु से होनेवाला पार्थक्य अन्तिम था। इस प्रकार अशरीरी होने पर भी मृत व्यक्ति को जीवित समझा जाता था।

(३) भय और स्नेह की मिश्रित भावनाएँ

जीवित संबन्धियों के मन में मृतक के प्रति मिश्रित भाव रहते थे। प्रथम

---

(१) जातस्य वै मनुष्यस्य ध्रुवं मरणमिति विजानीयात्तस्माज्जाते न प्रहृष्येन्मृते च न विषीदेत्। २।

अकस्मादागतं भूतमकस्मादेव गच्छति।
तस्माज्जातं मृतञ्चैव सम्पश्यन्ति सुचेतसः॥

तस्मान्मातरं पितरमाचार्यं पत्नीं पुत्रं शिष्यमन्तेवासिनं पितृव्यं मातुलं सगोत्रमसगोत्रं वा दायमुपयच्छेद्दहनं संस्कारेण संस्कुर्वन्ति॥ बौ. प. सू. ३३।

भय का भाव था। यह विश्वास था कि मृत व्यक्ति का स्वार्थ अब भी पारिवारिक सम्पत्ति तथा संबन्धियों में निहित है, जिन्हें वह त्यागना नहीं चाहेगा और परिणामस्वरूप वह घर के आस पास ही कहीं न कहीं विद्यमान होगा। यह भी धारणा थी कि क्योंकि मृत व्यक्ति मृत्यु के द्वारा अपने जीवित संबन्धियों से पृथक् कर दिया गया है, अतः वह परिवार को क्षति भी पहुँचा सकता है। अतः उसकी उपस्थिति और संपर्क के निवारण के लिए प्रयत्न किये जाते थे। उसे औपचारिक विदाई का संबोधन किया जाता था।[1] उसे विदा होने के लिए कहा जाता था; और यहां तक कि जीवित और मृतक के मध्य सीमा नियत कर दी जाती थी।[2] इसके अतिरिक्त, उसे भोजन तथा यात्रा के लिए आवश्यक अन्य उपकरण दिये जाते थे, जिससे वह परलोक के लिए अपनी यात्रा पुनः आरम्भ कर दे। दूसरा भाव था मृतक के प्रति स्नेह और प्रेम का। प्राकृतिक रक्त संबन्ध मृतक तथा उसके संबन्धियों के मध्य अभी भी विद्यमान रहता था। जीवित संबन्धी मृतक के भावी कल्याण के लिए उत्कण्ठित रहते थे। मृत्यु के पश्चात् अपने विशिष्ट स्थान की प्राप्ति में मृतक की सहायता करना वे अपना कर्तव्य समझते थे। अग्नि के द्वारा शव का दाह कर दिया जाता था, जिससे कि मृतक शुद्ध व पवित्र होकर पुण्य पितृलोक में प्रवेश प्राप्त कर सके।[3] यात्रा के लिये आवश्यक पदार्थ उसे प्रस्तुत किये जाते थे, जिससे उनके अभाव के कारण कष्ट न उठाना पड़े। क्योंकि परलोक इसी लोक का एक प्रतिरूप समझा जाता था, अतः नवीन जीवन के आरम्भ के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु उसे दी जाती थी। उदाहरणार्थ, उसके मार्गदर्शक का कार्य करने के लिए अनुस्तरणी या एक वृद्ध गाय या एक बकरा उसके साथ भेजा जाता था; उसे दैनिक भोजन दिया जाता था; परवर्ती काल में तथा आजकल भी यमलोक के मार्ग में पड़नेवाली नदी को पार करने में मृतक की सहायता के लिए वैतरणी अथवा एक गाय दी जाती है।[4] आरम्भ में तो ये वस्तुएं मृतक के साथ ही अग्नि में जला दी जाती थीं। इस समय, वे ब्राह्मणों को दे दी जाती

(१) प्रेहि प्रेहि पथिभिः, आदि, अ.वे. १८.१.५४, पा गृ सू. ३.१०.२४।

(२) यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः। ऋ.वे. १०.१६.१।

(३) वैतरणीदान प्रयोग, स्टाइन का सूचीपत्र।

(४) ऋ. वे १०.१४.१६,१८।

हैं और यह विश्वास किया जाता है कि ये किसी रहस्यपूर्ण माध्यम के द्वारा उक्त वस्तुएँ यमलोक पहुंचा देते हैं।

(४) शारीरिक आवश्यकताएँ

उक्त भावों के अतिरिक्त शव से छुटकारा पाने तथा परवर्ती क्रियाओं और विधि-विधानों के अनुष्ठान की शारीरिक आवश्यकता भी थी। देह के विभिन्न तत्वों का गलना उसके सम्बन्धियों के लिए दीर्घकाल तक शव को घर में रखना असम्भव बना देता था। अतः अन्य कूड़ा-करकट तथा गन्दगी के समान, उसे भी दूर कर दिया जाता था, यद्यपि आदर और सावधानी के साथ, जो सामान्य कूड़ा-करकट या गन्दगी के लिए दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त मृत व्यक्ति के रोग और मृत्यु से परिवार में अपवित्रता तथा संक्रामक रोगों का प्रसार भी सम्भव था। उनके निराकरण के लिए अनेक विधि-विधान तथा निषेध अस्तित्व में आये।

शव की समुचित व्यवस्था तथा उससे सम्बद्ध क्रियाओं तथा विधि-विधानों के प्रमुख प्रयोजन हैं जीवित सम्बन्धियों की मरणाशौच से मुक्ति तथा मृतात्मा को शान्ति प्रदान करना। जब तक ये क्रियाएँ और विधि-विधान समुचित रूप से सम्पन्न नहीं किये जाते, मृतक का आत्मा परलोक में अपने स्थान को नहीं जाता, वह पितृलोक में स्थान भी नहीं प्राप्त कर पाता, पितृ-पूजा का सम्मानित स्थान भी उसे नहीं मिल पाता और वह प्रेत के रूप में अनभिमत रूप से संबन्धियों के ही आस-पास चक्कर काटा करता है। यह विश्वास समस्त प्राचीन देशों में प्रचलित था और आज भी अनेक निम्न व अविकसित संस्कृतिवाले जनों में यह विद्यमान है। अन्त्येष्टि-क्रियाएँ यूनान और मिश्र के निवासियों में भी उतनी ही महत्वपूर्ण समझी जाती थीं जितनी हिन्दुओं में।

३. शव की व्यवस्था के विभिन्न प्रकार

शव की व्यवस्था तथा उससे सम्बद्ध विधि-विधानों के विषय में हमें कोई प्राग्-वैदिक उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। निस्सन्देह, पुरातत्त्व-सम्बन्धी नवीन अनुसन्धानों के फलस्वरूप कुछ ऐसे उदाहरण प्रकाश में आये हैं, जिनसे यह विदित होता है कि प्राचीन भारत में शवों की व्यवस्था किस प्रकार की

जाती थी। किन्तु उनका काल अभी तक विवादास्पद है और निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वे सभी प्रागैतिहासिक काल के हैं। इसके अतिरिक्त, उनसे प्राप्त सूचना शव के गाड़ने तक ही सीमित है और उससे शव-निखातोत्तर विधि-विधानों अथवा दाह-क्रिया पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

अन्त्येष्टि-क्रियाओं का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद[1] तथा अथर्ववेद[2] में उपलब्ध होता है। शव की व्यवस्था का प्रकार सम्बद्ध जन-समुदाय के धार्मिक विश्वास तथा उसकी सामान्य संस्कृति पर निर्भर करता है। वैदिक सूक्तों में वर्णित समाज पर्याप्त उन्नत है, अतः शव की व्यवस्था के आदिम प्रकार उनमें नहीं मिलते। जीवित सम्बन्धियों द्वारा मृतक को खा लेने की प्रथा की ओर वेदों में कोई भी संकेत प्राप्त नहीं होता। मृतक के शरीर को खुले मैदान में छोड़ देना सम्भवतः शव से छुटकारा पाने का प्राचीनतम प्रकार था, क्योंकि यह सबसे सरल है। अन्त्येष्टि के मन्त्रों में इसका वर्णन नहीं किया गया है, यद्यपि इसकी ओर सङ्केत एक स्थान पर किया गया है[3]। अति आदिम काल में जब मानव-जन भोजन तथा घास-चारे की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमा करते थे, मृतक तथा रोगग्रस्त व्यक्ति को खुले मैदान में छोड़ देने की प्रथा अत्यन्त सामान्य थी, क्योंकि वे घुमन्तू जनों के लिए एक भार हो जाते थे। वैदिक काल में, भारतीय आर्य घुमन्तू जन न रहकर स्थिर तथा सभ्य जीवन व्यतीत कर रहे थे और वयोवृद्धों के प्रति समाज में स्नेह व आदर का भाव था। अतः वयोवृद्धों को खुले मैदान में छोड़ नहीं दिया जाता था। वयोवृद्धों के प्रति प्राचीन जर्मनों के व्यवहार के प्रदर्शन तथा उसी के समान प्रथा का अस्तित्व ऋग्वेद-कालीन आर्यों में भी सिद्ध करने के लिए केगी जिमर[4] निम्नलिखित विचारों का उल्लेख करते हैं: 'जर्मनों में जब गृह-स्वामी की आयु साठ वर्ष से अधिक हो जाती थी और यदि उसके शरीर पर वृद्धावस्था के इस प्रकार के चिह्न प्रकट हो जाते थे कि जिससे उसमें घूमने या खड़े होने और बिना किसी अन्य व्यक्ति की सहायता के घोड़े आदि पर

(१) ऋ. वे. १. २ ३, ४।

(२) ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिता। अ. वे. १८. २-३४।

(३) दर ऋग्वेद, सं. ५०।

(४) मिमु क्वेदूशे रेक साल्ट, पृष्ठ ४८७-

आरूढ़ होने की शक्ति न रहती, उसका मन एकाग्र न हो पाता, और स्वतन्त्र इच्छा तथा समुचित ज्ञान न रह जाता, तो उसे अपना अधिकार अपने पुत्र को सौंपने तथा निम्नस्तर का शारीरिक श्रम करने के लिए बाध्य कर दिया जाता था; कठोर पुत्र तथा निर्दय पौत्र वृद्ध मनुष्यों को उनके सबल दिनों में अपने (पुत्र-पौत्रों के) प्रति उनके स्नेह के अभाव या उसके विषय में असावधानी के लिए पश्चात्ताप करने को बाध्य कर सकते थे; जो निरर्थक और भारस्वरूप हो जाते थे, वे या तो तत्काल ही मार दिये जाते थे अथवा उन्हें भूखों मरने के लिए छोड़ दिया जाता था'।[1] इस पर केगी कहते हैं कि वैदिक मन्त्रों में 'वृद्ध पिता की विभक्त सम्पत्ति' तथा 'वृद्ध पुरुषों को असहाय छोड़ देने' के उल्लेखों से भारतीयों में भी ठीक ऐसी ही परिस्थितियों के अस्तित्व की कल्पना करनी होगी।[2]

उक्त निष्कर्ष ऋग्वेद की एक ऋचा पर आधारित है, जो यह सूचित करती है कि वृद्ध पिता की सम्पत्ति उसके जीवनकाल में ही उसके पुत्रों में विभक्त कर दी जाती थी। किन्तु यदि हम यह कल्पना भी करें, कि वह भूमिगत सम्पत्ति थी, तो भी सर्वप्रथम अपनी और अपनी पत्नी की जीविका के लिए व्यवस्था करनी पड़ती थी। परवर्ती साहित्य में प्राप्त सभी वचन इस धारणा के विपरीत हैं कि परिवार की सम्पत्ति वैध रूप से पारिवारिक सम्पत्ति थी; यह स्पष्ट है कि वह परिवार के प्रमुख, जो साधारणतः पिता होता था, की सम्पत्ति थी, और परिवार के अन्य सदस्यों का उस पर केवल नैतिक अधिकार ही था, जिसकी पिता उपेक्षा कर सकता था, यद्यपि उसके अधिक सबल पुत्र उसे विवश कर सकते थे।......अति प्राचीन काल में पिता के विकसित पितृत्वसम्बन्धी अधिकार, जैसा कि शुनःशेप के आख्यान से स्पष्ट है, इन विचारों से मेल नहीं खाते कि पुत्र, पिता के साथ जब तक कि वे सम्पत्ति के विभाजन के लिए हठ न करते, वैधानिक रूप से सम्पत्ति के साझीदार थे।[3] पुनश्च, ऋग्वेदकाल में भी पुत्रों की लालसा की जाती थी, क्योंकि वे मृत माता-पिता तथा पूर्वजों को पिण्ड-दान करते थे।[4] यह केवल नैतिक ही नहीं, धार्मिक कर्तव्य भी था। अतः

(१) जिमर, ऐक्ट, लावेन, ३२९-३२८।

(२) वेदिक इन्डेक्स, १. ३५१, ३५२।

(३) ऋ. वे. १. १०५. ३। (४) वही. ८. ५१. २।

किसी भी कल्पना के द्वारा यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि ऋग्वेद-कालीन आर्य अपने वृद्ध तथा अशक्त माता-पिता को मार डालते थे या भूखों मरने के लिए छोड़ देते थे। प्राचीन जर्मनों में उपलब्ध यह प्रथा असभ्य काल की अवशेष रही होगी, जो यूरोप के उन प्रागैतिहासिक आदिवासियों में प्रचलित रही होगी, जिनसे जर्मन जनसम्पर्क में आये थे। इस असभ्य प्रथा के अस्तित्व का कोई स्पष्ट सङ्केत ऋग्वेद में, जो आर्यों का प्राचीनतम ग्रन्थ है, उपलब्ध नहीं होता।

वैदिक सूक्तों में कुछ अन्य वाक्य भी हैं, जिनसे उस काल में शव को खुले मैदान में छोड़ देने की प्रथा के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। ऋग्वेद[1] में एक परित्यक्त व्यक्ति की चर्चा है और अथर्ववेद[2] खुले मैदान में छोड़े हुए मृत व्यक्ति (उद्दित) का उल्लेख करता है। किन्तु यह सम्भव है कि अथर्ववेद के उक्त मन्त्र में मृत्यु के पश्चात् शरीर को पञ्चत्व (पाँच तत्त्वों में मिल जाने) के लिए खुला छोड़ देने की प्रथा की ओर सङ्केत किया गया हो, जैसा पारसी अब भी करते हैं। ऋग्वेद की ऋचा में, सम्भव है, किसी के व्यक्तिगत उदाहरण का उल्लेख हो, जिसे उसके सम्बन्धियों ने त्याग दिया हो, और इस प्रकार यह उक्त प्रथा के प्रचलन या मान्यता पर निश्चयपूर्वक कुछ भी प्रकाश नहीं डालती।

हिन्दुओं की अन्त्येष्टि क्रियाओं में गुहानिखात का भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्रतीत होता है कि शव की व्यवस्था का यह समाज-स्वीकृत प्रकार नहीं था। जल-निखात या नदी अथवा समुद्र में शव को बहा देना उससे मुक्ति का सरलतम उपाय है। विभिन्न स्थानों में दासों या जन-साधारण के शवों के जल-निखात का निस्सन्देह यही कारण है। किन्तु जल-निखात के प्रत्येक उदाहरण के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। कतिपय विषयों में इसका प्रयोजन निरा शव से छुटकारा पाना ही नहीं, उसे अपने जीवित सम्बन्धियों को पीड़ित करने के लिए लौट आने से रोकना भी है,[3] क्योंकि जल में साधारणतः दुष्टात्माओं को भयभीत कर भगा देने की शक्ति का अस्तित्व माना जाता है।

---

(१) १०. १४। (२) १८. २. ३४।

(३) ई. ऐस. हार्टलैण्ड, इन्साइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन ऐण्ड एथिक्स, भा. ४, पृ. २४१।

हिन्दू धर्म में जल-निखात की व्यावहारिक उपयोगिता उनके विषय में मानी जाती है, जिनकी अन्त्येष्टि क्रिया करने के लिए उनके सम्बन्धी जीवित न हों। किन्तु हिन्दुओं के मन में भय का भाव इतना अधिक व्याप्त नहीं है। आज-कल या तो शिशुओं के शव का जल-निखात किया जाता है, जो इतने निर्दोष होते हैं, कि उनके लिए शुद्धि की अपेक्षा ही नहीं होती, अथवा सिद्ध-महात्माओं, संन्यासियों या भिक्षुकों के शव का, जिनका परिवार से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता और न जिन्हें अन्त्येष्टि क्रिया की आवश्यकता ही रहती। विवाहित स्त्रियों और पुरुषों के शव का भी, जिनकी मृत्यु किसी संक्रामक रोग के कारण हो जाती है, जल-निखात किया जाता है। किन्तु उनकी अन्त्येष्टि क्रियाएं भावी सुविधा-जनक समय के लिए स्थगित कर दी जाती हैं, जब उनकी प्रतिकृतियों (पुतलों) का विधिवत् दाह होता है और दाहोत्तर विधि-विधान यथावत् सम्पन्न किये जाते हैं।

उच्च कोटि के सिद्ध-महात्माओं तथा बहुत ही छोटे शिशुओं के अतिरिक्त[1] शव के भू-निखात की प्रथा वर्तमान हिन्दू समाज से प्रायः लुप्त है। किन्तु ऋग्वेद में उपलब्ध ऋचाओं से[2] यह सिद्ध है कि पूर्व-वैदिक काल में यह प्रथा जन-साधारण में प्रचलित थी। निखात-भूमि पर लाये हुए तथा उस पर लेटे हुए शव को सम्बोधित करते हुए पुरोहित कहता है: 'तू, प्रथनशील (विस्तृत), आनन्ददायिनी पृथ्वी माता की शरण में जा; यह कुमारी (पवित्र) पृथ्वी उदार आराधक के लिए ऊन के समान कोमल है, यह निर्ऋति के सान्निध्य से तेरी रक्षा करे। हे पृथ्वी! तू इसके ऊपर आ जा, उसका दमन न कर; इसके प्रति दत्तचित्त तथा विश्रामदायिनी हो; इसे आवृत्त कर ले; पृथ्वी माता के समान अपने शिशु को अपने वस्त्र के अञ्चल से ढक लेती है। इसे पृथ्वी मृदुता व कोमलतापूर्वक आवृत कर ले; पृथ्वी के सहस्रों कण उसे ढक लें, वे इस लोक में नित्यप्रति उसको शरण दें। मैं इस मृत्पिण्ड को तेरे ऊपर रखते हुए तेरे चारों ओर मिट्टी का ढेर लगाता हूं; मैं क्षतिग्रस्त न होऊँ; यह पृथ्वी तेरा स्मारक धारण करे, यम तेरे लिए यहां निवास-स्थान बनायें'।[3]

शव के दाह तथा उसके पश्चात् अस्थि-अवशेषों के निखात की परवर्ती प्रथा

(१) अद्विवर्षे प्रेते'''शरीरमदग्ध्वा निखनन्ति। पा. गृ. सू. ३.१०. २-५।
(२) वही, १०. १८. १०-१३। (३) वही।

से प्रभावित विद्वानों की धारणा है कि उक्त ऋचाओं में अस्थि-सञ्चय का उल्लेख किया गया है। सायण के अनुसार उपर्युक्त ऋचाओं का उच्चारण मृतक व्यक्ति के अस्थि-अवशेषों को एक पात्र में रखकर भूमि में गाड़ते समय किया जाता था। सायण का उक्त मत आश्वलायन गृह्यसूत्र पर आधारित है।[1] किन्तु यह एक परवर्ती प्रथा थी, और इसे भू-निखात की उस प्रथा का स्मारक समझना चाहिए, जिसका स्थान दाह की प्रथा ले रही थी। यह दो प्रथाओं के बीच एक प्रकार का समन्वय था। सायण का मत निम्नलिखित कारणों से स्वीकार नहीं किया जा सकता :

(अ) दाह के समय मृतव्यक्ति को आकाश के उच्चतम भाग में स्थित यम के राज्य, स्वर्ग में भेजने के उद्देश्य से मन्त्रों का पाठ किया जाता था।[2] यदि उसका दाह पहले ही कर दिया गया होता और वह स्वर्ग पहुंच चुका होता, तो इसके तत्काल पश्चात् उसके अवशेषों के निखात के समय उससे पुनः इस 'विस्तृत आनन्ददायिनी पृथ्वी' के निकट जाने के लिए क्यों कहा जाता? इस प्रकार की विधि असङ्गत और परस्पर-विरोधी है।

(आ) यदि मृत शव के लिए कष्ट उठाना किसी प्रकार सम्भव भी हो, तथापि पीड़ा की पराकाष्ठा का अनुभव तो उसे दाह के समय ही होता, न कि दग्ध अस्थियों तथा अवशेषों को एक पात्र में रखकर, ढक्कन से ढक कर भूमि में गाड़ने तथा उसे मिट्टी से ढक देने के समय। किन्तु उक्त ऋचाएँ पूर्णतः बोधगम्य हो जाती हैं, यदि उनका व्यवहार शव-निखात के समय किया जाय। जैसा कि उन ऋचाओं के पाठ से जिनमें उसके शोकाकुल सम्बन्धियों द्वारा मृत व्यक्ति के हाथ से धनुष के पृथक् किये जाने का वर्णन किया गया है, प्रतीत होता है, मृत व्यक्ति का शरीर अभी भी वहीं था, और उनके लिए यह विश्वास न कर सकना पूर्णतः स्वाभाविक ही था कि मृत व्यक्ति, जो अभी भी कुछ समय पूर्व जीवित था, अब किसी प्रकार की पीड़ा या कष्ट का अनुभव नहीं करता। अतः उसके प्रति अपने अन्तिम कर्तव्य का पालन करते हुए, उसके लिए उनके हृदय में कोमल भावनाओं का सञ्चार होना और 'अपनी इस पृथ्वी माता की शरण में जा' आदि सम्बोधन करना तथा उसके प्रति पृथ्वी से कोमल तथा दयालु होने की प्रार्थना करना पूर्णतः स्वाभाविक था।

---

(१) ४.५। (२) १०.१६.२।

इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि उक्त ऋचाओं में मृत व्यक्ति के निखात का वर्णन किया गया है, दाह के पश्चात् उसकी अस्थियों अथवा अवशेषों का नहीं। किन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि स्वयं वैदिक काल में यह प्रथा वैकल्पिक तथा अप्रचलित होती जा रही थी। जब यज्ञों की पूर्णतः प्रतिष्ठा हो चुकी, तो अन्त्येष्टि को भी एक यज्ञ समझा जाने लगा[1] और दाह की प्रथा ही सर्वाधिक प्रचलित हो गयी और उसने शव-निखात की प्राचीनतर प्रथा का स्थान ले लिया। गृह्यसूत्रों में शवनिखात की प्रथा का उल्लेख नहीं किया गया है, यद्यपि इस प्राचीन परम्परा का अनुसरण दाह के पश्चात् अस्थियों तथा अवशेषों के निखात के रूप में किया जाता रहा। परवर्तीकाल में हिन्दू-समाज में बहुत ही छोटे बच्चों और संन्यासियों के अतिरिक्त शव-निखात एक पूर्णतः अपरिचित प्रथा हो गयी।

किसी लेप या बिना लेप के, सुखा कर या बिना सुखाये शव को घर में सुरक्षित रखने की प्रथा का उल्लेख हिन्दुओं के कर्मकाण्डीय साहित्य में कहीं भी नहीं उपलब्ध होता। यह प्रथा उस प्राचीन असभ्य समाज में प्रचलित थी जिसका यह विश्वास था कि मनुष्य की आत्मा मृत्यु के पश्चात् भी शरीर में निवास करती है। भारतीय आर्य वैदिक काल के पूर्व ही इस स्थिति को पार कर चुके थे। उनके विश्वास के अनुसार आत्मा मृत शरीर से पृथक् हो जाती थी[2] और उसे सुरक्षित रखने में कोई सार नहीं है।

हिन्दुओं में वैदिक काल से लेकर आज तक मृतक शरीर का दाह शव की व्यवस्था का मान्यतम प्रकार रहा है। यह पद्धति मानव-सभ्यता के उच्चस्तर पर विकसित हुई, क्योंकि यह सर्वाधिक वैज्ञानिक तथा परिष्कृत है। इस प्रथा को अस्तित्व प्रदान करने में एकाधिक कारणों का हाथ रहा होगा :

(अ) एक स्थान पर स्थिर रूप से न बसे हुए घुमन्तू जनों को, यदि वे मृत व्यक्ति के अवशेषों को अपने साथ ले जाना अथवा शत्रु द्वारा उन्हें अपवित्र कर दिये जाने की सम्भावना से दूर करना चाहते, यह प्रकार अधिक सुविधाजनक प्रतीत हुआ होगा।

---

(१) यह एक पितृयज्ञ था, क्योंकि इसके द्वारा मृत व्यक्ति पितृलोक को भेजा जाता था, तुलनीय, ऋ. वे. १०. १६. १।

(२) ऋ. वे. १०. १४. ७-९।

(आ) दाह की प्रथा का एक अन्य उल्लेखनीय प्रयोजन मृत व्यक्ति के प्रेतत्व से मुक्ति की कामना रही होगी। प्रेत का गढ (शरीर) अग्नि द्वारा भस्म हो जाता था और वह इसकी ज्वालाओं से भयभीत हो जाता था।

(इ) वन, घास तथा कूड़ा-करकट को अग्नि द्वारा ध्वस्त होते हुए देखकर शव के दाह में भी जनों ने उसकी उपयोगिता को पहचाना होगा।

(ई) यद्यपि आरम्भ में उक्त कारण अपेक्षाकृत अधिक क्रियाशील रहे होंगे, किन्तु सबलतम कारण, जिसने दाह की प्रथा को स्थायित्व प्रदान किया, वैदिक काल में प्रचलित भारतीय आर्यों का धार्मिक विश्वास था। भारतीय-आर्य अग्नि को पृथ्वी पर स्थित देव-दूत तथा देवताओं को दी हुई आहुतियों को उन तक पहुँचानेवाला समझते थे।[1] वे भौतिक वस्तुएँ, जिनसे हव्य बनता था, प्रत्यक्ष रूप से अपने स्थूल रूप में स्वर्गस्थ देवताओं तक नहीं पहुँच सकती थीं, अतः अग्नि जैसे दिव्य-दूत तथा आहुतियों के वाहक की सेवाओं की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह तुलना मानव-शवों तथा यज्ञों में देवों के लिए बलि दिये हुए पशुओं के मृत शरीर तक व्यापक हो गई। मनुष्य की मृत्यु होने पर उसके शरीर को स्वर्ग भेज देना आवश्यक समझा जाने लगा। उसे अग्नि को सौंप देने से ही यह सम्भव था। अग्नि के द्वारा शरीर के ध्वस्त तथा भस्मावशेष होने पर ही, मृत व्यक्ति यम-लोक में नवीन देह प्राप्त कर सकता तथा पितरों और पूर्वजों में सम्मिलित हो सकता था।[2] दाह की प्रथा के मूल में यह सबलतम धारणा निहित प्रतीत होती है, जो अनिवार्यतः धर्म-भाव से ओत-प्रोत थी। मनुष्य द्वारा अग्नि के आविष्कार तथा उसे अपने उपयोग में लाने के पूर्व, शव या तो नियमतः फेंक दिये जाते थे, अथवा भूमि में गाड़ दिये जाते थे, या मांस-भक्षी पशुओं और पक्षियों के खाने के लिए खुले मैदान में छोड़ दिये जाते थे। अतः दाह की प्रथा अन्त में ही अस्तित्व में आयी होगी। पारसियों में, जो प्राचीन आर्यों की ही एक शाखा थे, प्रबल अग्निपूजक हो जाने के पश्चात् भी, पशु-पक्षियों द्वारा खाने के लिए शव को खुले मैदान में छोड़ देने की प्रथा प्रचलित रही, क्योंकि अग्नि उनके धर्म में इतनी पवित्र मानी जाती थी कि उसे शव जैसी अपवित्र वस्तु से भ्रष्ट करना वे उचित नहीं समझते थे। किन्तु वैदिक

(१) वह्निं यशसं विदथस्य केतुं सुप्राव्यं दूतं सद्यो अर्थम्। ऋ. १. ६०।

(२) ऋ वे. १०. १४. ८।

आर्य इस विषय में उनसे सहमत नहीं थे, और क्योंकि वे अपने प्रिय मृतक को स्वर्ग पहुंचाने तथा पितृ-लोक में स्थान देने के लिए अत्यन्त व्यग्र थे, अतः उन्होंने उसकी नवीन परिस्थितियों के अनुरूप उसे अपेक्षाकृत गौरवपूर्ण तथा प्रकाशमान रूप में स्वर्ग में स्थानान्तरित करने के लिए मृत शरीर को अग्नि को सौंपना पूर्णतः उचित समझा।

एक अन्य धार्मिक विश्वास भी था, जो दाह की प्रथा के प्रसार में सहायक हुआ प्रतीत होता है। यह विश्वास प्रचलित था कि भूत-प्रेत अधिकांश में भूमि में गाड़े हुए मृत व्यक्तियों की आत्मा से उत्पन्न होते हैं।[1] अतः लोगों ने व्यापक रूप से दाह की प्रथा के प्रसार, और उसके द्वारा मृत व्यक्तियों को अपने कर्मों का दण्ड या पुरस्कार प्राप्त करने के लिए निर्ऋति या यम-लोक में भेजकर मृत्यु-लोक में उनकी संख्या कम कर देना आवश्यक समझा। शिशु, जो शुद्ध तथा निष्पाप होते हैं, और उच्चकोटि के साधु-सन्तों, जो अपने जीवन-काल में ही दुष्ट प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर चुके होते हैं, और किसी भी प्रकार की हानि से रहित समझ कर जिनके शव का निखात किया जाता है, के अतिरिक्त मृतात्मा के कल्याण के लिए हिन्दू आज भी दाह-क्रिया को नितान्त आवश्यक समझते हैं। किन्तु साधारण मनुष्यों तथा गृहस्थों के विषय में यह 'शवनिखात' भय की दृष्टि से देखा जाता है और महात्मा की सद्‌गति के मार्ग में बाधक समझा जाता है। हिन्दू दाह-क्रिया को और्ध्वदैहिक-कृत्य अर्थात् स्वर्ग की ओर गति के लिए आत्मा को शरीर से मुक्त करनेवाली क्रिया कहते हैं। दाह-क्रिया बिना किये मृत आत्मा अपने भूतपूर्व निवासस्थान का चक्कर काटता रहता और बिना सान्त्वना के कष्ट पाता तथा प्रेत के रूप में महान् सङ्कट में ग्रस्त रहता है, यह विश्वास व्यापक है।

किशोरावस्था से कम आयु के शिशुओं और बालकों के शव की दाहक्रिया नहीं की जाती।[2] मृत शिशुओं को कोमलतापूर्वक गाड़ दिया जाता है। कम

(१) वैदिक माइथॉलॉजी, पृ० ७०. तुलनीय, ओल्डेन्बर्ग, डी रिलीजन डेस वेद, पृ० ६२।

(२) गृह्यसूत्रों के अनुसार केवल दो वर्ष से कम आयु के शिशुओं का ही दाह नहीं किया जाता। द्रष्टव्य, पा० गृ सू. ३.१०.२।

से कम कुछ उदाहरणों और सम्भवत सभी में उनके पुनः जीवित हो जाने की सम्भावना के कारण ऐसा किया जाता है। संक्रामक रोगों से मृत व्यक्ति साधारणतः पानी में फेंक दिये जाते हैं। इसके मूल में यह अन्धविश्वास निहित है कि इन रोगों को लानेवाली अमङ्गलकारिणी शक्तियाँ अपने लक्ष्य के दाह किए जाने पर रुष्ट हो जाती हैं। अत्यधिक सम्मानित व्यक्तियों का भी दाह नहीं किया जाता, क्योंकि अपने पवित्र गुणों के कारण वे जनसाधारण से पृथक् हो जाते हैं। नव-प्रसूता तथा गर्भिणी स्त्रियों का भी दाह नहीं किया जाता।

४. अन्त्येष्टि-क्रियाएं

(१) वैदिक काल

अन्त्येष्टि क्रियाओं के पूर्ण विवरण या निरूपण के लिए हमें वैदिक काल से आरम्भ करना चाहिए। वैवाहिक विधि-विधानों के समान, अन्त्येष्टि से संबन्धित प्रथाएं भी वैदिक काल में विभिन्न जनों में भिन्न-भिन्न रही होंगी। किन्तु हमें भिन्न भिन्न कुलों और वंशों में प्रचलित विधि-विधानों का कोई वर्णन प्राप्त नहीं है। उसके अतिरिक्त अन्त्येष्टिक्रियाओं में व्यवहृत ऋचाएं, ऋग्वेद (१०.११–१९) और अथर्ववेद (१८) में, जहाँ वे संकलित हैं, यथाक्रम व्यवस्थित नहीं की गई हैं। तथापि हम संस्कार-सम्बन्धी निम्नलिखित बातों का सरलता से अनुमान कर सकते हैं :

(अ) जब किसी मनुष्यकी मृत्यु होती थी, तो उसे पुनर्जीवित करने के लिए मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था (अथर्ववेद, ७.५३), जब इसमें सफलता नहीं होती थी, तब अन्त्येष्टि क्रियाएं आरम्भ की जाती थीं।[1]

---

(१) इसी के समान एक प्रथा का अवशेष स्पेन में भी मिलता है। पोप अथवा राजा की मृत्यु होने पर, एक उच्च राजकीय अधिकारी तीन बार मृत व्यक्ति का नाम उच्च स्वर से पुकारता है, और उत्तर न मिलने पर उसकी मृत्यु को प्रमाणित करता है।

—ई० एस० हार्टलैन्ड, इन्साइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एण्ड इथिक्स, भा० ४, पृ० ४११।

(आ) शव को स्नान कराया जाता था (अथर्व० ५.१९.४) और शव को घर से बाहर भेजने पर कहीं मृत्यु घर वापिस न लौट आए, इस भय से उसके पंजे सुतलियों के गुच्छे से एक साथ बांध दिए जाते थे (अथर्व० ५.१९.१२)।

(इ) शव दो बैलों द्वारा ढोयी जानेवाली गाड़ी पर ले जाया जाता था (अथर्व. २.५६; तैत्तिरीय आरण्यक, ४.१.३), जिसके साथ उसके शोकार्त सम्बन्धी तथा सहकर्मी रहते थे (अथर्व. ८.१.१९;९.२.११.)।

(ई) श्मशान में शव को वस्त्र पहनाये जाते थे (अथर्व. १८.२.५७)।

(उ) मृतव्यक्ति का मुख गाय के गोबर से ढंक दिया जाता था (अथर्व. १८.२.५८)।

(ऊ) मृतव्यक्ति के हाथ से धनुष या यष्टि दूर कर दी जाती थी (अथर्व. १८.२.५९,६०.)।

(ए) चिता पर उसके एक किनारे उसकी विधवा पत्नी लेट जाती थी (ऋग्. १०.१८.७; अथर्व. १८.३.१.२)।

(ऐ) एक बकरे की बलि दी जाती थी और चिता प्रदीप्त कर दी जाती थी। स्त्रियाँ अपना शोक प्रकट करती थीं (अथर्व. १८.२.४.८)।

(ओ) मृतव्यक्ति के शरीर के विभिन्न भागों से भिन्न-भिन्न स्थानों को जाने के लिए कहा जाता था (ऋग्. १०.१६.३)।

(औ) अस्थियाँ सङ्गृहीत कर गाड़ दी जाती थीं तथा कभी-कभी अन्त्येष्टि का स्मारक खड़ा कर दिया जाता था (ऋग्.१०.१८.११.१२)।

(अं) मृतक व्यक्ति को विदाई का सन्देश दिया जाता था (ऋग्. १०.१४.७.८)।

(अः) चिता की अग्नि के सामीप्य के कारण उत्पन्न अशौच के निवारण के लिए उसके सम्बन्धी स्नान करते थे (अथर्व. १२.२.४०–४२)।

(क) अपवित्र अग्नि को दूर करने के लिए घर में शुद्ध यज्ञिय अग्नि प्रदीप्त की जाती थी (अथर्व. १२.२.४३–४५)।

(ख) अन्त्येष्टि क्रिया की समाप्ति पर क्रव्याद् अग्नि, जो शव के दाह के लिए प्रदीप्त की जाती थी, बाहर रख दी जाती थी (अथर्व.१२.२.४)। अग्नि भी, जो गृहस्वामिनी के पति की मृत्यु होने पर घर को अपने जाल में दृढ़तापूर्वक बांध लेती है, बाहर कर दी जाती थी (अथर्व.१२.२.३९)।

(ग) इसके पश्चात् भोज, नृत्य, हास्य-विनोद आदि होता था (ऋग्. १०.१८.३)।

इस प्रकार उपर्युक्त सूची में, दाह, अभिषिञ्चन, श्मशानचिति (शव का प्रक्षालन तथा चिता की रचना); उदक-कर्म तथा शान्तिकर्म, अन्त्येष्टि क्रिया के ये सम्पूर्ण चार भाग हमें मिल जाते हैं। यद्यपि कालक्रम से अन्त्येष्टि-क्रिया के ब्यौरों में पर्याप्त परिवर्तन हुआ, किन्तु संस्कार के मौलिक विभाग आज भी वे ही हैं।

(२) सूत्र-काल

वेदों के पश्चात् हमें अन्त्येष्टि क्रियाओं का वर्णन कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक के षष्ठ अध्याय में प्राप्त होता है।[1] उक्त आरण्यक में पितृमेध शीर्षक के अन्तर्गत, श्राद्ध अथवा ग्यारहवें दिन की क्रियाओं के अतिरिक्त प्रथम दस दिनों की क्रियाओं के लिए अपेक्षित सभी मन्त्र दिये गये हैं। अधिकांश ऋचाएँ ऋग्वेद से ली गई हैं और उन्हें यथाक्रम व्यवस्थित किया गया है, किन्तु उन विशिष्ट विधि-विधानों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, जिनके लिए वे अभिप्रेत हैं। कतिपय गृह्यसूत्रों में, जिनमें अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन किया गया है, उससे सम्बद्ध विधि-विधान और भी अधिक विस्तृत और व्यवस्थित कर दिये गये हैं। भारद्वाज और बौधायन गृह्यसूत्रों में उक्त आरण्यकों को उनकी न्यूनताओं और अभावों की पूर्ति करते हुए सूत्रबद्ध कर दिया गया है। ये कतिपय विशिष्ट निर्देश भी प्रस्तुत करते हैं, जो आश्वलायन गृह्यसूत्र में, जो इस विषय का निरूपण करता है, उपलब्ध नहीं हैं। हिरण्यकेशि गृह्यसूत्रों में भी अन्त्येष्टि क्रियाओं का वर्णन किया गया है, जो परवर्ती लेखकों की रचनाओं का उपजीव्य है।

(३) उत्तर-कालीन परिवर्तन

मध्ययुगीन तथा आधुनिक पद्धतियाँ तथा प्रयोग साधारणतः उपर्युक्त स्रोतों पर आधारित हैं, यद्यपि उनमें कतिपय नवीन तत्त्वों का समावेश हो गया है और संस्कार के अप्रचलित अंश लुप्त हो गये हैं। इसके अतिरिक्त इन क्रियाओं

(१) तैत्तिरीयारण्यक ३।

में परम्परा का बहुत बड़ा हाथ रहता है। अन्त्येष्टि क्रियाओं के विशिष्ट भागों का निरूपण करते समय कालिक भेदों की चर्चा यथास्थान की जाएगी।

५. मृत्यु का आगमन

मृत्यु के पूर्व अनुसृत प्रथाओं तथा सम्पन्न की जानेवाली क्रियाओं का विशद विवरण धर्मशास्त्रों में नहीं दिया गया है। किन्तु परम्परा से हमें उनमें से अनेक प्रथाएँ तथा विधि-विधान ज्ञात हैं। जब एक हिन्दू यह अनुभव करता है कि उसकी मृत्यु समीप आ गई है, तो वह अपने सम्बन्धियों और मित्रों को निमन्त्रित करता है और उनसे मित्रता से बातचीत करता है। अपने भावी कल्याण के लिए वह ब्राह्मणों तथा निर्धनों को दान देता है। दानों में गौ का दान सर्वाधिक मूल्यवान् है। वह वैतरणी कहलाती है, क्योंकि वह पाताल-लोक की नदी को पार करने में मृतक की मार्ग-दर्शक समझी जाती है। सूत्रकाल में यह गाय अनुस्तरणी कहलाती थी, और या तो बलि चढ़ाकर शव के साथ उसका दाह कर दिया जाता था अथवा उसे श्मशान से दूर भाग जाने के लिए उन्मुक्त छोड़ दिया जाता था।[1] जब गो-वध निषिद्ध हो गया तो गाय ब्राह्मण को दान में दी जाने लगी और यह विश्वास व्याप्त हो गया कि धाता की रहस्यपूर्ण शक्ति के द्वारा वह मृतक को पाताल लोक की नदी पार करने में सहयोग देती है। जब मृत्यु का समय निकट आ जाता है, तो रोगी का शरीर स्वच्छ बालूदार भूमि पर रख दिया जाता है। इसके पश्चात् तीन अग्नियों, अथवा यदि वह एक ही अग्नि रखता है, तो केवल उस गार्हपत्य अग्नि के समीप अर्थी तय्यार की जाती है।[2] इस पर रुग्ण व्यक्ति लिटा दिया जाता है, और उसका सिर दक्षिण दिशा की ओर कर दिया जाता है। उसके कानों के समीप उसकी अपनी शाखा के वेदों के मन्त्रों का पाठ किया जाता है। यदि रोगी ब्राह्मण हुआ, तो किसी आरण्यक के वचन उसके कानों में दुहराये जाते हैं। आजकल मृत व्यक्ति के कानों में भगवद्गीता तथा रामायण के श्लोकों का पाठ किया जाता है।

---

(१) बौ. प. सू. ४. १।

(२) आ. गृ. सू. ४. १।

६. प्राग्-दाह विधि-विधान

आरण्यक में दिया हुआ प्रथम मन्त्र मृत्यु के तुरन्त पूर्व होम का उल्लेख करता है। किन्तु यह नियम उन्हीं के लिए अनिवार्य है, जिन्होंने अपने जीवन-काल में यज्ञिय अग्नियों को सुरक्षित रखा हो। बौधायन के अनुसार मृतक के दाहिने हाथ का स्पर्श कर गार्हपत्य अग्नि में शुद्ध घृत से पूर्ण चम्मच से चार आहुतियाँ देनी चाहिएँ। किन्तु भारद्वाज उक्त आहुतियाँ आहवनीय अग्नि को देने का विधान करते हैं, और वे इस विषय में मौन हैं कि आहुतियाँ चार होनी चाहिएँ या नहीं। आश्वलायन के अनुसार उक्त आहुतियाँ आगे चलकर एक भिन्न क्रम में दी जानी चाहिएँ।[1] हिन्दू-समाज में यज्ञ-प्रधान धर्म के ह्रास के साथ ही इस विधि का महत्त्व समाप्त हो गया और आज-कल बहुत ही थोड़े रूढ़िवादी परिवारों में इसका अनुसरण किया जाता है। इसका स्थान नवीन पौराणिक तथा लोकप्रिय प्रथाओं ने ले लिया है। वे मरणासन्न व्यक्ति के मुख में तुलसी की पत्तियों के साथ जल की कुछ बूँदें या तुलसी-जल डालते हैं। बंगाल में एक अत्यन्त विलक्षण प्रथा विकसित हुई है। उसके अनुसार मरणासन्न व्यक्ति नदी की ओर ले जाया जाता है और मृत्यु के समय उसके देह का अधोभाग जल में डाल दिया जाता है। यह क्रिया अन्तर्जली कहलाती है तथा बंगाल के आधुनिक संस्कारों का यह एक नितान्त अरुचिकर अंश है। बोल-चाल की अलङ्कृत भाषा में इसे घाटमृत्यु कहा जाता है। निम्नलिखित कारणों से स्पष्ट है कि यह प्रथा प्राचीन नहीं है। उपर्युक्त सभी धर्मशास्त्र यह मान कर चलते हैं कि मृत्यु, यदि उस स्थान के निकट नहीं जहाँ यज्ञिय अग्नि रहता है, तो घर में हो चुकी है।[2] इस नकारात्मक युक्ति पर विचार करते हुए भारत के अन्य भागों में इसकी पूर्ण अनुपस्थिति और इस प्रथा के विषय में प्राचीनतम प्रमाण आधुनिकतम पुराण होने से[3] यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस प्रथा का उदय आधुनिक काल में हुआ। सामान्यतः उद्धृत कोई भी प्रमाण,

---

(१) वही. ४. १।

(२) यह प्रथा भारत के अन्य प्रान्तों में प्रचलित नहीं है।

(३) बौ. प. सू. १. १।

सोलहवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं है, जिसमें इस प्रथा का विध्यात्मक कर्तव्य के रूप में विधान किया गया हो।[1] यह प्रथा सम्भवतः रघुनन्दन और उसके समकालीन कर्मकाण्डीय लेखकों के समय से अस्तित्व में आई है।

७. अर्थी

गृह्यसूत्रों के अनुसार होम के पश्चात् उदुम्बर की लकड़ी की एक अर्थी बना कर उस पर रोएंदार कृष्ण मृगचर्म का एक टुकड़ा बिछाकर, सिर को दक्षिण की ओर तथा मुँह को ऊपर की ओर कर शव को उस पर लिटा देना चाहिए।[2] आज-कल अर्थी बांस से बनायी जा सकती है और कृष्ण मृगचर्म का लोप ही हो गया है। पुत्र, भाई अथवा अन्य सम्बन्धी या अन्य कोई व्यक्ति जो दाहदाह करनेवाला हो, उसे शव से पुराने वस्त्र छोड़ देने के लिए कहना चाहिए और समय के उपयुक्त नये वस्त्र पहनाना चाहिए: 'तू अपने उन वस्त्रों को दूर कर दे, जो तू अभी तक पहनता था; अपने किए हुए इष्ट और पूर्त यज्ञों, ब्राह्मणों की दी हुई दान-दक्षिणा और अपने बन्धुओं को बहुधा दिए हुए उपहारों को स्मरण कर'।[3] इसके पश्चात् मृतक का शरीर बिना रंग के तथा न कटे हुए, तथा किनारों से युक्त वस्त्र से ढंक दिया जाता है। शरीर ढंकने के समय यह मन्त्र दुहराया जाता है, 'यह सर्वप्रथम तेरे समीप आता है।' मृतक व्यक्ति को पर लोक में प्रवेश करने के लिए जीर्ण वस्त्रों को त्याग कर शुद्ध व नवीन वस्त्र धारण करने पड़ते हैं। तब शव को उक्त आवरण से ढक कर, अर्थी पर श्मशान की ओर ले जाते हैं।

८. शव का उठाना

कतिपय आचार्यों के अनुसार शव वयोवृद्ध दासों द्वारा ले जाया जाना चाहिए, तथा अन्य आचार्यों के अनुसार दो बैलों द्वारा ढोयी जानेवाली गाड़ी

(१) स्कन्दपुराण, शुद्धितत्त्व में पृ. १६७ पर उद्धृत; अग्निपुराण, प्रायश्चित्त-तत्त्व, पृ. २९२ पर उद्धृत।

(२) रघुनन्दन की तिथि के लिए देखिये, पा. वा. काणे. हिस्ट्री ऑव् धर्मशास्त्र भा. १ पृ. ४१६।

(३) अपैतद् ह यदिहाबिभः पुरा। इष्टापूर्तमनुसम्पश्य दक्षिणां यथा ते दत्तां बहुधा विबन्धुषु।

पर लाद कर ले जाना चाहिए।[1] इस प्रयोजन के लिए विनियोज्य मन्त्र में कहा गया है, 'तुम्हारे जीवन के वहन के लिए मैं इन दो बैलों को गाड़ी में जोतता हूं, जिससे तुम यमलोक को जा सकते हो, जहाँ पुण्यकर्मा लोग जाते हैं।' यह सूचित करता है कि प्राचीनतम प्रथा के अनुसार इस प्रयोजन के लिए गाड़ी का व्यवहार किया जाता था, मनुष्यों का नहीं। आश्वलायन-गृह्यसूत्र के अनुसार केवल एक ही बैल का व्यवहार किया जाता था। कुछ भी हो, प्राचीन सूत्रकार ब्राह्मण का शव ढोने के लिए शूद्र का उपयोग करने में कोई अरुचि नहीं दिखाते, जैसा आधुनिक स्मृतियों में पाया जाता है। उक्त स्मृतियों के अनुसार मृतक के रक्त-सम्बन्धियों के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति को यह कार्य नहीं करना चाहिए, तथा किसी विजातीय व्यक्ति को उसे स्पर्श करने से अशौच हो जाता है, जिसका निवारण केवल प्रायश्चित्त से ही हो सकता है।[2] यह पक्षपात सर्वप्रथम मनु के समय में प्रकट हुआ। वे कहते हैं, 'सम्बन्धियों के जीवित रहते हुए मृतक ब्राह्मण को शूद्र से न ढुलवावे, क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित होने के कारण अन्त्येष्टि क्रिया अस्वर्ग्य हो जाती है'।[3] उत्तरवर्ती आचार्य भी इसी प्रकार शूद्र-स्पर्श के निषेध पर बल देते हैं।

६. शव-यात्रा

शवयात्रा का नेतृत्व साधारणतः मृतक का ज्येष्ठ पुत्र या प्रमुख शोकार्त सम्बन्धी करता है।[4] अनेक स्थानों में शवयात्रा का नेतृत्व करनेवाला व्यक्ति अपने हाथ में जलती हुई लकड़ी लिए रहता है, जिसे वह गार्हपत्य अग्नि से प्रदीप्त करता है। उसके पीछे अर्थी रहती है, जिसका अनुसरण मृतक के सम्बन्धी और मित्र करते हैं। गृह्यसूत्रों के अनुसार दो वर्ष से अधिक आयु के सभी सपिण्डों को शव के साथ श्मशान तक जाना चाहिये।[5] शवयात्रा में सम्मिलित होनेवालों का क्रम उनकी आयु के अनुसार होता है, अर्थात् वयो-वृद्ध आगे-आगे चलते हैं और अन्य लोग उनके पीछे। प्राचीन काल में स्त्रियां भी अपने

---

(१) आ. गृ. सू. ४. १। (२) पा. स्मृ. ३. ४३।

(३) म. स्मृ. ५. १०४।

(४) जयरामकृत पद्धति, पा. गृ. सू. ३. १०।

(५) द्विवर्षप्रभृति प्रेतमाश्मशानात् सर्वे गच्छेयुः। पा. गृ. सू. ३. १०. ८।

केशों को बिखेर व अस्त-व्यस्त कर और कन्धों को धूलि-धूसरित कर श्मशान जाती थीं। मृतक की कनिष्ठ पत्नी उनका नेतृत्व करती थी।[1] किन्तु आज-कल यह प्रथा लुप्त हो चुकी है। यात्रा आरम्भ होते समय उसका अग्रणी अधोलिखित मन्त्र की पुनः पुनः आवृत्ति करता है, 'पूषा, जो मार्ग को भली भांति जानता है, तुम्हें ले जाने के लिए जिसके उत्तम प्रशिक्षित पशु हैं, और जो लोक का रक्षक है; वह तुम्हें यहाँ से ले जा रहा है, वह तुम्हें पितृ-लोक में स्थानान्तरित कर दे; अग्नि, जो यह जानता है कि तुम्हारे लिए क्या उचित है, यहाँ से ले जाए।'

१०. अनुस्तरणी

प्राचीन काल में शव-यात्रा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सदस्य अनुस्तरणी या राजगवी संज्ञक एक पशु होता था।[2] इस प्रयोजन के लिए एक विशेष प्रकार की गाय चुनी जाती थी। उसका स्थान एक बकरा भी ले सकता था। पशु निम्नलिखित मन्त्र के साथ लाया जाता था, 'लोकों के रक्षक, यह तेरे लिए बलि है।' सूत्रकारों के अनुसार गाय की बलि देनी चाहिए, किन्तु बलि के समय यदि कोई घटना घट जाती तो पशु मुक्त कर दिया जाता था।[3] बलि में विनियोज्य मन्त्र इस प्रकार है। 'मृतक के साथी, हमने मृतक के अशेष पापों का तेरे द्वारा निराकरण कर दिया है; जिससे हमें कोई भी पाप अथवा वार्द्धक्य के कारण आनेवाली दुर्बलता न आक्रान्त करे।' यदि गाय को मुक्त करना आवश्यक हो जाता था, तो उसे तीन बार चिता की प्रदक्षिणा कराई जाती थी, जब कि प्रमुख व्यक्ति प्रत्येक बार मन्त्र को दुहराता था। तब वह एक अन्य मन्त्र द्वारा शुद्ध की जाती थी, जो इस प्रकार है। 'तू अपने दूध द्वारा मेरे कुल में रहनेवालों, मृतों, नवजात शिशुओं तथा भविष्य में जन्म लेनेवालों के लिए तृप्ति का साधन हो'। अन्त में गाय इन शब्दों के साथ मुक्त कर दी जाती थी, 'यह गाय रुद्रों की माता, वसुओं की दुहिता, आदित्यों की स्वसा और हमारे सुख

(१) अस्य भार्याः कनिष्ठप्रथमाः प्रकीर्णकेश्यो व्रजेयुः पांसूनंसेष्वावपमानाः। बौ. पि. सू. १. ४. ३।

(२) आनयन्त्येतां कृष्णां कूटां जरतीं तजघन्यामनुस्तरणीं पदबद्धाम्। बौ. गृ. सू. १. ४. १।

(३) आ. गृ. सू. ४. १।

की धात्री है, अतः मैं गम्भीरतापूर्वक सभी बुद्धिमान् मनुष्यों से कहता हूं कि इस शुद्ध तथा अ-हानिकर गाय को मत मारो। उसे पानी पीने और घास चरने दो। ओम्! मैं इसे मुक्त करता हूं।' सम्प्रति किसी भी प्रयोजन के लिए गो-वध पूर्णतः निषिद्ध है और उसके स्थान पर मृत्यु के तत्काल पूर्व तथा श्मशान में शव-दाह के पूर्व गौ का दान किया जाता है।

ओल्डेनबर्ग के मतानुसार शव के दाह के समय गौ या बकरे की बलि देने में स्थानापन्नता का भाव निहित प्रतीत होता है।[1] अग्नि गाय या बकरे के मांस को भस्म कर डालता है, जो शव को आवृत्त कर लेता और इस प्रकार मृत व्यक्ति को बचा लेता है। उसकी धारणा ऋग्वेद (१०.१६.४, ७) पर आधारित है जो इस प्रकार है: 'अज तेरा भाग है, तू इसे अपने तप से तप्त कर, तेरी ज्वाला इसे तप्त करे। हे जातवेदस्, तू अपनी भीषण ज्वालाओं से इसे सुकृतों के लोक में वहन कर। अग्नि की ज्वालाओं से इन गायों को वर्म बनाकर अपनी रक्षा कर, उनकी स्थूल मेदा से तू पूर्णतः आच्छन्न हो जा। इस प्रकार अपनी दीप्तज्वालाओं से तुझ पर आक्रमण करने के लिए उद्यम सफल न हो।'

जहाँ तक ऋग्वेदकालीन विचार-धारा का सम्बन्ध है, उक्त जर्मन विद्वान् का मत युक्तियुक्त है। किन्तु सूत्रकाल में विचार-धारा में परिवर्तन हुआ और उक्त बलियाँ मृतक की भावी लोक की यात्रा तथा परलोक में निवास के समय भोजन के रूप में दी जाती थीं, जैसा कि उनकी सहवर्ती ऋचाओं से स्पष्ट है।[2] परवर्ती काल में यही धारणा दान के रूप में विद्यमान रही, यद्यपि परलोक को भोजन भेजने के प्रकार में परिवर्तन हुआ। प्राचीन काल में अन्त्येष्टि की अग्नि उसे अपनी ऊर्ध्वगामी ज्वालाओं द्वारा ले जाती थी; आज-कल यह ब्राह्मणों की रहस्यपूर्ण शक्ति के माध्यम से किया जाता है। पुनश्च, गाय या बकरा केवल भोजन के लिए ही बलि नहीं दिये जाते थे, वे परलोक की यात्रा में मृतक की सहायता तथा मार्ग-दर्शन भी करते थे, जैसा कि उनके नाम अनुस्तरणी या वैतरणी शब्द से ज्ञात होता है।

मृतक की घर से श्मशान-भूमि तक की यात्रा तीन भागों में विभक्त है और शवयात्रा प्रत्येक विराम पर रुकती है, जहाँ विशेष विधि-विधान किये

---

(१) दि ऋग्वेद, ५८७-८८। (२) आ. गृ. सू. ४।

जाते हैं।[1] मार्ग में यमसूक्तों का पाठ किया जाता है। किन्तु इस समय शव को ले जाते समय साधारणतः हरि या राम के पवित्र नाम को जपने की प्रथा प्रचलित है। जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग न तो मार्ग में विहित विधि-विधान ही सम्पन्न करता और न ही यम की स्तुतिपरक वैदिक ऋचाओं का उच्चारण करता है।

११. दाह

श्मशान भूमि में पहुंचने के पश्चात् चिता बनाने तथा गड्ढा खनने के लिए स्थान चुना जाता है।[2] शवदाह के पूर्व श्मशान-भूमि में की जानेवाली क्रियाओं की ओर उक्त आरण्यक में संकेत नहीं किया गया है, जिससे प्रतीत होता है कि आरम्भ में ये क्रियाएं मन्त्रों के बिना ही की जाती थीं। किन्तु गृह्यसूत्र इस विषय में, विशेषतः चिता बनाने के विषय में निश्चित नियमों का विधान करते हैं। स्थान के चुनने के विषय में निर्दिष्ट नियम देवताओं के लिए बलि देने के स्थानसंबन्धी नियमों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार विधिवत् चुना हुआ स्थान शुद्ध किया जाता है और भूत-प्रेतों के निवारण के लिए एक मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। आश्वलायन के अनुसार गड्ढा बारह अंगुली गहरा, पाँच वित्ता चौड़ा और इतना लम्बा होना चाहिये जितना कि हाथों को ऊपर उठाने पर शव। प्रयोग में आनेवाले ईंधन का प्रकार, चिता का माप तथा निर्माण और अन्य संबद्ध नियम धार्मिक ग्रन्थों द्वारा निर्धारित हैं और शोकार्त संबन्धियों आदि के स्वेच्छाचार के लिए कोई अवकाश नहीं छोड़ा गया है। कतिपय लेखकों के मतानुसार शव की कुक्षि को तोड़ देना चाहिए और उसकी अँतड़ियों को घी से भर कर उसे कुश से सी देना चाहिए।[3] इसके मूल में शव को शुद्ध करने और दाह को अधिक सुविधाजनक बनाने की भावना निहित थी। आगे चलकर यह प्रथा असंस्कृत तथा निषिद्ध समझी जाने लगी। आजकल मृतक के केशों और नखों का कृन्तन और जल से शव का प्रक्षालन शुद्धि के लिए पर्याप्त समझा जाता है। अब शव चिता पर रखा जाता

---

(१) वही। (२) वही।

(३) अथास्य दक्षिणं कुक्षिमपावृत्य निष्पुरीषं कृत्वाऽद्भिः प्रक्षाल्य सर्पिषा अन्त्राणि पूरयित्वा दर्भैः संसीव्यति। बौ. सू. प. २-६।

है।[1] ब्राह्मण व्यक्ति के शव के हाथ में एक स्वर्ण-पिण्ड, क्षत्रिय के हाथ में धनुष और वैश्य के हाथ में मणि होना चाहिए।[2] वैदिक तथा सूत्रकालों में जब प्रत्येक बात नियमानुसार की जाती थी, अनुस्तरणी गाय या बकरा, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, या तो बलि दे दिया जाता या मुक्त कर दिया जाता था। इस समय यह विधि पूर्णतः अव्यवहृत हो चुकी है।

१२. विधवा का चिता पर लेटना

इस प्रसंग में विधवा के अपने मृतक पति के साथ चिता पर लेटने की प्रथा का उल्लेख करना आवश्यक है, जो यद्यपि इस समय लुप्त हो चुकी है, किन्तु प्राचीन काल में गृह्यसूत्रों के युग तक प्रचलित थी।[3] बौधायन के अनुसार पत्नी को शव के वाम पार्श्व में लेटना चाहिए। आश्वलायन का मत है कि वह उत्तर की ओर सिर के निकट रखी जानी चाहिए। तब अग्निदान करनेवाले व्यक्ति को मृतक को इस प्रकार सम्बोधित करना चाहिए, 'हे मर्त्य, यह स्त्री (तुम्हारी पत्नी) भावी लोक में तुम्हारे साथ संयुक्त होने के लिए शव के समीप लेटी है; वह सदैव पतिव्रता स्त्री के पुराणधर्म का पालन करती रही है; उसे इहलोक में रहने की अनुमति प्रदान करो और अपनी सम्पत्ति अपने वंशजों के लिए छोड़ दो।[4] मृतक के छोटे भाई, शिष्य अथवा सेवक या दास को चिता की ओर बढ़ कर स्त्री का बाँया हाथ पकड़कर उसे चिता से उतरने के लिए कहना चाहिए, 'हे नारी, उठ, तू निष्प्राण (गतासु) व्यक्ति के समीप लेटी है; तू इस जीवलोक में आ, अपने गतासु पति को त्याग कर उस व्यक्ति से विवाह कर जो तेरा पाणिग्रहण करे (हस्तग्राभस्य) और तुझसे विवाह के लिए इच्छुक (दिधिषोः) हो'।[5]

उक्त प्रथा के सन्दर्भ में उच्चारण की जानेवाली ऋचाएं सर्वप्रथम ऋग्वेद[6] और अथर्ववेद[7] के अन्त्येष्टि सूक्तों में उपलब्ध होती हैं। इसमें हम सतीप्रथा का कर्मकाण्डीय अवशेष पाते हैं। प्राचीनतर काल में मृत व्यक्ति को प्राप्त उपहार

(१) आ. गृ. सू. ४।
(२) वही; बौ. पि. सू. १. ८. ३-५।
(३) वही।
(४) वही।
(५) आ. गृ. सू. ४. २४।
(६) १०. १८, ८. ९।
(७) १८. ३. १-२।

उसके शव के साथ गाड़ या जला दिए जाते थे।[1] इन उपहारों में भोजन, अस्त्र-शस्त्र, वस्त्र, घरेलू पशु आदि होते थे। यदा-कदा दास और पत्नियाँ भी मृतक के साथ जला या गाड़ दी जाती थीं।[2] अथर्ववेद में इसे 'पुराणधर्म' या प्राचीन प्रथा कहा गया है।[3] किन्तु यह अमानवीय प्रथा ऋग्वेदकाल में प्रचलित नहीं रही थी। विधवा के चिता पर लेटने की औपचारिकता अभी भी शेष थी। गृह्यसूत्र भी विधवा के वास्तविक दाह के स्थान पर उक्त कर्मकाण्डीय स्थानापन्न प्रथा का ही विधान करते हैं। ऋग्वेद के ही काल से कर्मकाण्डीय साहित्य जीवित विधवा के दाह के पक्ष में नहीं है। पद्धतियों और प्रयोगों ने इस प्रथा का पूर्णतः अन्त ही कर दिया, यहाँ तक कि विधवा को श्मशान-भूमि में जाकर दाहक्रिया में सम्मिलित होने की भी आवश्यकता न रही। किन्तु सतीप्रथा का पूर्ण अन्त न हो सका और आगे चलकर कुछ विशिष्ट कुलों और जनों में यह पुनर्जीवित हो उठी।[4]

चिता पर विधवा के लेटने की क्रिया पूर्ण हो चुकने पर उसे निम्नलिखित मन्त्र के साथ मृतक के हाथ से उपर्युक्त स्वर्ण-पिण्ड ले आने के लिए कहा जाता था, 'ब्राह्मण स्त्री के समान अपने धन और गौरव, तथा शक्ति और सौंदर्य की अभिवृद्धि के लिए मृतक के हाथ से स्वर्ण-पिण्ड ले आ, इस लोक में जीवित रह; हम लोग यहाँ सुसेवित तथा समृद्ध होकर अपने आक्रामकों पर विजय प्राप्त करते हुए निवास करेंगे'।[5] आश्वलायन गृह्यसूत्र का टीकाकार कहता है कि विधवा नहीं, विधवा को चिता से दूर करनेवाले व्यक्ति को शव के हाथ से स्वर्ण-पिण्ड लेना चाहिए और यदि वह दास हो तो दाहक्रिया करनेवाले व्यक्ति को इस और पूर्वोक्त ऋचा को दुहराना चाहिए। विल्सन और मैक्समूलर इसे

(१) श्रेडर, आर्यन रिलीजन; इन्साइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एण्ड इथिक्स, भा. २, पृ० ११-५७; इन्डोजर्मन, १४६।

(२) वही। (३) धर्मं पुराणमनुपालयन्ती। १८.३.१।

(४) यह मुख्य रूप से राजपूतों में प्रचलित थी। १८३५ में लॉर्ड विलियम बेन्टाइन ने अन्तिम रूप से इस प्रथा का अन्त कर दिया।

(५) आ. गृ. सू. ४.१.२।

इसी अर्थ में लेते हैं।[1] यद्यपि यह सायण के भाष्य के विपरीत है। किन्तु व्याख्या में कोई भी भेद क्यों न हो, यह स्पष्ट है कि विधवा तथा उक्त स्वर्णपिण्ड को शव से पृथक् कर दिया जाता था। आरण्यकों तथा गृह्यसूत्रों में इसके किसी अन्य विकल्प का विचार नहीं किया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि आरण्यक की रचना के समय जीवित पत्नी का अपने मृत पति के साथ दाह करने की अमानवीय प्रथा देश में व्यापक नहीं हो सकती थी। सती प्रथा के अन्त के साथ ही, इस प्रथा का अस्तित्व स्वतः समाप्त हो गया।[2]

उस काल में जब कि यज्ञिय कर्मकाण्ड का विधिवत् पालन किया जाता था ये यज्ञिय पात्र, जिनका व्यवहार मृतक अपने धार्मिक कृत्यों में करता था, उसके शरीर के भिन्न-भिन्न भागों पर रखे जाते थे। यदि गाय की बलि दी जाती थी तो उसके विभिन्न अङ्ग भी इसी प्रकार रखे जाते थे। किन्तु यदि वह मुक्त कर दी जाती, तो आटे आदि के पिण्ड या चावल और जौ से बनी उसके शरीर के विभिन्न अवयवों की प्रतिकृतियाँ उसका स्थान ले लेती थीं। ये वस्तुएँ शव के साथ जला दी जाती थीं, जिससे मृतक परलोक में उन्हें प्राप्त कर सके।

१३. दाह एक यज्ञ

इस प्रकार आरम्भिक क्रियाओं के समाप्त होने पर दाह आरम्भ होता है,[3] जो उस आहवनीय अग्नि में दी हुई आहुति समझी जाती है और जो यज्ञिय आहुति के रूप में शव को स्वर्ग पहुँचाती है।[4] जब चिता प्रदीप्त होने के लिए प्रस्तुत हो जाती है, तो उसमें इस प्रार्थना के साथ अग्नि दी जाती है, 'हे अग्ने! इस देह को तू भस्म न कर, न इसे कष्ट दे और न इसकी त्वचा और अवयवों को इतस्ततः विकीर्ण ही कर। जातवेदः, जब यह शरीर पूर्णतः ध्वस्त हो चुके, तो इसकी आत्मा को पितृलोक में ले जा'।[5] इस प्रार्थना के तत्काल पश्चात्

---

(१) ज. रा. ए. सो. १६० (१८५४) पृ० २०१-१४; विपरीत विचारों के लिए देखिए, राजा राधाकांत देव, ज. रा. ए. सो. १७ (१८५६) पृ० २०६-२२०; रघुनन्दन कृत शुद्धितत्त्व।

(२) वही। (३) आ. गृ. सू. ४. १-२; मा गृ. सू. १. २।

(४) वही। (५) ऋ. वे. १०. १६. १।

मृतक के विभिन्न अङ्गों को सम्बोधित किया जाता है, जो इस प्रकार हैं, 'नेत्र सूर्य के निकट जाए; प्राणवायु वायु-मण्डल में विलीन हो; अपने पुण्य कर्मों के अनुरूप तू स्वर्ग, पृथ्वी या जलीय किसी भी लोक को, जो तेरे लिए कल्याण-प्रद हो, जा; तुझे वहाँ भोजन प्राप्त हो और तू वहाँ सशरीर निवास कर'।[1] यह एक नितान्त हृदयवेधक दृश्य है, जब मृतक को उसके जीवित सम्बन्धी भविष्य में उसके सुखार्थ पूर्ण व्यग्रतापूर्वक सदा के लिए परलोक विदा करते हैं।

सूत्रकाल में गृहस्थ द्वारा रखी हुई तीन या पाँच अग्नियों की ज्वालाओं से दाह होता था और यह भविष्यवाणी की जाती थी कि मृतक दाह के पश्चात् किस लोक में जाएगा। इसका ध्यान रखा जाता था कि सर्वप्रथम किस अग्नि ने मृतक के शरीर को स्पर्श किया और उसके आधार पर यह तर्क-वितर्क किया जाता था कि 'मृतक ने देवलोक, पितृलोक या अन्य किसी लोक को प्रस्थान किया'।[2] आजकल न तो विविध प्रकार की अग्नियाँ ही घर में रखी जातीं और न मृतक के सम्बन्धी ही उसके भावी लोक के विषय में तर्क-वितर्क करते हैं।

कतिपय वैदिक शाखा के अनुयायियों में एक प्रथा प्रचलित है, जिसके अनुसार घुटने तक[3] गहरा एक गड्ढा खोदा जाता है। ए० हिलेब्राण्ट के विचार में 'यह एक प्राचीन अन्धविश्वास है जिसका प्रयोजन अग्नि के ताप को शीतल करना था'।[4] परम्परा इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार करती है : 'मृत व्यक्ति गड्ढे से उठता है और वाष्प के साथ स्वर्ग-लोक को चला जाता है।'

अन्य वैदिक शाखाओं में प्रचलित प्रथाओं के अनुसार मृतक के शोकाकुल सम्बन्धी चिता को स्वतः जलने देने के लिए छोड़ देते हैं और दाह-क्रिया करनेवाला व्यक्ति चिता के उत्तर में तीन गड्ढे खनता, उन्हें कंकड़ों और बालू से चिह्नित करता और उन्हें विषम-संख्यक घड़ों में लाये हुए पानी से भरता है। शवयात्रा में सम्मिलित व्यक्तियों से शुद्धि के लिए उन गड्ढों में स्नान करने की प्रार्थना की जाती है। इसके पश्चात् पलाश की शाखाओं से अलंकृत कर एक जुआ, जिसका

---

(१) अ. वे. १८. २. ७।

(२) आ. गृ. सू. ४. २–४। (३) हा. गृ. सू. १०. १।

(४) इन्साइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन ऐण्ड इथिक्स, २. ४७५ और आगे।

उपरी भाग एक कमजोर सुतली से बँधा रहता है, भूमि पर रख दिया जाता है। शोकार्त व्यक्तियों को उस पर से होकर निकलना पड़ता है। अन्त में दाह-क्रिया करनेवाला उस पर से होकर निकलता है और जुए को हटाकर सूर्य का स्तवन करता है।[1]

१४. लौटना

इसके पश्चात् शव के साथ श्मशान-भूमि जानेवाले लोग बिना आसपास कुछ देरे लौट पड़ते हैं। उनसे शोक की अभिव्यक्ति न होने देने, सिर झुकाए हुए चलने, परस्पर एक दूसरे को सान्त्वना देते हुए तथा उत्तम कथाएँ कहते हुए चलने के लिए कहा जाता है।[2] कहा गया है कि बहुत अश्रु-पात मृतक को दग्ध कर देते हैं।[3] महाभारत से हमें ज्ञात होता है कि व्यास ने अपने भतीजे की मृत्यु के लिए विलाप करने पर युधिष्ठिर की भर्त्सना की थी। मृतक के जीवित सम्बन्धियों के शोक को दूर करने के लिए कथा-वाचक नियुक्त किये जाते हैं।[4]

१५. उदक-कर्म

इसके पश्चात् उदक-कर्म या मृतक को जल देने की क्रिया आती है।[5] यह अनेक प्रकार से की जाती है। एक आचार्य के अनुसार मृतक की सातवीं या दसवीं पीढ़ी पर्यन्त सभी सम्बन्धी निकटतम नदी या तालाब में स्नान कर अपने को शुद्ध और प्रजापति की स्तुति करते थे। स्नान करते समय वे केवल एक ही वस्त्र पहने रहते थे और यज्ञोपवीत दाहिने कन्धे पर लटकता रहता था। अनेक आचार्य विधान करते हैं कि केश बिखरे या अस्तव्यस्त

(१) आ. गृ. सू. ४. ३-४.

(२) पा. गृ. स. ३. १० पर जयराम कृत अन्त्येष्टि पद्धति।

(३) ऋ. वे. ८. ८६।

शोचमानास्तु सस्नेहा बान्धवा सुहृदस्तथा।
पातयन्ति जनं स्वर्गादश्रुपातेन राघव ॥

रामायण, पा. गृ. सू. ३. १० पर जयराम द्वारा उद्धृत।

(४) तु. Tiders, ZOMG. १. ८. ७०६ और आगे।

(५) पा. गृ. सू. ३. १०, १६-२३।

और देह को धूलि-धूसरित कर लेना चाहिए। शोकार्त व्यक्ति अपना मुख दक्षिण की ओर कर पानी में डुबकी लगाते हैं और मृत व्यक्ति का नाम लेते हुए उसे जल की अञ्जलि देते हैं। तब वे पानी से बाहर आकर सूखे हुए वस्त्र धारण करते और पहले पहने हुए वस्त्रों को उत्तर की ओर फैलाते हैं। एक आधुनिक प्रथा के अनुसार उदक-कर्म के पश्चात् एक अत्यन्त मनोरञ्जक क्रिया की जाती है। स्नान के तुरन्त पश्चात् कौवों के लिए उबाले हुए चावल और कलाय (मटर) के कुछ दाने भूमि पर बिखेर दिये जाते हैं। यह उस आदिम विश्वास की स्मृति दिला देता है जिसके अनुसार मृतक व्यक्ति पक्षियों के रूप में प्रकट होता है। पक्षियों के साथ मरुतों (पितरों की एक शाखा) की तुलना से इस धारणा की पुष्टि होती है।[1]

१६. शोकार्तों को सान्त्वना

स्नान के पश्चात् मृतक के सम्बन्धी एक स्वच्छ और पवित्र घास से युक्त स्थान की ओर चले जाते हैं। इतिहास और पुराणों से अभिज्ञ व्यक्ति मृत व्यक्ति की प्रशंसा और प्राचीन साहित्य की सान्त्वना देनेवाली कथाओं से शोकार्तों को ढाढ़स बंधाते हैं।[2] वे सूर्यास्त अथवा प्रथम नक्षत्र प्रकट होने के पूर्व गांव को नहीं लौटते।[3] कतिपय लेखकों के अनुसार वे सूर्योदय के पूर्व घर नहीं जाते।[4] तब युवक पहले चलते हैं और वृद्ध पीछे। यह प्रथा शवयात्रा के श्मशान-भूमि की ओर प्रस्थान करने के क्रम के ठीक विपरीत है। अपने घर पहुँचने पर भीतर प्रवेश करने के पूर्व वे स्वयं को शुद्ध करने के लिए पत्थर, अग्नि, गोबर, अन्न, तिल के बीज, जल और तेल का स्पर्श करते हैं।[5] अन्य आचार्यों के अनुसार घर के द्वार पर वे पिचुमण्ड अथवा नीम की पत्तियां चबाते, अपना मुख स्वच्छ करते, जल, अग्नि, गोबर आदि का स्पर्श करते, विशेष लकड़ियों का धुआँ लेते, पत्थर पर चलते और तब घर में प्रविष्ट होते हैं।[6] ये विलक्षण

(१) वयो न सदिन्नधि बर्हिषि प्रिये। ऋ. वे. १. ८५. ७।

(२) पा. गृ. सू. ३. १०. २२।

(३) वही. ३. १६. ३५।   (४) वही. ३. १०. ३६।

(५) अथ गृहानायान्ति अश्मानं त्रिय आहुरतत् कुर्वन्ति।

बौ. प. सू. १. १२. ६।

(६) पा. गृ. सू. ३. १०. २४।

क्रियाएँ मृतक के साथ सम्बन्ध के अन्त के प्रतीक हैं, तथा इनमें व्यवहृत वस्तुएँ मृत व्यक्ति के अशुभ व अमङ्गलकर प्रेत के विरुद्ध बाधा समझी जाती हैं।

१७. अशौच

अब अशौच की अवधि का प्रश्न आता है।[1] व्यक्ति की मृत्यु के फलस्वरूप एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसे पॉलिनेशियन शब्द 'टैबू' (निषेध) द्वारा, जिसका भाव किसी व्यक्ति या वस्तु का धार्मिक अथवा अर्द्ध-धार्मिक प्रयोजनों के लिये निषिद्ध ठहरा देना है, भली भाँति व्यक्त किया जा सकता है। शव प्रत्येक स्थान पर स्पर्श के लिये वर्जित माना जाता है और उसके निकट जाने या उसे स्पर्श आदि करने में अत्यधिक सावधानी बरती जाती है। इस निषेध का क्या कारण है, यह स्पष्ट नहीं है। क्या शव स्वयम् अपने आप में भय का कारण है, या वह मृत्यु का वाहन है अथवा अशरीरी आत्मा से सम्बद्ध होने के कारण वह आतङ्क का विषय समझा जाता है? इस निषेध के मूल में चाहे कोई भी धार्मिक अथवा भावुकतापूर्ण धारणा निहित हो, यह स्पष्ट है कि यह बहुत अंश तक शव की सङ्क्रामक प्रकृति पर आधारित था। अत: मृतक के जीवित सम्बन्धी, मृत व्यक्ति के साथ उसकी रुग्णावस्था में और मृत्यु के पश्चात् उसके शव के साथ सम्पर्क के कारण स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों के आधार पर एक निश्चित अवधि के लिए समाज से पृथक् हो जाते हैं। किन्तु मृत्यु के पश्चाद्वर्ती निषेध उन व्यक्तियों से बहुत आगे पहुँच जाते हैं जिन्हें शव का अन्तिम संस्कार करने के लिए बाध्य होना पड़ा था। ये सम्पूर्ण परिवार, सम्पूर्ण कुल, सम्पूर्ण जन, सम्पूर्ण ग्राम ही नहीं, उनके खेतों और यदा-कदा आकाश और स्वर्ग तक विस्तृत हो जाते हैं।[2] यद्यपि साधारणतः सम्पूर्ण ग्राम दाह-क्रिया में सम्मिलित होता है, किन्तु सुदूर सम्बन्धियों की अपेक्षा निकट सम्बन्धियों को ही अशौच अधिक लगता है। इसके अतिरिक्त, शोक-विलाप और फलस्वरूप अशौच की अवधि विभिन्न जनों में शोकार्त्तों के मृतक के साथ सम्बन्ध अथवा उनकी

---

(१) वही ३. १०. २७ तथा आगे; म. स्मृ. ५ ५८-१०५; या. स्मृ. ३.१, पा स्मृ. ३।

(२) तुलनीय ई. ऐस. हार्टलैण्ड, इन्साइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन ऐण्ड ईथिक्स, भा ४. पृ. ४१८।

विविध परिस्थितियों के अनुसार, कुछ दिनों से अनेक मास पर्यन्त भिन्न-भिन्न होती है।[1]

अशौच का काल और क्षेत्र मृतक की जाति, आयु और लिङ्गभेद से भिन्न-भिन्न होता है। गृह्यसूत्रों के अनुसार अशौच की साधारण अवधि दस दिन की है[2] और वे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के लिए अशौच की अवधि में कोई भेद नहीं करते। किन्तु वे वैश्यों और शूद्रों के अशौच की अवधि क्रमशः पन्द्रह दिन और एक मास निर्धारित करते हैं।[3] यह भेद प्रधानतः विभिन्न जातियों में स्वच्छता तथा शौच-सम्बन्धी नियमों के पालन पर आधारित था। किन्तु स्थिति के भेद से व्यक्तियों को विकल्प की अनुमति प्राप्त थी। 'मृत्यु से होनेवाला अशौच तीन या दस दिनों तक रहता है'।[4] जयराम ने इस सूत्रवचन की व्याख्या पर पाराशर-स्मृति से एक श्लोक उद्धृत किया है : 'विधिवत् अग्निहोत्र और वेद का स्वाध्याय करने वाला ब्राह्मण एक दिन में शुद्ध हो जाता है, केवल वेद का स्वाध्याय करनेवाला तीन दिन में और दोनों की उपेक्षा करनेवाला दस दिनों में'।[5] परवर्ती स्मृतियाँ विशिष्ट परिस्थितियों में अशौच से पूर्णतः मुक्ति की भी अनुमति देती हैं। ऋत्विज, यज्ञ में दीक्षित तथा इसी प्रकार अन्य यज्ञिय कर्म करनेवाले, दीर्घसत्र का अनुष्ठान करनेवाले, ब्रह्मचारी, ब्रह्मवेत्ता, कारीगर, शिल्पी, वैद्य, दासी, दास, नापित, राजा और श्रोत्रिय, ये तत्काल शुद्ध (सद्यःशौच) हो जाते हैं'।[6] उक्त अपवाद पूर्णतः समाज की सुविधा पर

(१) अशौच की अवधि शुद्धता के स्तर तथा सम्बन्ध की निकटता के आधार पर नियत थी।

(२) पा. गृ. सू. ३. १०. ३०।

(३) वही, ३. १०, ३८।

(४) वही ३. १०. २९-३०।

(५) एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः।
त्र्यहात् केवलवेदस्तु निर्गुणो दशभिर्दिनैः॥ ३. ५।

(६) ऋत्विजां दीक्षितानाञ्च यज्ञियं कर्म कुर्वताम्।
सत्रव्रतिब्रह्मचारिदातृब्रह्मविदां तथा॥ या. स्मृ. ३. २८।
कारवः शिल्पिनो वैद्याः दासीदासाश्च नापिताः।
राजानः श्रोत्रियाश्चैव सद्यश्शौचाः प्रकीर्तिताः॥ पा. स्मृ. ३. २१-२२।

आधारित हैं। सम्प्रति अशौच की अवधि ब्राह्मण के लिए दस दिन, क्षत्रिय के लिए बारह दिन, वैश्य के लिए पन्द्रह दिन और शूद्र के लिए एक मास है।[1]

अशौच की उपर्युक्त अवधि प्रौढ़ व्यक्तियों की मृत्यु के सम्बन्ध में है। बालक की मृत्यु से स्वल्प अशौच होता है। गृह्यसूत्रों के अनुसार दो वर्ष से कम आयु के शिशु की मृत्यु से, केवल उसके माता पिता को ही एक या तीन रात्रि के लिए अशौच लगता है, कुल या जन के अन्य सदस्यों को नहीं।[2] किन्तु स्मृतियाँ सभी सपिण्डों के लिए तीन दिन का अशौच नियत करती हैं। जिसके दांत निकल आए हों और चूडाकरण संस्कार हो गया हो, ऐसे बालक की मृत्यु होने पर उसके समस्त बान्धव अशुद्ध हो जाते हैं'।[3] नामकरण के पूर्व शिशु की मृत्यु होने से किसी भी प्रकार का अशौच नहीं होता।[4]

मृत व्यक्ति का लिङ्ग भी अशौच की अवधि के नियामक तत्त्वों में से एक है। गृह्यसूत्र इस भेद से परिचित नहीं है, और अधिक सम्भव यह है कि इस भेद का उदय स्मृति-काल में हुआ। उपनयन के पश्चात् बालक की मृत्यु होने पर पूर्ण अशौच होता है,[5] किन्तु कन्या विवाह से पूर्व शिशुवत् मानी जाती है, और उसकी मृत्यु से केवल तीन ही दिनों का अशौच होता है,[6] यदि चूडाकरण संस्कार के पूर्व उसकी मृत्यु हो जाती है, तो अशौच केवल एक दिन के लिए होता है। यदि पिता की मृत्यु माता के पूर्व हो जाती है, तो पिता की मृत्यु से होनेवाले अशौच के साथ ही माता की मृत्यु का अशौच समाप्त हो जाता है। किन्तु माता की मृत्यु पिता के पूर्व होने पर ऐसा नहीं होता, क्योंकि इस विषय में अशौच पिता की मृत्यु के समय से आरम्भ होता है।[7]

---

(१) वही. ३. १-२।

(२) पा. गृ. सू. ३. १०. २-५।

(३) दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते।
अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते॥
जयराम द्वारा पा. गृ. सू. ३. १०. २-५ पर उद्धृत।

(४) म. स्मृ. ५. ७०। (५) या. स्मृ. ३. २३

(६) म. स्मृ. ५. ७२।

(७) विज्ञानेश्वर द्वारा या. स्मृ. ३. २० पर उद्धृत एक स्मृति।

सम्बन्धियों और मित्रों के लिए अशौच के नियमों का पालन गृह्यसूत्रों में ऐच्छिक है। 'कुल के पुरोहित, श्वसुर, मित्र, अन्य (वैवाहिक) सम्बन्धियों तथा भानजों की मृत्यु होने पर अशौच के नियमों का पालन व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है'।[1] किन्तु धर्मसूत्र और स्मृतियाँ इसे अनिवार्य कर देती हैं, यद्यपि इसकी अवधि मृतक के साथ सम्बन्ध की निकटता के अनुसार भिन्न-भिन्न है।[2]

अशौच की अवधि में पालनीय नियम दो प्रकार के हैं—निषेधात्मक और विध्यात्मक। निषेधात्मक नियमों के रूप में[3] शोकार्तों से अनेक भोग-विलासों और जीवन के साधारण कार्य और व्यवसाय को भी त्यागने और इस प्रकार अपनी शोक की भावनाओं को व्यक्त करने की अपेक्षा की जाती है। वे क्षौर-कर्म, वेदों का स्वाध्याय और गृह्य होम आदि भी निषिद्ध कर देते हैं। विध्यात्मक नियमों[4] का उद्भव भी जीवित सम्बन्धियों के शोक के भावों में निहित है। वे तीन दिनों की अवधि के लिए संयम, भूमि पर शयन, भिक्षा में प्राप्त किया हुआ भोजन करने तथा केवल मध्याह्न में भोजन करने आदि का विधान करते हैं।

१८. अस्थि-सञ्चयन

दाह-क्रिया के पश्चात् अस्थिसञ्चयन का क्रम आता है।[5] यह शव-निखात की प्राचीन प्रथा का अवशेष है। सूत्रकाल में दाह तथा निखात की प्रथा के मध्य समन्वय स्थापित किया गया। उस युग में प्रचलित प्रथा के अनुसार शव का दाह कर दिया जाता था, किन्तु प्राचीन परम्परा की रक्षा के लिए दाह के कुछ दिनों पश्चात् अस्थि-अवशेषों का सङ्कलन और निखात किया जाना आरम्भ हो गया था। गृह्यसूत्रों में इस क्रिया का अत्यन्त विस्तृत विवरण दिया गया है। आश्वलायन के अनुसार अस्थि-सञ्चयन मृत्यु के तेरहवें या पन्द्रहवें दिन करना चाहिए,[6] जब कि बौधायन इसका विधान दाह से तीसरे,

---

(१) पा. गृ. सू. ३. १०. ४६–४७। (२) आप. ध. सू. १. ६।

(३) पा. गृ. सू. ३. १०. ३१–३२; या स्मृ. ३. १५, म. स्मृ. ५. ७३।

(४) या. स्मृ. ३. १६।

(५) आ. गृ. सू. ४. ५; बौ. पि. सू. १. १४।

(६) आ. गृ. सू. ४. ५।

पाँचवें अथवा सातवें दिन करता है।[1] सर्वप्रथम, भस्म पर दूध और जल का सेचन करना चाहिए और अस्थियों को पृथक् करने के लिए उदुम्बर या गूलर के डण्डे से उन्हें हटाना चाहिए। यह मन्त्रों के उच्चारण के साथ करना चाहिए। तब अस्थियों को वहीं छोड़कर राख को एकत्रित कर दक्षिण दिशा में फेंक देना चाहिए। इसके पश्चात् अग्नि में तीन आहुतियाँ देनी चाहिएँ। तैत्तिरीयों की प्रथा के अनुसार, अस्थि-सञ्चयन स्त्रियाँ, विशेषतः मृतक की प्रधान महिषी करती थीं। बौधायन के अनुसार स्त्रियों को अपने बायें हाथ में बृहती पौधे का फल एक काले, नीले और लाल रङ्ग के धागे से बाँधकर, पत्थर पर आरूढ़ होकर, अपने हाथों को एक बार अपामार्गोदक से धोकर तथा आँखों को मूँद कर, बायें हाथ से अस्थियाँ एकत्र करनी चाहिएँ।[2] अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाता था : 'यहाँ से उठो, और नवीन स्वरूप धारण करो। अपनी देह के किसी भी अवयव को न छोड़ो। तुम जिस किसी भी लोक को जाना चाहो, जाओ; सविता तुम्हें वहाँ स्थापित करे। यह तुम्हारी एक अस्थि है, तुम ऐश्वर्य में तृतीय से युक्त होओ, सम्पूर्ण अस्थियों से युक्त होकर सुन्दर बनो; तुम दिव्य लोक में देवों के प्रिय बनो'।[3] उपर्युक्त वचन इस क्रिया के प्रयोजन को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय यह विश्वास प्रचलित था कि मृतक परलोक में नवीन स्वरूप ग्रहण करता है, जिसके लिए दाह या निखात द्वारा भौतिक शरीर के प्रत्येक अवयव को परलोक भेजना आवश्यक समझा जाता था।

तब अस्थियों का प्रक्षालन कर उन्हें एक पात्र में रख अथवा कृष्ण-मृगचर्म के एक टुकड़े में बाँध देते थे। अस्थियों से युक्त पात्र या गट्ठर शमी वृक्ष की शाखा से लटका दिया जाता था। उस व्यक्ति की अस्थियों का दाह पुनः किया जाता था, जो यज्ञ आदि का अनुष्ठान करता रहा हो। अन्य व्यक्तियों की अस्थियाँ गाड़ दी जाती थीं। इसके लिए एक पात्र नितान्त आवश्यक था। आश्वलायन स्त्री की अस्थियों के लिए सच्छिद्र पात्र और पुरुषों के लिए बिना छेद के पात्र का विधान करते हैं।[4] ढक्कन से ढका हुआ पात्र श्मशान-

---

(१) बौ. पि. सू. १. १४. १।

(२) वही. १. १४. ६। (३) वही।

(४) आ. गृ. सू. ८. ५।

भूमि के समान ही विशेष विधि से तय्यार किये हुए गड्ढे में रख दिया जाता जाता था। वह किसी वृक्ष की शाखा के नीचे भी रखा जा सकता था। अन्य आचार्यों के अनुसार गड्ढे में घास और एक पीला कपड़ा रखा जाता था तथा उस पर अस्थियाँ डाल दी जाती थीं।

सूत्र-युग के पश्चात् अस्थि-चयन की पद्धति में महान् परिवर्तन हुआ। पौराणिक काल में लोग प्रत्येक व्यक्ति की अस्थियों के निखात को कोई विशेष महत्त्व नहीं देते थे। नदियाँ अधिकाधिक पवित्र समझी जाने लगीं। दाह साधारणतः किसी नदी के तट पर होने लगा। अवशेषों के निखात की प्रथा भी अत्यन्त सादी हो गयी। परवर्ती काल से हमें यह विवरण मिलना आरम्भ हो जाता है कि किस प्रकार दाहक्रिया करनेवाला व्यक्ति दाह के तत्काल पश्चात् अवशेषों को एक मिट्टी के बरतन में रखकर जल में प्रवाहित कर देता है, अथवा यदि नदी, तालाब आदि निकट न हो तो किसी एकान्त या ऊसर स्थान में डाल देता है।[1] आजकल दाह के ही दिन अस्थियों का चयन कर बाद में गङ्गा अथवा किसी अन्य पवित्र नदी में प्रवाहित कर देना मृतक के लिए नितान्त पुण्यदायक माना जाता है। 'जिस पुण्यवान् व्यक्ति की अस्थियाँ गङ्गा-जल में प्रवाहित की जाती हैं, उसकी ब्रह्मलोक से पुनरावृत्ति (मृत्युलोक में) कदापि नहीं होती। लोग जिसकी अस्थियों को लाकर गङ्गाजल में डाल देते हैं, वह सहस्रों वर्षों तक स्वर्ग में निवास करता है'।[2]

१९ शान्ति-कर्म

अगली उल्लेखनीय क्रिया शान्ति-कर्म है।[3] इस समय उच्चारण किये जानेवाले वचन जीवन के प्रति सम्मान और मृत्यु के प्रति विरोध या अनिच्छा

---

(१) हरिहर कृत, अन्त्येष्टि-पद्धति।

(२) गङ्गातोये च यस्यास्थि प्लवते शुभकर्मणः।
न तस्य पुनरावृत्तिर्ब्रह्मलोकात् कदाचन॥
गङ्गातोये च यस्यास्थि नीत्वा संक्षिप्यते नरैः।
युगानान्तु सहस्राणि तस्य स्वर्गे भवेद् गतिः॥
यम, जयराम द्वारा पा. गृ. सू. ३.१०. पर उद्धृत।

(३) आ. गृ. सू. ४.५।

प्रकट करते हैं। दुष्ट प्रभावों के निवारण और साधारण जीवन में लौटने के लिए प्रभावशाली उपाय अपनाये जाते हैं। मध्यकालीन तथा आधुनिक स्मृतिकार क्षौर-कर्म, नख काटने तथा स्नान का विधान करते हैं।[1] किन्तु गृह्य सूत्रों में एक बहुत लम्बी विधि विहित है। यह क्रिया मृत्यु की नवम रात्रि के पश्चात् आनेवाले प्रातःकाल अर्थात् दसवें दिन करनी चाहिए। किन्तु आश्वलायन के अनुसार इस क्रिया के लिए मृत्यु के पश्चात् पन्द्रहवाँ दिन उपयुक्त है।[2] कतिपय आचार्यों के विचार में यह क्रिया श्मशान-भूमि में सम्पन्न होनी चाहिए, जब कि अन्य लेखक नगर या ग्राम के बाहर श्मशान-भूमि या उससे भिन्न किसी स्थान को चुनने का भार शोकार्त्तों की सुविधा पर छोड़ देते हैं। मृतक के पुरुष और स्त्री रक्त सम्बन्धियों के निश्चित स्थान पर एकत्र हो जाने पर अग्नि प्रदीप्त करना चाहिए और उन लोगों से लाल रंग के (रक्तमय) बैल के भूमि पर रखे हुए चर्म पर, जिसका गले का भाग पूर्व की ओर और केश उत्तर की ओर हो, बैठने का अनुरोध करना चाहिए। सम्बन्धियों से इन शब्दों में अनुरोध करना चाहिए :

'इस जीवन-दायिनी त्वचा पर आरूढ़ हों, क्योंकि आप लोग वृद्धावस्था-पर्यन्त जीवित रहना चाहते हैं। अपने वय के अनुसार इस पर सावधानी-पूर्वक आसीन होने का प्रयत्न करें। इस क्रिया का सुजात और सु भूषित अग्नि इन्हें दीर्घ-जीवन प्रदान करे। जिस प्रकार दिनों के पश्चात् दिन और ऋतुओं के पश्चात् ऋतुएँ आती रहती हैं, और जिस प्रकार युवक वयोवृद्धों का त्याग नहीं करते, इसी प्रकार धाता इनकी आयु के अनुसार इन्हें दीर्घ जीवन प्रदान करे'।[3]

आधुनिक विधि के अनुसार स्त्रियाँ इस क्रिया में सम्मिलित नहीं होतीं क्योंकि वे इस कर्म को पुरुषों से पृथक् करती हैं, और जीवन के प्रतीक के रूप में वृष-चर्म का प्रयोग नहीं होता, क्योंकि वर्तमान हिन्दू धर्म में वह अपवित्र माना जाता है। सब लोगों के यथास्थान आसीन हो जाने पर दाहक्रिया करनेवाले व्यक्ति को अग्नि में चार आहुतियाँ देनी चाहिएँ। सम्बन्धियों को खड़े होकर एक लाल बैल को स्पर्श करते समय मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए।

---

(१) हरिहरकृत अन्त्येष्टि-पद्धति।

(२) आ. गृ. सू. ४. ५।   (३) वही।

प्राचीन काल में निम्नलिखित शब्दों के साथ स्त्रियों से नेत्रों में अञ्जन लगाने के लिए कहा जाता था :

'ये अ-विधवा तथा सुन्दर पतियोंवाली स्त्रियां अञ्जन-घृत से (आञ्जनेन सर्पिषा) अपने नेत्रों को रञ्जित करें, आँसुओं से रहित, नीरोग तथा सुरत्न ये स्त्रियां गृह में प्रविष्ट हों'।[1]

सम्प्रति यह प्रथा लुप्त हो चुकी है। पर्दाप्रथा अथवा द्विजातियों में स्त्रियों के वैधव्य के प्रचलन से, जिसमें विधवा के लिए किसी भी प्रकार का विनोद आदि वर्जित है, स्त्रियां इसमें भाग नहीं लेतीं। तब एकत्रित लोगों को बैल के आगे-आगे पूर्व दिशा में इन शब्दों के साथ चलना चाहिए :

'ये मनुष्य मृतक को छोड़कर लौट रहे हैं। आज हम अपने मङ्गल के लिए, शत्रुओं पर सफलता प्राप्त करने के लिए और अपने आनन्द के लिए देवों का आराधन करते हैं। हम लोग दीर्घ जीवन प्राप्त कर पूर्व की ओर चलते हैं'।[2]

अब प्रमुख शोकार्त एक अन्य मन्त्र का उच्चारण करता है, और एक शमी-वृक्ष की शाखा से बैल के पदचिह्नों को मिटा देता है, जो लोगों के आगे चलता है। अन्तिम व्यक्ति के प्रस्थान करने पर उसके पीछे अध्वर्यु को आगे जानेवाले लोगों पर मृत्यु के आक्रमण को रोकने के लिए दीवाल जैसा पत्थरों का एक घेरा इन शब्दों के साथ बनाना चाहिए, 'मैं पत्थरों का यह घेरा जीवन के लिए बनाता हूँ, हम और अन्य व्यक्ति जीवन के मध्य में इसके परे न जाएँ, मृत्यु को यहाँ से दूर भगाते हुए हम सौ शरद् ऋतु पर्यन्त जीवित रहें'।[3] इसके

(१) इमा नारीरविधवा सपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवा सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥

ऋ. वे. १०. १८. ७।

(२) आ. गृ. सू. ४. ५।

इस ऋचा की व्याख्या अत्यधिक विवादग्रस्त है। कुछ लोगों के अनुसार, स्त्री के गृह में प्रवेश के समय इस ऋचा का उच्चारण किया जाता था, जब कि अन्य विद्वानों की धारणा है कि विधवा के अपने मृतपति की अन्त्येष्टि-चिता पर आरूढ होते समय इस ऋचा का उच्चारण किया जाता था।

ज. रा. ए. सो. १६. पृ. २०१-१४; १७. २०९, ० २१

(३) वही।

पश्चात् लोगों को प्रमुख शोकार्त के घर जाना चाहिए। मृत व्यक्ति के द्वारा व्यवहृत अग्नि घर से बाहर कर बुझा दी जाती है। पुरानी अग्नि को दूर कर नवीन अग्नि प्रदीप्त की जाती है। अब एक भोज होता है और शोकार्त अपना जीवन पूर्ववत् साधारण रूप में व्यतीत करने लगते हैं।

२०. श्मशान

हिन्दुओं का अन्त्येष्टि से सम्बद्ध एक अन्य कृत्य है पितृमेध या श्मशान[1] अर्थात् मृतक के अवशेषों पर समाधि का निर्माण। शव-निखात की प्रथा इतनी प्राचीन है कि उसका जन्म आर्य इतिहास के अति प्राचीन काल में ही हो चुका था।[2] इससे निखात के ऊपर समाधि खड़ी करने की उत्साहपूर्ण प्रेरणा मिली होगी। आज-कल भी ईसाइयों और मुसलमानों में, जहां शव-निखात की प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित है, मृतक के शरीर पर किसी न किसी प्रकार की समाधि खड़ी की जाती है, और धनी-मानी तथा महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के शव पर मकबरे का निर्माण किया जाता है। यद्यपि भारतीय आर्यों ने धीरे-धीरे निखात की प्रथा को त्याग दिया, तथापि वे अस्थि-अवशेषों पर समाधि का निर्माण कर अपने दिवंगत सम्बन्धियों की स्मृति को सुरक्षित रखना चाहते थे। वेदों में हम इस प्रथा का उल्लेख नहीं पाते। किन्तु उल्लेख का अभाव इस प्रथा के प्रचलित न होने का प्रमाण नहीं है। ब्राह्मण, जो विशेषतः कर्मकाण्ड से सम्बद्ध हैं, इसका उल्लेख करते हैं। शतपथ-ब्राह्मण में श्मशान-विधि का विस्तृत वर्णन किया गया है।[3] सभी गृह्यसूत्रों में इसका विवरण नहीं मिलता, जिससे प्रतीत होता है कि यह प्रथा सार्वजनीन नहीं थी। किन्तु उन गृह्यसूत्रों में जिनमें इसका वर्णन प्राप्त होता है,[4] कुछ परिवर्तनों के साथ शतपथब्राह्मण की पद्धति अपना ली गई है। बौद्ध श्रमणों में समाधि खड़ी करने की प्रथा अत्यधिक लोकप्रिय थी और हिन्दू शास्त्रकारों ने यह सम्मान महान् सिद्ध-महात्माओं तथा संन्यासियों के लिए सुरक्षित कर दिया। पद्धतियों में आकर यह प्रथा

(१) बौ. पि. सू. १. १८।

(२) श्रेडर, आर्यन रिलीजन, इन्साइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एण्ड ईथिक्स भा. २. पृ. ११-५७।

(३) १३. ८।

(४) आ. गृ. सू. ४. ५।

ऐच्छिक हो गयी है और उनमें इसे अन्त्येष्टि कृत्यों में बिलकुल सामान्य स्थान दिया गया है। आधुनिक हिन्दूधर्म में साधारणतः समाधि का निर्माण प्रायः बन्द है, और समाधि या स्तूप बहुत थोड़े धार्मिक महात्माओं तक सीमित हो चुके हैं।

किस व्यक्ति के लिए और किस समय श्मशान-क्रिया करनी चाहिए, इन प्रश्नों ने कर्मकाण्डीय मतभेदों को जन्म दिया है, जिनका उत्तर कर्मकाण्ड के विभिन्न सम्प्रदायों ने विविध प्रकार से दिया है। मृत्यु के पश्चात् समय के अन्दर, वर्ष की ऋतु तथा अधिष्ठाता नक्षत्र इन सभी विषयों का विचार किया गया है, तथा शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को प्राथमिकता दी गयी है।

स्थान के विधिवत् चुनाव के पश्चात् कृत्य के एक दिन पूर्व उस स्थान पर कुछ पौधे रोप दिये जाते हैं। इन पौधों के उत्तर में भूमि खोदी जाती है और उससे निकली हुई मिट्टी से अवशेषों को ढकने के अतिरिक्त समाधि के निर्माण के लिए ६००–२४०० ईंटें बनायी जाती हैं। अब मृतक के भस्मावशेष का पात्र लाया जाता है और भूमि पर पलाश वृक्ष की तीन डालियों के बीच रख कर उस पर एक झोंपड़ी खड़ी कर दी जाती है। यदि अस्थियाँ उस गड्ढे में नहीं मिलतीं जिसमें वे रक्खी हुई थीं, तो एक बड़ी ही विलक्षण पद्धति अपनायी जाती है। उस स्थान से थोड़ी-सी धूल ले ली जाती है या नदी के तट से मृतक व्यक्ति को पुकारा जाता है और बाहर फैलाए हुए वस्त्र पर दैववश गिरा हुआ प्राणी उसकी अस्थियों का प्रतिनिधि मान लिया जाता है। पलाश की शाखाओं पर एक बर्तन रख दिया जाता है, जिसमें अनेक छेद होते हैं और जिनसे अम्ल, दूध और उसका पानी बूँद-बूँद कर अस्थि-अवशेषों के पात्र पर गिरता रहता है।

नगाड़े तथा मुरली की ध्वनि के साथ कृत्य आरम्भ होता है। उपस्थित व्यक्ति बायीं जांघ को हाथों से पीटते हुए उस स्थान की प्रदक्षिणा करते हैं। वहाँ उपस्थित सम्बन्धी अपने वस्त्रों के अंचल से उक्त पात्र पर हवा झलते हैं। कतिपय आचार्य स्त्रियों के नृत्य और गान का भी विधान करते हैं। विभिन्न सम्प्रदायों में उक्त वर्णन में भेद और परिवर्तन पाये जाते हैं।

वास्तविक श्मशान-कृत्य रात्रि के प्रथम, मध्य या अन्तिम भाग में होना चाहिए। बहुत सबेरे ही लोग इस प्रयोजन के लिए चुने हुए स्थान को जाते

हैं। स्थान को स्वच्छ कर लकड़ियों के सहारे बँधी हुई रस्सी से घेर देना चाहिए। उसका ऊपरी भाग छोटे-छोटे पत्थरों से ढँक देना चाहिए। छः अथवा अधिक बैलों के द्वारा ढोये हुए हल से भूमि में गड्ढे बनाकर उनमें विविध बीज छोड़े जाते हैं। भूमि के मध्य में एक छेद बनाया जाता है, जिसमें चार मिट्टी डाल दी जाती है। ऐसी गाय के दूध की कुछ मात्रा मृतव्यक्ति के भोजन के लिए उस छेद में रखनी चाहिए, जिसके बछड़े की मृत्यु हो चुकी हो। उक्त छिद्र के दक्षिण में खोदे हुए एक गड्ढे में मृतक के लिए नौका के प्रयोजन के लिए बाँस का एक टुकड़ा डुबा दिया जाता है। इसके पश्चात् दर्भ को इस प्रकार व्यवस्थित कर दिया जाता है, जिससे मनुष्य जैसा प्रतीत हो, और अवशेष उस पर रखकर एक पुराने वस्त्र से ढंक दिये जाते हैं। तब अस्थि अवशेष का पात्र फोड़ दिया जाता है और निश्चित योजना के अनुसार अस्थियों पर एक स्मारक का निर्माण किया जाता है। वहाँ एक निश्चित ऊँचाई का स्मारक खड़ा किया जाता और मृतक के लिए भोजन दीवार में बन्द कर दिया जाता है। निर्माण का कार्य पूर्ण हो जाने पर श्मशान पर मिट्टी का ढेर लगा दिया जाता है और उसके ऊपर घड़ों से पानी डाला जाता है, जो इसके पश्चात् नष्ट कर दिये जाते हैं। इस प्रकार निर्मित स्तूप मृत्यु का प्रतीक माना जाता है, और जीवलोक को मृत्यु-लोक से पृथक् करने के लिए अनेक विधियाँ व्यवहार में लायी जाती हैं। उनके मध्य मिट्टी के ढेरों, पत्थरों और वृक्षों की शाखाओं से सीमा-रेखा खींची जाती है। इस प्रयोजन के लिए कुछ मन्त्रों का उच्चारण भी किया जाता है।

२१. पिण्डदान

हिन्दुओं की अन्त्येष्टि क्रिया का अन्तिम भाग पिण्डदान की क्रिया है, जो अशौच की अवधि में की जाती है।[1] मृतक अभी भी एक प्रकार से जीवित समझा जाता है। जीवित सम्बन्धियों के प्रयत्न मृतक के लिए भोजन प्रस्तुत करने तथा पितरों के स्थायी आवास की ओर उसका मार्गदर्शन करने के उद्देश्य से प्रेरित होते हैं।

वैदिक युग में पिण्डदान में भाग लेने के लिए साधारणतः पितरों को

(१) पा. गृ. सू. ३. १०. २७-२८; गदाधरकृत क्रियापद्धति।

आमन्त्रित किया जाता था,[1] किन्तु वैयक्तिक आमन्त्रणों का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता। किन्तु साहित्यिक उल्लेख का न होना इस सम्भावना का निषेध नहीं करता कि मृतकों को पिण्डदान किया जाता था, क्योंकि यह प्रथा संसार के सभी धर्मों में प्रचलित है। सूत्रों में इस विषय पर विध्यात्मक नियमों का समावेश है।[2] वे विधान करते हैं कि मृत्यु के पश्चात् प्रथम दिन मृतक के लिए पिण्डदान करना चाहिए। चावल के इस गोले को 'पिण्ड' नाम देने का कारण यह था कि वह प्रेत के शरीर (पिण्ड) के अवयवों का पूरक माना जाता था।[3] चावल के उक्त पिण्ड के साथ उसकी शुद्धि के लिए जल भी गिराया जाता था तथा प्रेत का नाम लेकर पुकारा जाता था। उसके लिए दूध और जल उन्मुक्त वायु-मण्डल में इन शब्दों के साथ रख दिये जाते थे : 'यहां स्नान करो'। उसे सुगन्धित पदार्थ और पेय तथा यमलोक के अन्धकारमय मार्ग को आलोकित करने के लिए दीपक भी दिये जाते थे।[4] ग्यारहवें दिन ब्राह्मणों को भोज दिया जाता था, जिसमें मांस के व्यञ्जन भी परोसे जाते थे।[5]

अन्त्येष्टि-विषयक पद्धतियों में संस्कार का यह भाग पूर्ण विकसित हुआ है। वे दाह के पश्चात् बारहवें दिन तक प्रत्येक दिन विशेष प्रयोजन के लिए विशेष प्रकार के पिण्डदान का विधान करती हैं। उनके अनुसार पहले दिन मृतक की क्षुधा और तृषा को तृप्त करने तथा उसके भावी शरीर की रक्त-नलियों के निर्माण के लिए एक भात का पिण्ड, पानी का एक घड़ा तथा अन्य खाद्य पदार्थ देना चाहिए। आसन के लिए कुश, लेप, पुष्प और सुगन्धित पदार्थ तथा दीपक भी मृतक के लिए बाहर रख देने चाहिएँ। दूसरे दिन मृतक के श्रवण, नेत्र और घ्राण के निर्माण के लिए पिण्डदान किया जाता है; तीसरे दिन गले, कन्धे, बाहु और वक्षःस्थल के निर्माण के लिए, और इसी प्रकार नवें दिन तक मृतक के विविध अङ्गों के निर्माण के लिए पिण्डदान दिये जाते हैं, जब कि मृतक का देह

---

(१) ऋ. वे. १०. १५।
(२) पा. गृ. सू. ३. १०. २७-२८।
(३) पिण्डमवयवपूरकं दत्त्वा। पा. गृ. सू. ३. १०. २७-२८ पर जयराम।
(४) आ. गृ. सू. ४. ५।
(५) पा. गृ. सू. ३. १०. ४८।

पूर्ण हो जाता है। दसवें दिन जीवित सम्बन्धियों के केश, श्मश्रु और नख काटे जाते हैं और मृतक की प्रेत-दशा के निवारण के लिए मृतक और यम को पिण्डदान किया जाता है। ग्यारहवें दिन अनेक क्रियाएँ होती हैं। आरम्भ में मृतक को जल दिया जाता है तथा भगवान् विष्णु से प्रेत को मोक्ष प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है।[1] अन्त्येष्टि क्रियाओं का यह एक सर्वथा नवीन पार्श्व है जिसमें स्वर्गीय भोगों का स्थान मोक्ष ने ले लिया है। इस दिन की विधि की प्रधान क्रिया वृषोत्सर्ग[2] या एक सांड और एक गाय को खुला छोड़ना है। दोनों पशुओं को स्नान करा कर अलङ्कृत किया जाता और तब एक लोहे तथा त्रिशूल से उन्हें दाग दिया जाता है। वृषभ के कान में अधोलिखित श्लोक का उच्चारण किया जाता है, 'चतुष्पाद् भगवान् धर्म स्वयम् वृष नाम से प्रसिद्ध हैं, मैं भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करता हूँ, वे मेरी सर्वतः रक्षा करें'।[3] तब उन पर एक वस्त्र-खण्ड डाल कर उनका विवाह इन शब्दों के साथ कर दिया जाता है, 'यह सर्व-श्रेष्ठ पति मेरे द्वारा दिया गया; पतियों में सर्वाधिक आकर्षक यह युवती गाय मेरे द्वारा दी गयी'। इसके पश्चात् मृतक की प्रेतत्व से मुक्ति और उसके भव-सागर से सन्तरण के लिए उक्त दम्पती मुक्त कर दक्षिण दिशा में हांक दिये जाते हैं।[4] ग्यारह महापात्र ब्राह्मणों के भोज के साथ यह विधि समाप्त हो जाती है। वे भारी-भरकम दक्षिणा तथा सभी प्रकार के दान प्राप्त करते हैं जो प्रचलित विश्वास के अनुसार उनके माध्यम से मृतक के भावी सुख के लिए परलोक पहुंच जाते हैं। भोजन का प्रबन्ध पूरे एक वर्ष के लिए किया जाता है, क्योंकि यह विश्वास व्याप्त है कि मृतक को यमलोक पहुँचने में एक वर्ष का समय लग जाता है।

---

(१) अनादिनिधनो देव शङ्खचक्रगदाधर।
अक्षय्य पुण्डरीकाक्ष प्रेतमोक्षप्रदो भव ॥
गदाधर द्वारा पा० गृ० सू० ३. १० पर उद्धृत।

(२) नारायणकृत वृषोत्सर्ग पद्धति।

(३) वृषो हि भगवान् धर्मश्चतुष्पादः प्रकीर्तितः।
वृणे हि तमहं भक्त्या स मा रक्षतु सर्वतः॥
गदाधर द्वारा कृत्यपद्धति में उद्धृत।

(४) अमुकप्रेतस्य प्रेतत्वविमुक्तये......सन्तारयितुम्। वही।

२२. सपिण्डीकरण

सपिण्डीकरण[1] अथवा प्रेत को पितरों से संयुक्त करने की क्रिया दाह के पश्चात् बारहवें दिन, तीन पक्षों के अन्त में या वर्ष समाप्त होने पर होती है। प्रथम दिन यज्ञिय अग्नि रखनेवालों के लिए है और द्वितीय तथा तृतीय अन्य व्यक्तियों के लिए।

ऐसा विश्वास था कि मृतक व्यक्ति की आत्मा तुरन्त और सीधे ही पितृ-लोक नहीं पहुँच जाती। कुछ काल तक वह प्रेत के रूप में उससे पृथक् रहती है। इस अवधि में उसे विशेष पिण्ड दिये जाते हैं। किन्तु नियत समय के पश्चात् सपिण्डीकरण के द्वारा प्रेत पितृ-लोक में पहुँच जाता है।

सपिण्डीकरण के लिए विहित तिथियों को आरम्भ में षोडश श्राद्ध किये जाते हैं। तब चार पात्र शीशम के बीज, गन्ध और जल से भर दिये जाते हैं। उनमें से तीन पितरों को दिये जाते हैं और एक प्रेत को। प्रेत-पात्र की वस्तुएँ पितृ-पात्र में इन शब्दों के साथ छोड़ दी जाती हैं, 'ये समान आदि' और यह क्रिया समाप्त हो जाती है।

२३. अपवाद

व्यक्ति की प्राकृतिक मृत्यु से सम्बद्ध सामान्य क्रियाओं के अतिरिक्त, अनेक असाधारण कृत्यों का भी उल्लेख गृह्यसूत्रों और स्मृतियों में उपलब्ध होता है। वैदिक सूक्तों में असाधारण उदाहरणों का विशेष उल्लेख न करते हुए नियमित अन्त्येष्टि क्रियाओं का वर्णन किया गया है। अथर्ववेद (१८) के मन्त्र २,३,४ और ३५ में सम्भवतः इस प्रकार के उदाहरणों की ओर सङ्केत किया गया है। उक्त ऋचाओं में प्रथम इस प्रकार है; 'अग्ने, पिण्डों का भोग करने के लिए, तू निखात, त्यक्त, दग्ध अथवा विसर्जित, सभी पितरों को यहाँ प्रस्तुत कर'। अथर्ववेद के युग में दाह शव की व्यवस्था का सर्वाधिक लोकप्रचलित प्रकार था, अतः ऊपर उद्धृत अन्य उदाहरण असाधारण रहे होंगे। यहाँ निखात का उल्लेख सम्भवतः शिशुओं और संन्यासियों के निखात की प्रथा की ओर सङ्केत करता हो, जिससे अन्त्येष्टि-संस्कारविषयक परवर्ती साहित्य परिचित है; त्यागने का उल्लेख सम्भवतः उन भिक्षुओं के विषय में हो जिनकी मृत्यु वन में हो गई हो,

(१) कात्यायन-श्राद्धकल्पसूत्र, ५. १-२; नारायणभट्ट कृत अन्त्येष्टि पद्धति।

जिसका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में किया गया है,[1] अथवा सम्भवतः यहाँ मृतक शरीर के समाधि में रखे जाने की ओर सङ्केत हो, जो बौद्ध धर्म में मान्य है;[2] और विसर्जन सम्भवतः वृक्षों पर मृत व्यक्तियों के विसर्जन की ओर सङ्केत करता हो, जिसकी चर्चा शतपथ-ब्राह्मण में उपलब्ध होती है।[3] किन्तु ये उदाहरण मृतक अथवा परिवार के ऊपर भारस्वरूप विकलाङ्ग या अयोग्य व्यक्तियों के त्याग अथवा विसर्जन की ओर सङ्केत नहीं करते, जैसी कि कतिपय विद्वानों की धारणा है।[4] यह अपेक्षाकृत सत्य के अधिक निकट प्रतीत होता है कि ये असाधारण उदाहरणों में विशेष कृत्य का प्रतिनिधित्व करते हों। इस धारणा का समर्थन इस तथ्य से भी होता है कि अथर्ववेद के उपर्युक्त मन्त्रों में पितरों को पिण्डोपभोग के लिए अत्यन्त स्नेह और आदर के साथ आमन्त्रित किया गया है, विसर्जित कूड़े-करकट के रूप में नहीं। ब्राह्मणकाल में आने पर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शतपथ-ब्राह्मण[5] वृक्षों पर शव के विसर्जन का उल्लेख करता है। यह प्रथा निश्चित रूप से उन गृहहीन संन्यासियों और भिक्षुओं के विषय में अपनायी जाती थी, जो अपने पीछे दाह क्रिया करने के लिए कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ जाते थे। तैत्तिरीय-आरण्यक में ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण की मृत्यु होने पर ब्रह्ममेध किये जाने का उल्लेख मिलता है।[6] छान्दोग्य उपनिषद् से हमें ज्ञात होता है कि यदा-कदा शव निश्चिन्ततापूर्वक पड़े रहने दिये जाते थे और उनकी किसी प्रकार की अन्त्येष्टि क्रिया नहीं की जाती थी। ऐसा विशेषतः उन लोगों के विषय में होता था, जो वन में जाकर ब्रह्मविद्या का अध्ययन करते और ऐसा विश्वास था कि वे फलस्वरूप ब्रह्मलोक पहुँच जाते थे, जहाँ से प्रत्यावर्तन नहीं होता।

असाधारण उदाहरणों का सर्वाधिक व्यवस्थित निरूपण गृह्यसूत्रों से प्राप्त होता है, जहाँ सम्पूर्ण वर्गीकरण के पश्चात् कृत्यों को लिपिबद्ध रूप दिया गया

(१) ६. १५. २, ३।

(२) बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. ७८ तथा आगे।

(३) ५. ५. ७. १३।

(४) जिमर, आल्ट, लेबेन, पृ. ४०२।

(५) ५. ५. ७. १३।

(६) ६. ६. २. ३।

है। बौधायन अपने पितृमेधसूत्र में अन्त्येष्टि क्रियाओं के प्रायः सभी अनियमित उदाहरणों का वर्णन करते हैं। स्मृतियाँ इस कर्मकाण्ड का तो विकास नहीं करतीं, किन्तु इन विषयों में विभिन्न प्रकार के अशौच के पालन तथा प्रायश्चित्त के अनुष्ठान का निरूपण करती हैं। उत्तरकालीन प्रयोगों और पद्धतियों में गृह्यसूत्रों में वर्णित कर्मकाण्ड का अनुसरण किया गया है, यद्यपि उनमें जीवच्छ्राद्ध जैसे कतिपय नवीन कृत्यों का भी विकास हुआ है, जिनका उल्लेख पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं प्राप्त होता।

(१) आहिताग्नि

प्रथम विशेष अन्त्येष्टि क्रिया आहिताग्नि अथवा तीन अग्नि रखनेवाले गृहस्थ से सम्बन्धित है। धार्मिक नियमों के यथावत् पालन के द्वारा समाज के अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा उसका विशिष्ट स्थान हो जाता था। अतः उसकी विशिष्ट अन्त्येष्टि करना आवश्यक समझा गया। बौधायन[1] के अनुसार उसकी मृत्यु के पूर्व और पश्चात् होम करना चाहिए तथा उसके यज्ञिय पात्रों का उसकी कुश-निर्मित प्रतिकृति के साथ एक पृथक् चिता पर दाह करना चाहिए। इस प्रसङ्ग में यह स्मरणीय है कि आश्वलायन[2] साधारण अन्त्येष्टि में स्वयम् मृतक शरीर के साथ ही यज्ञिय पात्रों के दाह का विधान करते हैं। निस्सन्देह, वे उस पूर्ववर्ती व्यवहार का उल्लेख करते हैं, जब यज्ञ अधिक नियमित रूप में किये जाते थे। स्मृतियाँ आहिताग्नि और अनाहिताग्नि व्यक्ति के दाह और अशौच में भेद करती हैं। वृद्ध याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'आहिताग्नि व्यक्ति के शव का दाह तीन अग्नियों से, अनाहिताग्नि का एक अग्नि से तथा शेष व्यक्तियों का लौकिकाग्नि से करना चाहिए'।[3] अङ्गिरा के अनुसार 'आहिताग्नि के विषय में अशौच की अवधि उसकी दाहक्रिया (जो किन्हीं कारणों से स्थगित की जा सकती है) के दिन से आरम्भ होती है, किंतु अनाहिताग्नि की उसकी मृत्यु के दिन से'।[4] किन्तु याज्ञिक धर्म के ह्रास के कारण सम्प्रति नितान्त अल्पसंख्यक अग्निहोत्री तीन अग्नियाँ रखते हैं, जिसके फलस्वरूप व्यवहार में उपर्युक्त भेद का अन्त हो गया है।

---

(१) वही. ३. १। (२) आ. गृ. सू.।

(३) या. स्मृ. ३. १. ९ पर विज्ञानेश्वर द्वारा उद्धृत।

(४) वही. ३. १. २१।

(२) शिशु

दूसरी विशेष क्रिया है शिशुओं की। वे पूर्ण विकसित मनुष्य नहीं हैं, अतः उसकी अन्त्येष्टि भी प्रौढ़ों से भिन्न होनी चाहिए। उसका कोमल शरीर अग्नि की भीषण ज्वालाओं के उपयुक्त नहीं है; उसका निष्पाप जीवन न तो कुल पर इतना अधिक अशौच ही आरोपित करता और न ही उनके लिए गृहस्थ के लौकिक जीवन के समान इतनी अधिक शुद्धि अपेक्षित है। शिशुओं के लिए परलोक में सुखी जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति भी अपेक्षित नहीं है, क्योंकि वे इस लोक में भी उनके अभ्यस्त नहीं होते। ये भाव शिशुओं की विशिष्ट अन्त्येष्टि क्रिया के मूल में निहित रहे हैं। बौधायन कहते हैं कि अनुपनीत बालकों और अविवाहित कन्याओं के लिए पितृमेध नहीं करना चाहिए।[1] उसके अनुसार अपने समय से पूर्व जन्म होने पर इस प्रकार के मृत शिशु का निखात कर देना चाहिए और उक्त क्रिया करनेवाला व्यक्ति वस्त्र बिना उतारे ही स्नान करने पर तत्काल शुद्ध हो जाता है।[2] किन्तु पैठ्य के अनुसार शिशु की अकालप्रसूति से माता को दस दिन की अवधि के लिए अशौच लगता है।[3] जिसके दाँत न निकले हों, ऐसे शिशु के शव का प्रणव[4] का उच्चारण करते हुए निखात कर देना चाहिए। पारस्कर लिखते हैं कि दो वर्ष से अल्प आयु के बालक का बिना दाह ही निखात कर देना चाहिए।[5] मनु का मत उक्त आचार्यों से भिन्न है[6] और वे विधान करते हैं कि 'दो वर्ष से न्यून आयु के शिशु की मृत्यु होने पर उसके सम्बन्धी उसे ग्राम के बाहर लाकर, उसके शव को माला तथा वस्त्रों से अलंकृत कर खुले स्थान पर छोड़ दें (अथवा उसे भूमि में गाड़ दें); उसकी अस्थियों का सञ्चय करने की आवश्यकता नहीं। न तो उसका अग्निसंस्कार ही करना चाहिए और न उदक-दान ही।' किन्तु उस बालक के विषय में, जिसके

(१) यथा एतत्र प्राक्चौलात् प्रमीतानां दहनं विद्यते चानुपनीताना कन्यानां पितृमेध इत्युक्तम्। बौ. पि. सू. ३. ६. १।

(२) वही. ३. ६. २।

(३) या. स्मृ. ३. १. २० पर विज्ञानेश्वर द्वारा उद्धृत।

(४) बौ. पि. सू. ३. ६. ३।　　(५) पा. गृ. सू. ३. १०. ४, ५।

(६) म. स्मृ. ५. ६७-७०।

दाँत निकल आए हों, वे विकल्प की अनुमति देते हैं,[1] और बौधायन तो बान्धवों की इच्छा होने पर उसके दाह का भी अनुमोदन करते हैं।[2] आजकल कुछ प्रदेशों में शिशुओं के शव का निखात होता है, किन्तु अधिकांश में उन्हें नदियों में प्रवाहित कर दिया जाता है और किसी प्रकार के अशौच का पालन नहीं होता।

(३) गर्भिणी

एक अन्य विशिष्ट क्रिया गर्भिणी स्त्री की मृत्यु होने पर की जाती है। बौधायन[3] लिखते हैं कि उसे श्मशान-भूमि में ले जाना चाहिए। शिशु को बचाकर, अष्टकाधेनु, तिलधेनु तथा भूमिधेनु के अतिरिक्त दान के साथ उसका अग्निसंस्कार विधिवत् सम्पन्न करना चाहिए। अग्निसंस्कार के पश्चात् का कृत्य भी यथावत् करना चाहिए। इस प्रकार के उदाहरणों में सम्प्रति शिशु की रक्षा के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया जाता और माता के साथ ही उसका भी दाह हो जाता है तथा अन्त्येष्टि क्रियाएँ वे ही हैं, जो अन्य साधारण उदाहरणों में।

(४) नवप्रसूता तथा रजस्वला

पद्धतियों[4] में नवप्रसूता तथा रजस्वला स्त्री की मृत्यु पर विशेष विधियों का विधान किया गया है। उनके अनुसार, उसके शव को घड़े के उस जल से स्नान कराना चाहिए जिसमें पंचगव्य का मिश्रण हो। यह निश्चित रूप से उसके शरीर की शुद्धि के उद्देश्य से किया जाता है, जो प्रजनन की अशुद्धि अथवा रजःस्राव के कारण अशुद्ध हो जाता है। तब प्राजापत्य आहुतियाँ दी जाती हैं, और शरीर को वस्त्र से ढंक कर उसका अग्निसंस्कार कर दिया जाता है। किन्तु सम्पूर्ण दाह न करने के कारण यह दाह अन्य दाहों से भिन्न है।[5]

(५) परिव्राजक, संन्यासी तथा वानप्रस्थ

परिव्राजकों, संन्यासियों तथा वानप्रस्थों का अन्त्येष्टि संस्कार, स्वयं अपने

(१) नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया।
जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वाऽपि कृते सति ॥ म. स्मृ. ५. ७०।

(२) बौ. पि. सू. ३. ६. ४।

(३) वही. ३. ९. १।

(४) गदाधर कृत कृत्यद्धति।

(५) निश्शेषस्तु न दग्धव्य इति वचनात्। वही।

आप में एक विषय है। ये ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने समस्त सांसारिक सम्बन्धों को त्याग दिया है और जो ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त कर चुके हैं। उनके जीवन का उद्देश्य पितृलोक अथवा स्वर्ग की नहीं, ब्रह्मलोक अथवा मोक्ष की प्राप्ति है। अत: सामाजिक तथा धार्मिक दोनों दृष्टियों से, वे साधारण गृहस्थों से उच्चतर हैं। अतः उनका अन्तिम संस्कार उन लोगों से भिन्न होना चाहिए, जो सांसारिक विषयों तथा स्वर्गीय सुख-सुविधाओं के लिए व्यग्र हैं। ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त किये हुए ब्राह्मण की अन्त्येष्टि का प्रथम उल्लेख तैत्तिरीय-आरण्यक[1] में उपलब्ध होता है, जहाँ उसे ब्रह्ममेध नाम दिया गया है। बौधायन-गृह्यसूत्र[2] परिव्राजक की अन्त्येष्टि क्रिया का वर्णन इस प्रकार करता है: 'शव को गड्ढे में लिटाना चाहिए और उपयुक्त मन्त्रों के साथ भिक्षापात्र उसके पेट पर रख देना चाहिए। इसके पश्चात् उसके कमण्डलु में जल भरकर उसके दाहिने हाथ पर रखना चाहिए। तब गड्ढे को मिट्टी से ढक देना चाहिए तथा शृगाल, कुत्ते आदि मांसभक्षी पशुओं से रक्षा के लिए उस पर एक स्तूप का निर्माण करना चाहिए।[3] परिव्राजकों के प्रति इस कर्तव्य का पालन अत्यन्त पुण्यकर माना जाता है।[4] संन्यासी के लिए दाहोत्तर कृत्य निषिद्ध हैं।[5]

संन्यासियों के कतिपय विशेष सम्प्रदायों में अभी भी इस रीति का अनुसरण किया जाता है। किन्तु हिन्दूधर्म के वैदिक या ब्राह्मणधर्म से पौराणिक व तान्त्रिक धर्म की ओर सङ्क्रमण करने पर सन्यास कलिवर्ज्य माना जाने लगा। यद्यपि शंकराचार्यजी ने स्वयं अपना उदाहरण प्रस्तुत कर इस निषेध का भंग किया तथापि सन्यास हिन्दूधर्म में पुनः लोकप्रिय न हो सका। आधुनिक साधु ज्ञान मार्ग तथा भक्तिमार्ग के अनुसार विविध सम्प्रदायों में विभक्त हैं और यथार्थ में वे

---

(१) तैत्तिरीय आरण्यक, ३। (२) बौ. पि. सू. ३. ११।

(३) श्वगालश्ववायसाः खादन्ति चेद्दोषमाहारयेत् कर्तुः। तस्मादविशङ्कां वेदिं प्रच्छादयेदिति बौधायनः। ३. ११. २। आगे चलकर सम्मानित परिव्राजकों के विषय में स्तूप स्मारक के रूप में परिणत हो गया।

(४) इत्यर्थोपसंस्कारोऽश्वमेधफलं तत्रोदाहरन्ति। वही. ३. ११. १।

(५) त्रयाणामाश्रमाणाञ्च कुर्याद्दाहादिका क्रियाः।
यतो त्रिविध कर्तव्यं न चान्येषा करोति सः।
गदाधर द्वारा कृत्यपद्धति में उद्धृत।

संन्यासी नहीं कहे जा सकते। कुछ सम्प्रदायों में निखात की प्रथा प्रचलित है, किन्तु उनका बहुमत जल-प्रवाह को प्राथमिकता देता है और उनका अन्तिम कृत्य ब्राह्मणों और साधुओं के महाभोज के साथ पूर्ण हो जाता है। संन्यासी के सिर को भेदने की आधुनिक प्रथा इस औपनिषदिक विश्वास पर आधारित है कि ब्रह्मज्ञानी की आत्मा ब्रह्मरन्ध्र अथवा मस्तक के शिखर पर के एक छिद्र के मार्ग से उत्क्रमण कर जाती है।[1] अतः आत्मा के उत्क्रमण में सुविधा के लिए सिर भेद दिया जाता है। संन्यासियों का अग्निसंस्कार नहीं किया जाता, क्योंकि अध्यात्मज्ञान की अग्नि से विशुद्ध होने तथा ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त कर लेने पर, उनके शरीर की शुद्धि तथा आत्मा को परलोक में पहुँचाने के लिए भौतिक अग्नि की आवश्यकता उन्हें नहीं रहती।[2]

(६) प्रवासी

अपने घर से सुदूर प्रदेश में मरनेवाले व्यक्तियों का एक अन्य वर्ग है। इस विषय में भी बौधायन ही प्रथम सूत्रकार हैं, जो सम्बन्धित क्रियाओं का विशद वर्णन करते हैं।[3] मृत्यु की सूचना प्राप्त होने पर उसके सम्बन्धियों को, यदि सुरक्षित हो तो उसका शव, अन्यथा उसकी अस्थियां ही विधिवत् अन्त्येष्टि के लिए लाना चाहिए। यदि केवल अस्थियां ही प्राप्त हो सकें, तो विभिन्न अवयवों से तैंतीस अस्थियों का चयन करना चाहिए, क्योंकि उस समय व्याप्त धारणा के अनुसार मनुष्य का शरीर तैंतीस अवयवों से निर्मित माना जाता था।[4] किन्तु जब अस्थियां उपलब्ध नहीं होती थीं और केवल दिशा का ही ज्ञान होता था, उस दिशा से प्रेत को उसका नाम लेकर पुकारा जाता था, कृष्ण मृगचर्म पर उसका एक पुतला बनाया जाता था, उस पर यज्ञिय पात्र रखे जाते थे, इन वस्तुओं पर कुश बिखेर दिया जाता था और तब अग्नि-संस्कार

---

(१) शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमेण भवति॥

छा. उ. ८. ६६।

(२) प्रतापनारसिंह का एक भाग यतिसंस्कार, बी. बी. आर. ए. ऐस. कैटलाग, पृ. २२२, सं. ७००-७०३।

(३) बौ. पि. सू. ३. ६।

(४) त्रयस्त्रिंशत् पुरुषः। वही ३. ६. २।

कर दिया जाता था। जब सुदूर प्रदेश में गये हुए व्यक्ति का कोई भी चिह्न नहीं मिलता था और उसकी मृत्यु का विश्वास हो जाता था, तो उसकी अन्त्येष्टि क्रिया उपर्युक्त रीति से कर दी जाती थी। ऐसे उदाहरणों में यदा-कदा ऐसे व्यक्ति घर लौट आते थे, जिनकी मृत्यु का विश्वास कर लिया जाता था। ऐसे व्यक्तियों को गर्भाधान प्रभृति विवाहान्त संस्कारों से पुनर्जीवित करना पड़ता था,[1] क्योंकि वे सामाजिक दृष्टि से मृत माने जाते थे और कोई भी व्यक्ति उनसे सम्पर्क रखने के लिए प्रस्तुत न होता। आजकल भी उसी प्रथा का अनुसरण किया जाता है, किन्तु लोग खोये हुए व्यक्तियों की अन्त्येष्टि में किसी प्रकार की शीघ्रता नहीं करते, और उनकी अन्त्येष्टि तब की जाती है, जब उनके लौटने की सम्भावना समाप्त हो जाती है।

(७) जीवच्छ्राद्ध

जीवच्छ्राद्ध[2] की एक बड़ी ही विलक्षण प्रथा आधुनिक काल में अस्तित्व में आ गई है। एक परम्परावादी हिन्दू का विश्वास है कि सद्गति (स्वर्ग अथवा मोक्ष) की प्राप्ति के लिए उसकी सविधि अन्त्येष्टि क्रिया अनिवार्य है। यदि किसी व्यक्ति के पुत्र न हों, अथवा उसे इस विषय में सन्देह हो कि मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र उसकी अन्त्येष्टि क्रिया समुचित रीति से सम्पन्न करेंगे या नहीं, तो वह यह देखने के लिए उत्सुक रहता है कि उसकी अन्त्येष्टि क्रिया उसके जीवन काल में ही विधिवत् सम्पन्न हो जाए। एक पुतला उसका प्रतिनिधि मान लिया जाता है, और सम्पूर्ण कृत्य साधारण रीति से सम्पन्न होते हैं। किन्तु यह अन्धविश्वास प्रचलित है कि जिन लोगों की अन्त्येष्टि उनके जीवनकाल में ही कर दी जाती है, वे अतिशीघ्र मर जाते हैं। अतः बहुत ही कम लोग ऐसा करने का साहस करते हैं।

(८) अकाल मृत्यु

जिनकी मृत्यु दुर्घटनाओं में होती है, वे भी अपवाद माने जाते हैं। बौधायन के अनुसार जिनकी मृत्यु शस्त्र के घाव, विष के प्रयोग, रस्सी के फन्दे, पानी में डूबने, पर्वत अथवा वृक्ष से गिरने आदि के कारण हो जाती है, वे अन्त्येष्टि

---

(१) वही. ३. ७।

(२) नारायण भट्टकृत जीवच्छ्राद्धपद्धति।

के योग्य नहीं हैं।[1] अधिक सम्भव यह है कि वे जल में फेंक या वन में छोड़ दिये जाते थे। किन्तु आजकल निश्चित प्रायश्चित्त करने के पश्चात् उनकी अन्त्येष्टि की जाती है। इस विषय में अन्त्येष्टि के निषेध का यह कारण था कि ये लोग पितृलोक में स्वीकृत नहीं किये जा सकते थे। अतः उनके लिए विस्तृत अन्त्येष्टि क्रियाओं का करना निरर्थक था।[2] किन्तु गौतम धर्मसूत्र कहता है कि इच्छा होने पर उनके जीवित सम्बन्धी उदक कर्म आदि कर सकते थे।[3] किन्तु अधिकांश स्मृतियां अशौच तथा अन्य कृत्यों को निषिद्ध कर देती हैं, क्योंकि उनकी मृत्यु से किसी प्रकार का अशौच नहीं लगता।

(६) पतित

पतित व्यक्तियों का भी अपना एक विशिष्ट वर्ग है। मनु के अनुसार धर्मद्रोही, प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न, आत्महत्या करनेवाला, पाषण्ड, व्यभिचारिणी, गर्भपात या अपने पति से घृणा करनेवाली स्त्री आदि की अन्त्येष्टि नहीं करनी चाहिए।[4] याज्ञवल्क्य स्तेन या चोर का समावेश भी इसी वर्ग में करते हैं।[5] इस निषेध के पीछे कारण यह है कि अपने असामाजिक अभ्यासों तथा व्यवहार के कारण वे समाज की दृष्टि से नष्ट ही हो जाते हैं, अतः संस्कार से लाभ उठाने का सामाजिक विशेषाधिकार उन्हें उपलब्ध नहीं होता। सम्प्रति ऐसी बातें या तो प्रकट नहीं की जातीं या उन्हें सार्वजनिक रूप से स्वीकार नहीं किया जाता, तथा अनेक पतित व्यक्ति साधारण गृहस्थों के ही समान बच निकलते हैं।

---

(१) बौ. पि. सू. ३. ७. १। वह एक अपवाद को मान्यता देता है, 'देशान्तरमृते सङ्ग्रामहते व्याघ्रहते शरीरमादाय विधिना दाहयेत्।
वही. ३. ७. २।

(२) उदकं पिण्डदानञ्च प्रेतेभ्यो यत् प्रदीयते।
नोपतिष्ठति तत्सर्वमन्तरिक्षे विनश्यति॥
या. स्मृ. ३. १. ६. पर विज्ञानेश्वर द्वारा उद्धृत।

(३) प्रायोऽनाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्बन्ध प्रपतनैश्चेच्छताम्। वही।

(४) बौ. मि. सं. ८७–९०।

(५) पाखण्ड्यनाश्रिताः स्तेना भर्तृघ्न्यः कामगादिकाः।
सुराप्यात्मघातिन्यो नाशौचोदकभाजनाः॥ या. स्मृ. ३. १. ६।

२४. क्रियाओं की आदिम प्रकृति

अन्त्येष्टि क्रियाएं, पुनः पुनः दुहरायी जाने तथा भरकम होने पर भी, अत्यन्त साधारण हैं। हिन्दूधर्म के किसी भी अन्य क्षेत्र में आदिम विश्वास इतने ज्वलन्तरूप में विद्यमान नहीं हैं, जितने अन्त्येष्टि क्रियाओं में। परलोक इस लोक का दूसरा प्रतिरूप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, और मृतक की आवश्यकताएं भी वे ही हैं, जो एक जीवित व्यक्ति की। सम्पूर्ण क्रियाओं में मृत व्यक्ति के विषय-भोग तथा सुख सुविधाओं के लिए प्रार्थनाएं की जाती हैं। हमें उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्ष के लिए इच्छा का बहुत कम सङ्केत मिलता है। जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति के लिये प्रार्थना बहुत कम है और उसका उदय कर्मकाण्ड के विकास की नवीनतम शृंखला में जाकर ही हो सका। संपूर्ण संस्कार नितान्त आदिम प्रकार का है और वह अत्यन्त सुदूर अतीत के विश्वासों की सूचना देता है।

दशम अध्याय

उपसंहार

१. जीवन एक रहस्य तथा कला

मनुष्य के लिए जीवन एक महान् रहस्य रहा है। इसके उद्भव, विकास, ह्रास और लोप के रहस्य के ज्ञान के लिए वह सदा व्याकुल रहा है। हिन्दू संस्कार इस रहस्य की थाह पाने तथा उसके प्रवाह को सुविधाजनक बनाने के प्रयत्न थे। युगों के निरीक्षण तथा अनुभव और त्रुटियों तथा विश्वास के माध्यम से भारतीयों ने यह अनुभव कर लिया था कि जीवन भी संसार की अन्य कलाओं के समान ही एक कला है। इसके लिए संस्कार तथा परिष्करण अपेक्षित थे। उत्पन्न तथा अपने आप में सीमित मनुष्य केवल पञ्चतत्वों का एक पिण्ड, असभ्य और पाशविक तथा अपने वन्य सहयोगियों (पशुओं) से नाममात्र के लिए भिन्न था। उसके जीवन के लिए सावधानी, रक्षा तथा विकास की उतनी ही आवश्यकता थी, जितनी कि उद्यान में एक पौधे के लिए, खेत में फसल के लिए, और पशु-संघ में एक पशु के लिए। संस्कार इस आवश्यकता की पूर्ति के चेतन प्रयत्न थे। प्राचीन काल के ऋषियों और मुनियों ने, अपने प्रकाश तथा बुद्धि द्वारा वन्य पशुता को संस्कृत मनुष्यता में परिणत करने का प्रयास किया।

२. जीवन एक चक्र

दर्शनशास्त्र के समान कर्मकाण्ड में भी जीवन एक चक्र के समान समझा जाता था। यह वहीं आरम्भ होता है, जहाँ इसका अन्त होता है। जीवन जन्म से मृत्यु पर्यन्त जीवित रहने, विषय-भोग तथा सुख प्राप्त करने, चिन्तन करने तथा अन्त में इस संसार से प्रस्थान करने के वासनामय मध्यबिन्दु के चारों ओर घूमनेवाली घटनाओं की निरन्तर शृङ्खला है। समस्त संस्कार और उसके विधि-विधान जीवन के केन्द्र से ही उत्पन्न होते हैं तथा वे उसकी सीमा के सहवर्ती हैं। संस्कारों के प्राचीनतम आकरग्रन्थ गृह्यसूत्र विवाह से आरम्भ

होते हैं, क्योंकि यह जीवन का केन्द्र माना जाता था, जो समस्त सामाजिक गति-विधियों को धारण तथा अनुप्राणित करता है। किन्तु स्मृतियाँ माता के गर्भ में भ्रूण के आधान से संस्कारों का आरम्भ करती हैं, क्योंकि स्पष्टतः यहीं से व्यक्ति के जीवन का उदय होता है; और अन्त्येष्टि के साथ समाप्त होती हैं, जहाँ प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य-जीवन का अन्त होता है। जीवन के समान संस्कार भी जन्म और मृत्यु के बीच गतिशील रहते हैं।

३. रूढ़ि एक चेतन विकास

आरम्भ में संस्कार स्वचालित न होते हुए भी प्रवाहशील थे। उसमें न तो कोई मतवाद था और न ही कोई निश्चित नियम-शृंखला। प्रथा अथवा परम्परा ही एकमात्र प्रमाण थी और तर्क तथा बुद्धिवाद का प्रश्न नहीं उठता था। जब कालक्रम से संस्कारों से सम्बद्ध विविध प्रथाएं विकसित हुईं और सामाजिक भावनाओं तथा आवश्यकताओं के कारण उनकी संख्या में अभिवृद्धि हुई, तो संस्कारों को लिपिबद्ध व नियमित करने का प्रयास किया गया तथा रूढ़ियाँ निश्चित हो गयीं। इससे संस्कारों के संस्थागत स्वरूप को स्थायित्व प्राप्त हुआ, किन्तु इससे उनके स्वाभाविक विकास की गति अवरुद्ध हो गयी, जिसका परिणाम हुआ उनकी अशक्तता तथा ह्रास।

४. संस्कारों की पद्धति

संस्कारों की पद्धति और स्वरूप निरीक्षण, अनुभव तथा तर्क पर आधारित थे। अति प्राचीन काल में भी संस्कारों की पद्धतियाँ विस्तृत तथा विशिष्ट थीं। उनका निश्चित उदय सुदूर अतीत के अन्तराल में निहित है, किन्तु यह निश्चित है कि सामाजिक आवश्यकताओं में उनका जन्म हुआ और कालक्रम से उन्हें धार्मिक आवरण प्राप्त हो गया। संस्कारों की पद्धतियों के विकास में प्रतीकों तथा निषेधों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग रहा है।

५. हिन्दू धर्म में संस्कारों का स्थान

(१) संस्कार सम्पूर्ण जीवन से सम्बद्ध

सभ्यता के आरम्भ में जीवन आज की अपेक्षा नितान्त साधारण थी

और वह विविध खंडों में विभक्त नहीं हुआ था। सामाजिक संस्थाएँ, विश्वास, भावनाएँ, कलाएँ तथा विज्ञान आदि सभी परस्पर एक दूसरे में मिश्रित थे। संस्कारों ने जीवन के इन सभी क्षेत्रों को व्याप्त किया। प्राचीन काल में धर्म एक सर्वस्पर्शी तत्त्व था तथा कर्मकाण्ड जीवन में सभी सम्भव घटनाओं को शुद्धि तथा स्थायित्व प्रदान करते थे और इस प्रयोजन के लिए उन्होंने संसार के समस्त नैतिक तथा भौतिक साधनों का उपयोग किया, जिन तक मनुष्य की पहुँच थी। संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना था, जिससे वह अपने को मानवीय तथा अतिमानव शक्तियों से पूर्ण संसार के अनुरूप बना सके।

(२) संस्कार और जीवन के तीन मार्ग

जब कालक्रम से जीवन में जटिलता बढ़ने लगी और फलस्वरूप कर्म में भेद करना पड़ा, तो हिन्दुओं ने जीवन के तीन निश्चित मार्गों को मान्यता प्रदान की—(१) कर्म-मार्ग, (२) उपासना-मार्ग तथा (३) ज्ञान-मार्ग। यद्यपि मूलतः संस्कार अपने क्षेत्र की दृष्टि से अत्यन्त व्यापक थे, किन्तु आगे चलकर उनका समावेश केवल कर्म-मार्ग में किया जाने लगा। प्रथम मार्ग द्वितीय तथा तृतीय मार्ग के लिए तय्यारी का मार्ग था, जिसका उद्देश्य चित्त-शुद्धि था। अतः यद्यपि संस्कार जीवन में सर्वोच्च महत्त्व के नहीं थे, तथापि उनका प्राथमिक महत्त्व था और इस प्रकार वे प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य थे। तथ्य यह है कि वे उच्चतर बौद्धिक तथा आध्यात्मिक संस्कृति के लिए व्यक्ति को प्रशिक्षित करते थे।

(३) संस्कारों के प्रति दार्शनिक उदासीनता और विरोध का भाव तथा दर्शन के साथ उनका सामञ्जस्य।

जीवन के प्रति भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण इस विचार पर केन्द्रित रहा कि अन्तिम विश्लेषण करने पर सांसारिक जीवन निरर्थक है तथा पार्थिव अस्तित्व से परे चेतना की स्थिर अवस्था की प्राप्ति ही मनुष्य का गन्तव्य है। जीवन के पारदर्शी मूल्यों की प्राप्ति के महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति संस्कारों को, जिनका प्रयोजन मनुष्य के सांसारिक जीवन का परिष्कार था, हीनता की दृष्टि से देखते थे। कतिपय औपनिषदिक मनीषियों ने संस्कारों सहित समस्त यज्ञों का उपहास किया और उनकी तुलना उस भग्न नौका से की जो संसार-सागर

को पार करने में समर्थ नहीं है। किन्तु संयत हिन्दू मस्तिष्क, समन्वयात्मकता तथा जीवन का सन्तुलित विचार जिसकी विशेषता थी, कर्मकाण्ड तथा दर्शन के मध्य समन्वय स्थापित करने में समर्थ हुआ और एक ही यज्ञिय मण्डप के नीचे अत्यन्त विस्तृत यज्ञों के साथ-साथ आत्मविद्या सम्बन्धी उच्चतम प्रश्न उठाये जाते थे और उन पर शास्त्रार्थ होते थे। चार्वाकों, बौद्धों तथा जैनों ने कर्मकाण्ड पर व्यर्थ ही आक्रमण किया। आधारभित्ति के रूप में अपना स्वतन्त्र विधि-विधान तथा रूढ परंपरा न होने से चार्वाक मत का अन्त हो गया। जन साधारण को समाज में प्रचलित लोकप्रिय कर्मकाण्ड के अनुसरण के लिए छोड़कर, बौद्धों तथा जैनों ने मठों के लिये अपना स्वतन्त्र कर्मकाण्ड विकसित किया। वैदिक विचारकों ने कभी भी निरर्थक समझ कर उनका तिरस्कार नहीं किया। सम्भवतः इसका कारण उनकी यह धारणा थी कि जन साधारण किसी न किसी प्रकार के विधिविधानों के बिना जीवित नहीं रह सकता। क्योंकि संस्कार इस दृष्टि से सर्वोत्तम थे, अतः समाज ने उन्हें मान्यता प्रदान की।

(४) संस्कार तथा पौराणिक हिन्दू धर्म

पौराणिक हिन्दू धर्म के विकास के साथ वैदिक कर्मकाण्डीय धर्म का ह्रास हुआ तथा धार्मिक जीवन का आकर्षण गृह—जो संस्कारों का केन्द्र विन्दु था—से तीर्थस्थानों तथा मन्दिरों की ओर स्थानान्तरित हो गया। मूर्तिपूजा पर बल दिया गया। यद्यपि दीर्घ तथा विस्तृत यज्ञ प्रचलित नहीं रहे, किन्तु संस्कार थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ जीवित रहे, उदाहरणार्थ, यदा कदा चूडाकरण तथा मुण्डन संस्कार घर के स्थान पर मन्दिर में सम्पन्न होने लगे। संस्कारों का मनुष्य के वैयक्तिक जीवन से इतना निकट सम्बन्ध था कि सम्पूर्ण परिवर्तनों तथा उथल-पुथल में भी वे उससे चिपके रहे। जीवन पर उनका नियन्त्रण इतना कठोर था कि अनेक देवताओं को भी कतिपय संस्कारों के बीच से जाना पड़ता था।

६. संस्कारों की उपयोगिता

संस्कार मानवजीवन के परिष्कार और शुद्धि में सहायता पहुँचाते, व्यक्तित्व के विकास को सुविधाजनक करते, मनुष्य-देह को पवित्रता तथा महत्व प्रदान करते, मनुष्य की समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक महत्वाकांक्षाओं को गति देते तथा अन्त में उसे जटिलताओं और समस्याओं के संसार से सरल तथा

सानन्द मुक्ति के लिए प्रस्तुत करते थे। अनेक सामाजिक महत्त्व की समस्याओं के समाधान में भी वे सहायक थे। उदाहरणार्थ, गर्भाधान तथा अन्य प्राग्-जन्म-संस्कार यौन-विज्ञान और प्रजनन-शास्त्र से सम्बद्ध थे। जब स्वास्थ्य-विज्ञान तथा प्रजनन-शास्त्र का विज्ञान की स्वतन्त्र शाखा के रूप में विकास नहीं हुआ था, उस समय इस प्रकार के विषयों में संस्कार ही शिक्षा के माध्यम का कार्य करते थे। इसी प्रकार विद्यारम्भ तथा उपनयन से समावर्तन पर्यन्त सभी संस्कार शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के हैं। आदिम समाजों में जनसाधारण में अनिवार्य शिक्षा को लागू करने के लिए कोई धर्मनिरपेक्ष या लौकिक माध्यम न था। अनिवार्य होने के कारण संस्कार इस प्रयोजन की भी पूर्ति करते थे। शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से अयोग्य न होने पर प्रत्येक बालक को शिक्षा के अनिवार्य पाठ्यक्रम से होकर गुजरना होता था, जिसमें अध्ययन तथा कठोर अनुशासन का समावेश था। इससे प्राचीन हिन्दुओं के उच्च बौद्धिक तथा सांस्कृतिक स्तर की रक्षा में योग मिलता था। विवाह के प्रकारों, उसकी सीमाओं, वर और वधू के वरण तथा वैवाहिक विधि-विधान के सम्बन्ध में निश्चित नियमों के निर्धारण के द्वारा विवाह संस्कार अनेक यौन तथा सामाजिक समस्याओं का नियमन करता था। निस्सन्देह, इन नियमों की प्रवृत्ति समाज को स्थिर तथा गतिहीन बना देने की ओर थी, किन्तु सामाजिक समुदायों और पारिवारिक जीवन को स्थायित्व प्रदान करने तथा सुखी बनाने में उनसे सहायता मिली। अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि मृतक तथा जीवित के प्रति गृहस्थ के कर्तव्यों में सामञ्जस्य स्थापित करता था। यह पारिवारिक और सामाजिक स्वास्थ्य-विज्ञान का एक विस्मयजनक समन्वय था तथा जीवित सम्बन्धियों को सान्त्वना प्रदान करता था। इस प्रकार संस्कार व्यवहार में मानवजीवन तथा उसके विकास की क्रमबद्ध योजना का कार्य करते थे।

७. संस्कारों का ह्रास

अन्य सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं के समान, सुदीर्घ काल तक अपने प्रयोजन की पूर्ति के पश्चात्, अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं तथा उन विषम बाह्य परिस्थितियों के कारण, जो हिन्दू जाति के इतिहास में विकसित हुईं, कालक्रम से संस्कारों का भी ह्रास हुआ। संस्कारों के रचनात्मक काल के पश्चात्, टीकाओं

और निबन्धों, परम्परावादिता तथा रूढ़िवादिता और अनुकरणात्मक प्रवृत्तियों का युग आया, जिसमें संस्कारों को नियमबद्ध व लेखबद्ध किया गया, उन पर टीकाएं लिखी गयीं, वे सङ्कलित किये गये और अस्पष्ट तथा दयनीय रूप से उनका अनुकरण किया गया। फलस्वरूप वे स्थिर, अपरिवर्तनशील तथा शक्तिहीन हो गये और उनमें निहित समाहकता, सुधार तथा परिवर्तन की क्षमता का अन्त हो गया। वह काल तथा विचार-धारा जिनमें संस्कारों का विकास हुआ था, बहुत पीछे छूट चुके थे तथा नवीन सामाजिक व धार्मिक शक्तियाँ समाज में क्रियाशील थीं, जो प्राचीन धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं के पूर्णतः अनुरूप नहीं थीं। बौद्धधर्म, जैनधर्म तथा अन्य अनेक भक्तिमार्गों ने जनसाधारण का ध्यान कर्मकाण्डीय जटिलता से हटाकर भक्ति के विभिन्न प्रकारों अथवा पूजार्चन की ओर आकर्षित किया। भाषागत कठिनता भी संस्कारों के ह्रास के लिए उत्तरदायी थी। संस्कारों में पढ़े जानेवाले मन्त्र वेदों से लिये गये थे तथा संस्कारों की विधि गृह्यसूत्र आदि प्राचीन संस्कृत आकर-ग्रन्थों में विहित थी, और अद्यावधि ये दोनों ऐसे ही बने रहे। यद्यपि संस्कृत भारत की लोक-प्रचलित भाषा नहीं रही है तथा वह केवल कतिपय उच्चशिक्षित व्यक्तियों के ही लिए बोधगम्य है, किन्तु पुरोहितों ने कभी भी संस्कारों की भाषा में परिवर्तन का प्रयत्न नहीं किया, क्योंकि वे धार्मिक विधि-विधानों की रहस्यात्मक तथा अस्पष्ट प्रकृति की सुरक्षा के लिए सदा व्यग्र रहे हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम है संस्कारों के प्रति, जो कि उनके लिए बोधगम्य नहीं रहे, जन-साधारण की अरुचि और उदासीनता।

समाज का आदिम स्थिति से विकास और मानवीय क्रियाओं की विविध शाखाओं का विभाग तथा विशेषीकरण भी संस्कारों के ह्रास का एक दूरव्यापी कारण था। मूलतः संस्कारों में धार्मिक विश्वास तथा व्यवहार, सामाजिक प्रथाएं तथा विधियां, शिक्षा-सम्बन्धी योजनाएँ और स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियम आदि समाविष्ट थे। कालक्रम से इन समस्त पार्श्वों का स्वतन्त्र रूप से अल्प अथवा अधिक विकास हुआ। इस प्रकार संस्कारों के अधिकांश अंग तथा महत्व लुप्त हो गये; केवल उनकी धार्मिक पवित्रता ही खण्डित रूप में विद्यमान रही। संस्कार, जो किसी समय मनुष्य के सुधार की दिशा में गम्भीर प्रयास

थे, अब निरे विधि-विधान मात्र रह गये। सम्प्रति संस्कार अधिकांश में प्रभावहीन तथा निष्प्रयोजन कार्यक्रम के ही विषय रह गये हैं।

अपने सुदीर्घ इतिहास-काल में हिन्दू धर्म विदेशी मानव तत्त्वों को आत्मसात् करता रहा है। ये तत्त्व हिन्दू धर्म की व्यापक रूपरेखा के भीतर आ गये, किन्तु उन्हें अत्यन्त विस्तृत कर्मकाण्डीय विधि-विधान अनुकूल न लगे। वे केवल विवाह और अन्त्येष्टि जैसे महत्त्वपूर्ण संस्कार ही, जिनसे बच नहीं सकते थे, सम्पन्न करते थे, किन्तु कम महत्त्व के संस्कारों का उनके लिये कोई उपयोग नहीं था। भारत में इस्लाम के पदार्पण ने तो हिन्दू संस्कृति को आच्छन्न ही कर लिया और देश के अधिकांश भाग में धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न करने की स्वतन्त्रता तथा अवसर मध्ययुग में प्राप्त नहीं थे। अपनी सुरक्षा के लिए जन-समुदाय ने बाह्य तथा प्रदर्शनीय धार्मिक विधि-विधानों को त्याग दिया और केवल कुछ परम्परावादी परिवार ही सङ्कट मोल लेकर उनका अनुष्ठान करते रहे। पाश्चात्य भौतिकवाद के परवर्ती तथा आधुनिक दृष्टिकोण ने एक भिन्न ही धरातल पर हिन्दूधर्म पर आक्रमण किया। पाश्चात्य शिक्षण-पद्धति तथा शिक्षण के विदेशी माध्यम के द्वारा उसने इस नवीन शिक्षा को प्राप्त करनेवाले अधिकांश युवकों को अपनी संस्कृति से बौद्धिक तथा भावुक रूप से पृथक् कर दिया है। उसने अपने में दीक्षित जन-समुदाय को देश के परम्परागत जीवन के प्रति प्रायः शत्रुतापूर्ण, जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति सन्देहवादी तथा किसी भी धार्मिक अनुशासन के प्रति असहिष्णु बना दिया है। वे जीवन की सांस्कारिक धारणा से दूर होते चले जा रहे हैं, जैसे उनके लिए उसका कोई अस्तित्व ही न हो। संस्कारों के लिए यह गम्भीरतम सङ्कट है। संस्कारों के लिए आशा की एकमात्र किरण है विचारकवर्ग में भौतिकवाद के विरुद्ध वर्धमान प्रतिक्रिया, जो भविष्य में मानव-जीवन के धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा कर सकती है।

८. पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियां तथा संस्कार

उन्नीसवीं शती में भारत में एक ओर तो पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव बहुसंख्यक युवकों के मानस-पटल को अपनी ओर आकर्षित कर रहा था, तथा दूसरी ओर इसने राष्ट्रवादी सांस्कृतिक आन्दोलनों के नेतृत्व में अपने विरुद्ध

प्रतिक्रिया को भी जन्म दिया। उनमें आर्य-सामाज तथा सनातन धर्म के समान अपेक्षाकृत रूढ़िवादी आन्दोलनों ने एक ओर तो हिन्दूधर्म के विरुद्ध किये गये विदेशियों के आक्षेपों का खण्डन कर तथा दूसरी ओर कतिपय सुधारों तथा सादगी के साथ प्राचीन सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं को पुनर्जीवित कर, जिससे कि वे शिक्षित-वर्ग को बौद्धिक रूप से प्रभावित कर सकें, हिन्दू-समाज की रक्षा का प्रयत्न किया। नये उत्साह के साथ संस्कारों को पुनर्जीवित किया गया तथा कुछ समय तक उन्होंने जनसाधारण को आकृष्ट भी किया, किन्तु उनका प्रभाव पुनः लुप्त होता जा रहा है। वास्तविक प्रश्न पश्चिम तथा पूर्व का नहीं, प्राचीन तथा नवीन का है। संस्कारों का जन्म अति सुदूर अतीत में हुआ था, जब कि समाज की आवश्यकताएं तथा समस्याएं आज से भिन्न थीं; जन-मानस एक ऐसी विचारधारा के अधीन क्रियाशील था, जो अपने युग की एक विशिष्ट वस्तु थी। आज समाज परिवर्तित हो चुका है; उसी के अनुरूप मनुष्य, उसके विश्वासों, भावों तथा महत्त्वाकांक्षाओं में भी परिवर्तन हो चुका है। नवीन विचार-धारा के अनुरूप परिवर्तित हुए बिना संस्कार आज जन-मानस को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते।

९. भविष्य

संस्कार मानवीय-विश्वासों, भावनाओं, आशाओं तथा आकाङ्क्षाओं की अभिव्यक्ति थे तथा उनका जन्म मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था। जीवन में परिवर्तन के साथ उनमें भी परिवर्तन अनिवार्य है। आज जीवन की धारणा ही मूलतः परिवर्तित हो चुकी है। वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा जीवन के अनेक रहस्यों का उद्घाटन हो चुका है तथा प्रकृति पर मनुष्य के नियन्त्रण में भी असीमित वृद्धि हो चुकी है। अनेक प्राकृतिक शक्तियाँ, जिनसे प्राचीनकाल में लोग भयभीत थे अथवा उनका आदर करते थे, आज मनुष्य की प्रेष्य भृत्य बन चुकी हैं। जीवन के भौतिक साधन भी निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं। जीवन के अनेक क्षेत्र, जो कि प्राचीनकाल में धार्मिक व पवित्र माने जाते थे, आज पूर्णतः लौकिक तथा धर्म-निरपेक्ष हो चुके हैं। अतः वह आतङ्क तथा श्रद्धा, जिनके साथ धार्मिक कृत्य सम्पन्न किये जाते थे, शनैः शनैः क्षीण होते जा रहे हैं। किन्तु संसार के भौतिक पार्श्वों में इन परिवर्तनों के होने पर भी, जीवन के विशिष्ट केन्द्रभूत रहस्य तथा मानव के अस्तित्व की

कतिपय मौलिक आवश्यकताएं तो अवश्य ही विद्यमान रहेंगी। यद्यपि जीवन के विकास की प्रक्रिया का अध्ययन और विश्लेषण हो चुका है, तथापि जीवन का उद्भव, उसके विधायक अङ्ग तथा तत्सम्बन्धी अन्य प्रश्न आज भी मनुष्य के मस्तिष्क को शान्त नहीं होने दे रहे हैं तथा भविष्य में भी जीवन की केन्द्रभूत समस्या के अंतिम समाधान की कोई सम्भावना नहीं दृष्टिगत होती। जीवन के स्रोत अथवा उद्गम पर आज भी मनुष्य अदृश्य के किसी रहस्यपूर्ण स्पर्श का अनुभव कर रहा है। यह तत्व मनुष्य के धार्मिक भावों को जीवित रखने में अवश्य ही सहायक होगा। यद्यपि जीवन के कतिपय क्षेत्रों में धर्म का चमत्कारी नियन्त्रण ढीला पड़ता जा रहा है, किन्तु मानव-हृदय अपने को उस पवित्रता से पृथक् न रख सकेगा, जो धार्मिक मान्यताओं द्वारा प्राप्त होती है। जीवन का संस्कार तथा परिष्कार सदा अपेक्षित रहेंगे। इसी प्रकार जीवन एक कला है तथा इसके सुधार के लिए चेतन तथा सुनियोजित प्रयत्न अपेक्षित हैं, यह भी एक अनिवार्य तथा शाश्वत सत्य है। जातीय संस्कृति तथा राष्ट्रनिर्माण की कला सदैव मानव-प्रगति का महत्त्वपूर्ण अङ्ग बनी रहेंगी। संस्कारों की प्राचीन रूप-रेखा में भी परिवर्तन होगा तथा निश्चय ही उन्हें युग की आवश्यकताओं के अनुरूप नवीन रूप प्राप्त होगा।

आधार ग्रन्थ-सूची

१. संस्कृत ग्रन्थ

क. वेद

अथर्ववेद : सम्पादक आर. रॉथ और डब्लू. डी. ह्विटने। बर्लिन, १८५६।
सायण-भाष्य सहित; सम्पादक एस. पी. पण्डित। बम्बई, १८९५-९८।
: अनुवादक डब्लू. डी. ह्विटने। कैंब्रिज, मेसेच्युसेट्स, संयुक्त राज्य अमेरिका, १९०५।
: अनुवादक आर. टी. एच. ग्रिफिथ। बनारस, १८९७।
: अनुवादक डब्ल्यू. डी. ह्विटने। कैंब्रिज (मॅस०) १९०८। २ भाग।

ऋग्वेद : संहिता और पद, सायण-भाष्य सहित; सम्पादक एफ्. मैक्समूलर। द्वितीय संस्करण, १८९०-२।
संहिता और पद, सायण-भाष्य सहित, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना। १९३३-५१। ५ भाग।
संहिता : एम्. एन्. दत्त। कलकत्ता, १९०६। ६ भाग।
: आर. टी. आर. ग्रिफिथ; अनुवादक। बनारस १८९६-९७। २ भाग।
: अनुवादक ए. केगी। बोस्टन, १८९६।
: अनुवादक एच्. एच्. विल्सन। लंदन। भाग १-३, १८५०-५७। भाग ४-६, १८६६-८८।

यजुर्वेद-संहिता : अनुवादक आर. टी. एच. ग्रिफिथ। लजारस, बनारस, १८९९।

काठक-संहिता : सम्पादक वॉन श्रेडर। लिपजिग, १९००-११।

तैत्तिरीय-संहिता। सम्पादक ए. वेबर। बर्लिन, १८७१-७२।
माधव कृत भाष्य सहित। कलकत्ता, १८५४-९९।
: अंग्रेजी अनुवादक। टी. एस. कीथ।

मैत्रायणी-संहिता : सम्पादक वॉन श्रेडर। लिपजिग, १८८१-८६।

वाजसनेयी-संहिता : महीधर-भाष्य सहित; सम्पादक ए. वेबर। लंदन, १८५२। निर्णय सागर संस्करण, बम्बई १९१२।

सामवेद : सम्पादक और अनुवादक टी. बेनफी। लिपज़िग, १८४८।
सम्पादक सत्यव्रत सामश्रमी। कलकत्ता, १८७३।
: अनुवादक आर. टी. एच. ग्रिफिथ। बनारस, १८९३।

ख. ब्राह्मण

ऐतरेय-ब्राह्मण : सम्पादक टी. आफ्रेक्ट। बॉन (जर्मनी), १८७९।
आनन्दाश्रम संस्करण
सम्पादक : के एस. आगाशे। पूना, १८९६।
अनुवादक हॉग, बम्बई, १८६३।
अनुवादक कीथ। हॉर्वर्ड ओरिएंटल सीरीज़, भाग २५। कैंब्रिज, मैसेच्युसेट्स, १९२०।
गोपथ-ब्राह्मण : सम्पादक राजेन्द्र लाल मित्र और एच्. विद्याभूषण। कलकत्ता, १८७२।
तैत्तिरीय-ब्राह्मण : सम्पादक राजेन्द्रलाल मित्र। कलकत्ता, १८५५-७०।
पञ्चविंश-ब्राह्मण : सम्पादक ए. वेदान्तवागीश। कलकत्ता, १८६९-७४।
शतपथ-ब्राह्मण : संपादक ए. वेबर। लंदन, १८८५।
अनुवादक जे. एगलिंग। XII, XXVI, XLI, XLIII, XLIV. ऑक्सफोर्ड, १८८२-१९००।
सेक्रेड बुक्स ऑव् दि ईस्ट सीरीज़, भाग १२, २६, ४१, ४३, ४४, ऑक्सफोर्ड, १८८२-१९००।
सामवेद-मन्त्र-ब्राह्मण : सम्पादक ए. सी. बर्नेल, लन्दन, १८७३।

ग. आरण्यक

ऐतरेय-आरण्यक, सम्पादक ए. बी. कीथ, ऑक्सफोर्ड १९०९।
तैत्तिरीय-आरण्यक : सम्पादक हरि नारायण आप्टे, पूना, १८९८।
शाङ्खायन आरण्यक, सम्पादक ए. बी कीथ, ऑक्सफोर्ड, १९०९।

घ. उपनिषद्

ईशोपनिषद् : निर्णयसागर संस्करण, बम्बई १९३०।
कठोपनिषद् : निर्णयसागर संस्करण, बम्बई १९३०।
छान्दोग्य-उपनिषद् : निर्णयसागर-संस्करण, बम्बई १९३०।
छान्दोग्य-उपनिषद् : सम्पादक व अनुवादक ओ. बोथलिङ्क। लिपज़िग, १८८९
तैत्तिरीय-उपनिषद् : शाङ्करभाष्य सहित प्रथम संस्करण। आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना १९२९।
बृहदारण्यक-उपनिषद् : निर्णयसागर संस्करण, बम्बई १९३०।
सम्पादक एवं अनुवादक ओ. बोथलिंक। लिपज़िग १८८९।
मैत्रायणी-उपनिषद् : निर्णयसागर संस्करण, बम्बई।
श्वेताश्वतर-उपनिषद् : निर्णयसागर संस्करण, बम्बई १९२९।

ङ. श्रौतसूत्र

आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र : आर. गार्बे द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, १८८२।

आश्वलायन-श्रौतसूत्र : आर. विद्यारत्न द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, १८६४–७४।

कात्यायन-श्रौतसूत्र : ए. वेबर द्वारा सम्पादित, लन्दन, १८५५।

लाट्यायन-श्रौतसूत्र : आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १८७२–७४।

सांख्यायन-श्रौतसूत्र : हिले ब्रांड द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, १८८२।

च. गृह्यसूत्र

अथर्वण-गृह्यसूत्र।

आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र : सम्पादक एम. विण्टरनिट्स, वियना, १८८७।
हरदत्तकृत अनाकुला टीका सहित।

आश्वलायन-गृह्यसूत्र : सम्पादक ए. एफ. स्टेंज्लर। लिपज़िग, १८६४।
हरदत्तकृत अनाकुला, जयस्वामिकृत विमलोदया तथा देवस्वामिन् और नारायणकृत टीकाओं सहित।

काठक-गृह्यसूत्र।

कौशिक-गृह्यसूत्र : सम्पादक एम. ब्लूमफील्ड। न्यू हेवेन, १८९०।
दारिल, भट्टारिभट्ट तथा वासुदेव की टीकाओं सहित।

कौशीतकि-गृह्यसूत्र।

खादिर-गृह्यसूत्र : सम्पादक ए. महादेव शास्त्री एवं एल्. श्रीनिवासाचार्य। मैसूर, १९१३।
रुद्रस्कन्द कृत टीका सहित।

गोभिल-गृह्यसूत्र : सम्पादक एफ. नॉवर। डॉरपेट, १८८४।
नारायणभट्ट, यशोधर और सायण की टीकाओं सहित।

जैमिनि-गृह्यसूत्र।
श्रीनिवासकृत सुबोधिनी सहित।

पारस्कर-गृह्यसूत्र।
हरिहर तथा गदाधर कृत भाष्य सहित। सम्पादक गोपाल शास्त्री नेने। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९२६।

बौधायन-गृह्यसूत्र : सम्पादक आर. शामशास्त्री। मैसूर, १९२०।

भारद्वाज-गृह्यसूत्र।

मानव-गृह्यसूत्र : सम्पादक एफ. नॉवर। सेण्ट पीटर्सवर्ग, १८९७।

वाराह-गृह्यसूत्र।

वैखानस-स्मार्तसूत्र।

शाङ्खायन-गृह्यसूत्र : सम्पादक एच. ओल्डेनबर्ग। इण्डियन स्टडीज, १५, पृ. १३ और आगे।

हिरण्यकेशि-गृह्यसूत्र : सम्पादक जे. किर्स्ते। वियना, १८८९।

छ. गृह्यकल्प

गौतम-श्राद्धकल्प

हिरण्यकेशि-श्राद्धकल्प

बौधायन-श्राद्धकल्प

कात्यायन-श्राद्धकल्प

पैप्पलाद-श्राद्धकल्प

मानव-श्राद्धकल्प

ज. गृह्यपरिशिष्ट

गोभिलपुत्र : गृह्यसंग्रह-परिशिष्ट

झ. धर्मसूत्र

आपस्तम्बीय-धर्मसूत्र : सम्पादक जी. बूलर। बंबई संस्कृत सीरीज़। बंबई, १८९२, १८९४।

गौतम-धर्मसूत्र : सम्पादक स्टेंज्लर। लन्दन, १८७६। अनुवाद, सेक्रेट बुक्स ऑव् दि ईस्ट, भाग २। हरदत्त कृत मिताक्षरा सहित।

बौधायन-धर्मसूत्र : संपादक ई. हुल्श। लिपज़िग, १८८८। गोविन्दस्वामिन् तथा परमेश्वर कृत टीकाओं सहित।

मानव-धर्मसूत्र।

वासिष्ठ-धर्मसूत्र : संपादक ए. ए. फ्यूहरर। बबई, १९१६।

विष्णु-धर्मसूत्र : सम्पादक जॉली। कलकत्ता, १८८१।

वैखानस-स्मार्त धर्मसूत्र।

शंख-लिखित-धर्मसूत्र।

हारीत-धर्मसूत्र।

हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र।

ञ. आर्षकाव्य

वाल्मीकि-रामायण : भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित, लाहौर, १९३१।
पी. सी. रॉय द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १८८१-८२।
: नीलकण्ठी टीका सहित, चित्रशाला प्रेस पूना, १९२९।

महाभारत : पी. सी. राय द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १८८१-८२।
: अंग्रेजी अनुवाद पी. सी. रॉय। कलकत्ता, १८८४-९६।
: अंग्रेजी अनुवाद दत्त, कलकत्ता, १८९५।

ट. अर्थशास्त्र

कामन्दकीय-नीतिसार : हिन्दी अनुवादक ज्वालाप्रसाद मिश्र। बम्बई, सं. २००९।

कौटिलीय-अर्थशास्त्र : हिन्दी अनुवाद सहित, अनुवादक उदयवीर शास्त्री लाहौर, संस्कृतपुस्तकालय, १९२५।
: अंग्रेजी अनुवाद—आर. शाम शास्त्री। बंगलौर, १९२३।

नीतिवाक्यामृतम् : सोमदेव सूरिकृत, कश्चिदज्ञात पण्डित प्रणीतटीकोपेतम्; माणिकचन्द्र जैन ग्रंथमाला हीराबाग, बम्बई १९७९ वि.।

शुक्रनीतिसार : अंग्रेजी अनुवादक विनयकुमार सरकार।
इलाहाबाद, पाणिनि ऑफिस, १९१३।

ठ. स्मृतियाँ

अत्रि-स्मृति : स्मृतिसन्दर्भ, भाग १, पृ. ३३६-५१।
गुरुमण्डल ग्रंथमाला, ५ क्लाइव रो कलकत्ता, १९५२।

अङ्गिरस-स्मृति, स्मृतिसन्दर्भ, भाग १, पृ. ५९१-९७।

आपस्तम्ब-स्मृति : स्मृतिसन्दर्भ, भाग २, पृ. १३८७-१४०७।

आश्वलायन-स्मृति ।

ऋष्यशृंग-स्मृति ।

कपिल-स्मृति ।

कात्यायन-स्मृति ।

गोभिल-स्मृति ।

गौतम-स्मृति ।

दक्षस्मृति कृष्णनाथ कृत टीका सहित ।

देवल-स्मृति ।

नारद-स्मृति ।

प्रचेतस-स्मृति ।

प्रजापति-स्मृति ।

पाराशर-स्मृति
सायण और माधव की टीकाओं सहित ।
बॉम्बे संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज ।

पितामह-स्मृति ।

पुलस्त्य-स्मृति ।

पैठीनसी-स्मृति ।

बृहत्-पाराशर-स्मृति ।

बृहद्यम-स्मृति ।

बृहस्पति-स्मृति ।

बौधायन-स्मृति ।

भारद्वाज-स्मृति ।

मनुस्मृति : मेधातिथि कृत मनुभाष्य-सहित । २ भाग ।
कलकत्ता, १९३२-३९ ।
कुल्लूकभट्टकृत मन्वर्थमुक्तावली सहित ।
निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४६,
गोविन्दराजकृत मानवाशयानुसारिणी और नन्दनाचार्यकृत नन्दिनी सहित ।
अंग्रेजी अनुवादक जी. बूलर।
सेक्रेड बुक्स ऑव् दि ईस्ट, भाग २५ ।
ऑक्सफोर्ड, १८८६ ।

मरीचि-स्मृति ।

यम-स्मृति ।

याज्ञवल्क्य-स्मृति ।
विज्ञानेश्वरकृत मिताक्षरा सहित ।
निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।
कुलमणि शुक्ल तथा देवबोध कृत टीकाओं सहित ।

लघ्वत्रि-स्मृति ।

लघुआश्वलायन-स्मृति ।

लघुपाराशर-स्मृति ।

लघुबृहस्पति-स्मृति ।

लघुव्यास-स्मृति ।

लघुवसिष्ठ-स्मृति ।

लघुविष्णु-स्मृति ।

लघुशङ्ख-स्मृति ।

लघुशातातप-स्मृति ।

लघुशौनक-स्मृति ।

लघुहारीत-स्मृति ।

लघुयम-स्मृति ।

लिखित-स्मृति ।

लोहित-स्मृति ।

लौगाक्षि-स्मृति ।

व्यास-स्मृति ।

वृद्ध-गौतम ।

वृद्ध-पाराशर-संहिता ।

वृद्ध-शातातप-स्मृति ।

वृद्ध-हारीत-स्मृति ।

वृद्ध-अत्रि-स्मृति ।

वसिष्ठ-स्मृति।
विश्वामित्र-स्मृति।
विष्णु-स्मृति।
शङ्ख-स्मृति।
शङ्ख-लिखित-स्मृति।
शाण्डिल्य स्मृति।
शातातप-स्मृति।
शौनक-स्मृति।
हारीत-स्मृति।

(स्मृतियों के लिए देखिए जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित धर्मशास्त्रसंग्रह, कलकत्ता, १८७६ तथा स्मृतिसन्दर्भ, ५ भाग, कलकत्ता १९५२-५५)।

ड. पुराण

गरुड-पुराण : जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता, ।
: अंग्रेजी अनुवादक दत्त। कलकत्ता, १९०८।
पद्मपुराण : आनन्दाश्रम संस्करण, पूना।
भविष्यपुराण - श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई।
विष्णुपुराण : जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता।
: अंग्रेजी अनुवादक दत्त। कलकत्ता, १९५४।
हिन्दी अनुवाद सहित। गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २००९।
लिंगपुराण : जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता।
स्कन्दपुराण : श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस, बंबई।

ढ. निबन्ध ग्रन्थ

अनूप-विलास (संस्कार-रत्न), धर्माम्भोधि कृत।
अष्टादश संस्कार, चतुर्भुजकृत।
अष्टादश स्मृतिसार।
आश्वलायनीय षोडश-संस्कार।
कर्म-तत्त्व-दीपिका, कृष्णभट्ट कृत।
कृत्यचिन्तामणि, चण्डेश्वर प्रणीत।
गोविन्दार्णव (संस्कार-वीचि), शेष-नृसिंह कृत।
चतुर्वर्गचिन्तामणि हेमाद्रि कृत।
चमत्कारचिन्तामणि : वैद्यनाथ कृत।
जहमल्ल-विलास : श्रीधरकृत।
निर्णयसिन्धु : कमलाकर भट्ट प्रणीत।
पारस्करीय संस्काररत्नाकर।
वीरमित्रोदय : मित्रमिश्र कृत। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस।
षोडश-संस्कार : कमलाकर कृत।
षोडश-संस्कार : चन्द्रचूड कृत।
षोडश-संस्कार-सेतु : रामेश्वर कृत।
संस्कार-कौमुदी : गिरिभट्ट कृत।
संस्कार-कल्पद्रुम : जगन्नाथ याज्ञिककृत।
संस्कार-कौस्तुभ : अनन्तदेव कृत।
संस्कार-तत्त्व : रघुनन्दन कृत।
संस्कार-निर्णय : नन्दपण्डित कृत।
संस्कार-नृसिंह : नरहरिकृत।
संस्कार-प्रदीप।
संस्कारप्रदीपिका : विष्णुशर्मा दीक्षित कृत।
संस्कार-भास्कर : खण्डे भट्ट कृत।
संस्कार-मयूख : नीलकण्ठ कृत।
संस्काररत्न : खण्डे राय कृत।

संस्काररत्नमाला : गोपीनाथ भट्ट कृत ।
संस्कार संख्या ।
स्मृतिकौमुदी : मदनपाल कृत ।
स्मृतिकौस्तुभ : अनन्तदेव कृत ।
स्मृति-चन्द्रिका : अप्पदेवमीमांसकप्रणीत।
स्मृति-चन्द्रिका : देवणभट्टोपाध्याय प्रणीत गवर्नमेंट ओरिएण्टल लाइब्रेरी सीरीज, मैसूर ।
स्मृतितत्त्व : रघुनन्दन कृत ।
स्मृति-निबन्ध : नृसिंह भट्ट कृत ।
स्मृतिरत्नाकर : विष्णुभट्ट कृत ।
स्मृति-सार : याज्ञिकदेव कृत ।

त. पद्धतियाँ

आपस्तम्ब पद्धति : विश्वेश्वरभट्ट कृत ।
कौशिक गृह्यसूत्र पद्धति : केशव कृत ।
गर्गपद्धति ।
गर्भाधानादि दशकर्म पद्धति : शौनकीय ।
दशकर्म-पद्धति : कालेशिकृत ।
दशकर्म-पद्धति : गणपति प्रणीत ।
दशकर्म-पद्धति : पशुपति कृत ।
दशकर्म पद्धति : पृथ्वीधर कृत ।
दशकर्म-पद्धति : भवदेव भट्ट कृत ।
दशकर्म-पद्धति : रामदत्त मैथिल कृत ।
दशकर्म-व्याख्या : हलायुध प्रणीत ।
पारस्कर-गृह्यपद्धति : कामदेव कृत ।
पारस्कर-गृह्यपद्धति : वसुदेव कृत ।
बौधायन गृह्यसूत्र-पद्धति : केशवस्वामि प्रणीत ।
मैत्रायण गृह्यसूत्र-पद्धति ।
सांख्यायन गृह्यसूत्र-पद्धति : वसुदेव कृत ।
सांख्यायन गृह्यसूत्र-पद्धति : विश्वनाथ कृत ।
षोडश कर्म-पद्धति : ऋषिभट्ट कृत ।
षोडश संस्कार-पद्धति : आनन्दराम दीक्षित कृत ।
षोडश संस्कार-विधि : भीमसेन-शर्मप्रणीत।
संस्कार-पद्धति : अमृत पाठक कृत ।
संस्कार-पद्धति : कमलाकर कृत ।
संस्कार-पद्धति : नारायणभट्ट कृत ।
संस्कार-विधि : स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रणीत ।
सामवेदीय संस्कार-पद्धति : वीरेश्वर कृत।

थ. प्रयोग

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र-प्रयोग ।
आश्वलायन गृह्यसूत्र-प्रयोग ।
पारस्कर गृह्यसूत्र-प्रयोग ।
प्रयोग-कौस्तुभ : गणेश पाठक कृत ।
प्रयोग-चन्द्रिका : वीरराघव कृत ।
प्रयोग-तत्त्व : रघुनाथ कृत ।
प्रयोग-दर्पण : नारायण प्रणीत ।
प्रयोग-दीप : दयाशङ्कर कृत ।
प्रयोग-दीपिका : रामकृष्ण भट्ट प्रणीत ।
प्रयोग-पद्धति : गङ्गाधर प्रणीत ।
प्रयोग-पद्धति : दामोदर गार्ग्य कृत ।
प्रयोग-पद्धति : रघुनाथ प्रणीत ।
प्रयोग-पारिजात : नृसिंहकृत ।
प्रयोग-पारिजात : पुरुषोत्तमभट्ट कृत ।
प्रयोग-मणि : केशवभट्ट प्रणीत ।
प्रयोग-रत्न : अनन्त कृत ।
प्रयोग-रत्न : काशीनाथ दीक्षित कृत ।
प्रयोग-रत्न : केशवदीक्षित कृत।
प्रयोग-रत्न : नारायणभट्ट कृत ।
प्रयोग-रत्न : नृसिंह भट्ट कृत ।
प्रयोग-रत्न : महादेव कृत ।

प्रयोग-रत्न : महेश कृत।
प्रयोग-रत्न : हरिहर कृत।
प्रयोग-सार : बालकृष्ण कृत।

द. कारिकाएँ

आश्वलायन गृह्यसूत्र-कारिका : सुदर्शन-कृत।
आश्वलायन गृह्यसूत्र-परिभाषा।
कात्यायन गृह्यसूत्र-कारिका।
खादिर-गृह्यसूत्र-कारिका : वामन प्रणीत।
गृह्यसूत्र-कारिका : कर्क प्रणीत।
गृह्यसूत्र-कारिका : रेणुक कृत।
द्राह्यायन गृह्यसूत्र-कारिका।
पारस्कर गृह्यसूत्र-कारिका : रेणुकाचार्य कृत।
बौधायन गृह्यसूत्र-कारिका : कनकसभा-पति कृत।
साङ्ख्यायन-गृह्यसूत्र-कारिका।
शौनक-कारिका।
सामवेदीय गृह्यसूत्र-कारिका : भूवक कृत।

ध. विभिन्न संस्कारों पर विशिष्ट ग्रंथ

जातकर्म :
आतरतम्व जातकर्म : वापण्णभट्ट कृत।
जन्मदिन कृत्यपद्धति।
जन्म-दिवस-पूजा-पद्धति।
सूतकनिर्णय : भट्टोजि कृत।

अन्नप्राशन :
अन्नप्राशन।
अन्नप्राशन-प्रयोग।

चूडाकरण :
चूडाकरण-केशान्तौ।
चूडाकर्म : दत्तपण्डित कृत।
चूडाकर्म-प्रयोग।
चौलोपनयन।
चौलोपनयन-प्रयोग।

कर्णवेध :
कर्णवेध-विधान (प्रयोगपारिजात)

उपनयन :
अश्वत्थोपनयन-विधि।
उपनयन-कर्मपद्धति।
उपनयन-कारिका।
उपनयन-चिन्तामणि : विश्वनाथ कृत।
उपनयन तन्त्र : गोभिल प्रणीत।
उपनयन-तन्त्र : रामदत्त कृत।
उपनयन-तन्त्र : लौगाक्षि प्रणीत।
उपनयन-पद्धति : रामदत्त कृत।
उपनयन-पद्धति : विश्वनाथ कृत।
पुनरुपनयन-प्रयोग : दिवाकर प्रणीत।
यज्ञोपवीत-पद्धति : रामदत्त कृत।
व्रात्य-प्रायश्चित्त-निर्णय : नागोजिभट्ट कृत प्रायश्चित्तेन्दु-शेखर में उद्धृत।
व्रात्य-शुद्धि-संग्रह।
व्रात्य-स्तोम-पद्धति : माधवाचार्य कृत।

केशान्त :
गोदान-विधि-संग्रह, मधुसूदन गोस्वामि प्रणीत।

समावर्तन :
समावर्तन-प्रयोग ; श्यामसुन्दर कृत।

विवाह :
अङ्कुरार्पण : नारायण भट्ट के प्रयोग-रत्न से।
उद्वाह-कन्या-स्वरूप-निर्णय।
उद्वाह-चन्द्रिका : गोवर्धन उपाध्यायकृत।

उद्वाह-तत्त्व : काशीराम वाचस्पति उपाध्याय कृत।
उद्वाह-निर्णय, गोपाल-न्यायपञ्चरत्न कृत।
उद्वाह-लक्षण।
उद्वाह-विवेक : गणेशभट्टकृत।
उद्वाह-व्यवस्था।
उद्वाह-व्यवस्था-संक्षेप।
उद्वाहादि-काल-निर्णय : गोपीनाथ-प्रणीत।
कन्यादान-पद्धति।
कन्यादान-प्रयोग।
कन्या-विवाह।
कन्या-संक्षेप।
गोत्र-निर्णय : बालभट्टकृत।
गोत्र-निर्णय : महादेव दैवज्ञ प्रणीत।
गोत्र-प्रवर-खण्ड : आपस्तम्ब स्मृति से।
गोत्र-प्रवर-दीप : विष्णु पण्डित कृत।
गोत्र-प्रवर-निर्णय।
अनन्तदेव कृत संस्कार-कौस्तुभ से।
गोत्र-प्रवर-निर्णय : अभिनवमाधवाचार्य प्रणीत।
गोत्र-प्रवर-निर्णय : कमलाकर कृत।
गोत्र-प्रवर-निर्णय : जीवदेव कृत।
गोत्र-प्रवर-निर्णय : नागेशभट्ट कृत।
गोत्र-प्रवर-निर्णय : नारायणभट्ट कृत।
गोत्र-प्रवर-निर्णय : भट्टोजिकृत।
गोत्र-प्रवर-निर्णय : विश्वनाथ कृत।
गोत्र-प्रवर-मञ्जरी : केशवप्रणीत।
गोत्र-प्रवर-मञ्जरी : पुरुषोत्तम पण्डित कृत।
गोत्र-प्रवर-मञ्जरी : शङ्कर तान्त्रिक कृत।
गोत्र-प्रवर-मञ्जरी : शङ्करदैवज्ञ कृत।
गोत्र-प्रवर-रत्न : लक्ष्मणभट्ट कृत।
गोत्र-प्रवरोच्चार : औदीच्य प्रकाश से।
प्रवराध्याय : विष्णु-धर्मोत्तर से।
प्रवरकाण्ड (आश्वलायन)
प्रवर-खण्ड (आपस्तम्बीय)
प्रवर-खण्ड (एक प्रश्न में वैखानस)
प्रवर-दर्पण : कमलाकर कृत।
प्रवर-निर्णय : भट्टोजि कृत।
मण्डपोद्वासन-प्रयोग : धरणीधर के एक पुत्र द्वारा प्रणीत।
विवाह-कर्म : अग्निहोत्रिविष्णु प्रणीत।
विवाह-चातुर्थि-कर्म।
विवाह-तत्त्व : रघुनन्दन कृत।
विवाह-पटल : सारंगपाणि कृत।
विवाह-द्विरागमन-पद्धति।
विवाह-नैरूपण : नन्दभट्ट प्रणीत।
विवाह-नैरूपण : वैद्यनाथ कृत।
विवाह-पद्धति (गोभिलीय)।
विवाह-पद्धति : गौरीशंकर कृत।
विवाह-पद्धति : चतुर्भुज कृत।
विवाह-पद्धति : जगन्नाथ-विरचित।
विवाह-पद्धति : नरहरि कृत।
विवाह-पद्धति : नारायण भट्ट कृत।
विवाह-पद्धति : रामचन्द्र प्रणीत।
विवाह-पद्धति : रामदत्त राजपण्डित कृत।
विवाह-रत्न : हरिभट्ट कृत।
विवाह-रत्न-संक्षेप : क्षेमङ्कर कृत।
विवाह-वृन्दावन : केशवाचार्य कृत।
विवाह-सौख्य : नीलकण्ठप्रणीत।
विवाह-स्वरूप-निर्णय : अनन्तराम-शास्त्रि कृत।
सापिण्ड्य-कल्प-लता : सदाशिवदेव कृत।
सापिण्ड्य-दीपिका : नागेशभट्ट कृत।

सापिण्ड्य-निर्णय : भट्टोजि कृत।
सापिण्ड्य-निर्णय : रामकृष्ण कृत।
सापिण्ड्य-निर्णय : रामभट्ट कृत।
सापिण्ड्य-निर्णय : श्रीधरभट्ट प्रणीत।

अन्त्येष्टि :

अन्त्य-कर्म-दीपिका : हरिहरभट्ट-दीक्षित-प्रणीत।
अन्त्य-क्रिया-विधि : मनुराम कृत।
अन्त्येष्टि-पद्धति : अनन्तदेव कृत।
अन्त्येष्टि-पद्धति : केशव कृत।
अन्त्येष्टि-पद्धति : भट्टनारायण प्रणीत।
अन्त्येष्टि-पद्धति : महेश्वरभट्ट प्रणीत।
अन्त्येष्टि-पद्धति : रामाचार्य प्रणीत।
अन्त्येष्टि-पद्धति : विश्वनाथ (गोपाल-पुत्र) द्वारा प्रणीत।
अन्त्येष्टि-पद्धति : हरिहर (भास्करपुत्र) प्रणीत।
अन्त्येष्टि-प्रकाश : दिवाकर कृत।
अन्त्येष्टि-प्रयोग : आपस्तम्बीय।
अन्त्येष्टि-प्रयोग : केशवभट्ट विरचित।
अन्त्येष्टि-प्रयोग : नारायणभट्ट कृत।
अन्त्येष्टि-प्रयोग : विश्वनाथ कृत।
अशौच : वैद्धदेश कृत।
अशौच-काण्ड : वैद्यनाथ दीक्षित कृत।
अशौच-गंगाधरी : गंगाधर कृत।
अशौच-दीधिति : (अनन्तदेव कृत स्मृति-कौस्तुभ से)।
अशौच-निर्णय : आदित्याचार्य कृत।
अशौच-निर्णय : कौशिकाचार्य कृत।
अशौच-निर्णय : गोविन्द कृत।
अशौच-निर्णय : नागोजीभट्ट प्रणीत।
अशौच-निर्णय : भट्टोजि कृत।
अशौच-निर्णय : रघुनन्दन कृत।
अशौच-प्रकाश।
अशौच-शतक : नीलकण्ठ प्रणीत।
अशौच-सार : बलभद्र प्रणीत।
आहिताग्निमरणे दाहादि (आश्वलायनीय)।
आहिताग्नेर्दाहादिनिर्णय : रामभट्टप्रणीत।
आहिताग्न्यन्त्येष्टि-प्रयोग।
एकादशाह-कृत्य।
एकोद्दिष्ट-श्राद्ध-प्रयोग।
एकोद्दिष्ट-सारिणी : रत्नपाणि मिश्र प्रणीत।
और्ध्वदेहिक-कल्पवल्ली : विश्वनाथप्रणीत।
और्ध्वदेहिक-क्रिया-पद्धति : विश्वनाथ कृत।
और्ध्वदेहिक-पद्धति : कमलाकरभट्ट प्रणीत।
और्ध्वदेहिक-पद्धति अथवा अन्त्येष्टि-पद्धति : नारायणभट्ट कृत।
पितृमेध-प्रयोग।
पितृमेध-भाष्य (आपस्तम्बीय) : गार्ग्य गोपाल प्रणीत।
पितृमेध-विवरण : रंगनाथ कृत।
पितृमेध-सूत्र : गौतम प्रणीत।
पैतृमेधिक सूत्र : भारद्वाज प्रणीत।
प्रेत-दीपिका : गोपीनाथ अग्निहोत्रि प्रणीत।
प्रेत-प्रदीप : कृष्णमित्राचार्य कृत।
प्रेत-मंजरी या प्रेत-पद्धति : यदुभट्टकृत।
मरण-कर्म-पद्धति : यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र।
मरण-सामयिक-निर्णय।
वृषोत्सर्ग-कौमुदी : रघुनन्दन प्रणीत।
वृषोत्सर्ग-तत्त्व : शङ्कर प्रणीत।
वृषोत्सर्ग-पद्धति : नारायण प्रणीत।

वृषोत्सर्ग-कौमुदी : रामकृष्ण कृत ।

वृषोत्सर्ग-प्रयोग : अनन्तभट्ट कृत ।

वृषोत्सर्ग-विधि : मधुसूदन गोस्वामि प्रणीत ।

वैतरणी-दान : स्टीन का सूचीपत्र, पृ० १०४ ।

शुद्धि-कौमुदी : महेश्वर-प्रणीत ।

शुद्धि-तत्त्व : रघुनाथ प्रणीत ।

सपिण्डी-करण : माध्यन्दिनीय ।

सपिण्डी-करण-विधि ।

२. सामान्य आधुनिक ग्रन्थ

अलतेकर, अ. स. : एजुकेशन इन एंश्यँट इण्डिया । बनारस १९३४ ।

: दि पोजीशन ऑफ़ विमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन । बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, कल्चर पब्लिकेशन, १९३८ ।

ऑमली, एल्. एस्. एस्. : इण्डियाज सोशल हेरिटेज । १९३४ ।

: इण्डियन कास्ट कस्टम्स । लन्दन, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३२ ।

इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलीजन एण्ड इथिक्स : सम्पादक जे. हेस्टिंग्ज । एडिनबरा, टी.टी. क्लार्क, १९२५-३४ । भाग १३ ।

ऐंशियेन्ट इण्डिया ऐज़ डिसक्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज़ एंड एरियन : अनुवादक मैकक्रिण्डल । लन्दन, १८७७ ।

एबट, जे. : दि कीज़ ऑफ पॉवर । लन्दन, मेथ्यूं, १९३२ ।

एल्लिक, सी. आर. : प्रिमिटिव माइन्ड एण्ड मॉडर्न सिविलिजेशन, केगन पॉल, लन्दन ।

कैलेण्ड : ऐंशियेन्ट इण्डियन कस्टम्स अबाउट दि फ्युनरल विच-क्राफ्ट ऑफ़ ऐंशियेन्ट इण्डिया ।

काणे, पी. वी. : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द १-४, गवर्नमेंट ओरियंटल सिरीज़, भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना १९३०-१९५५ ।

कारसॉण्डर्स, ए. एम. : यूजेनिक्स । होम यूनिवर्सिटी, १९३६ ।

क्रॉवी, ई. : दि मिस्टिक रोज़ेज़; द्वितीय संस्करण । लन्दन, मेथ्यूं, १९२७ ।

कीथ, ए. बी. : दि रिलीजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स । केम्ब्रिज, मॅसॅच्युसॅट्स, २ भाग ।

केई एफ्. एस्. ऐंशियेण्ट इण्डियन एजुकेशन । लन्दन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९१८ ।

केसेर्लिंग, काउण्ट : दि बुक ऑफ मैरेज । लन्दन, जोनाथन, १९२९ ।

ग्लोट्ज : एंशियेण्ट ग्रीक ऐट वर्क । लन्दन, १९२६ ।

गेट्स, आर. आर. हेरेडिटी ऐंण्ड यूजेनिक्स । लन्दन, कॉन्स्टेबल, १९२३ ।

गीगर : सिविलिजेशन ऑफ दि ईस्टर्न ईरानियन्स । लन्दन, १९२५ ।

गोल्डनवीजर, ए. ए. : एन्थ्रॉपॉलॉजी । लन्दन, हैर, १९३७ ।

घुरे, जी. एस् : कास्ट ऐंण्ड रेस इन इण्डिया । लन्दन, केगनपॉल, १९३२ ।

चकलदार, एच. सी. : स्टडीज़ इन वात्स्यायन कामसूत्राज़। कलकत्ता, ग्रेटर इण्डिया सोसायटी, १९२९।

चकलदार, एच्. सी. : सोशल लाइफ इन ऍंशियेण्ट इण्डिया।

जायसवाल, के. पी. : मनु ऍण्ड याज्ञवल्क्य कलकत्ता, बटरवर्थ, १९३०।

जॉली, जे. : हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम, अनुवादक बी. के. घोष। कलकत्ता, ग्रेटर इण्डिया सोसायटी, १९२८।

डॉसन : दि इथिकल रिलीजन ऑफ ज़ोरास्टर। न्यूयॉर्क, १९३१।

डुबॉइस, ए. जे. ए. व बॉचैम, एच्. के. : हिन्दू मनर्स, कस्टम्स ऐण्ड सिरिमनीज़। ऑक्सफोर्ड, क्लेरेण्डन, १९०६।

दत्त, आर. सी. : हिस्ट्री ऑफ सिविलिज़ेशन इन ऍंशियेण्ट इण्डिया। लन्दन, केगन पॉल, १८९३। भाग १–२।

दास, ए. सी. : ऋग्वेदिक कल्चर। कलकत्ता, काम्ब्रे, १९२५।

दास, एस्. के. : दि एज्यूकेशनल सिस्टम ऑफ दि ऍंशियेण्ट हिन्दूज़। कलकत्ता, मित्रप्रेस, १९२३।

पुणताम्बेकर, एस्. वी. : एन इण्ट्रोडक्शन टु इण्डियन सिटिज़नशिप एण्ड सिविलिज़ेशन, बनारस, नन्दकिशोर।

प्रभु, पण्ढरिनाथ : हिन्दू सोशल इंस्टिटयूशन्स लौंगमैन्स ग्रीन ऐण्ड को., १९३९।

(प्रभु) हिन्दू सोशल आर्गेनाइज़ेशन।

फर्कुहर, जे. एन. : रिलीजस लाइफ इन इण्डिया। लन्दन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९१६।

फिक, आर : दि सोशल ऑर्गेनाइज़ेशन इन नॉर्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धिस्ट टाइम, अनुवादक एस्. के. मैत्र। कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९२०।

फ्रेजर, जे. सी. : दि गोल्डन बॉउ। लन्दन, मैकमिलन, १९२५।

: टोटेमिज़्म ऐण्ड एक्सोगेमी। लन्दन, मैकमिलन, १९३५।

फ्रेण्ड, एम्. : टोटेम ऍण्ड टेबू। न्यूयॉर्क, न्यू रिपब्लिक, १९२७।

ब्लूमफील्ड, एम्. : दि रिलीजन ऑफ दि वेदाज़। न्यूयॉर्क पुटनेनी, १९०८।

बच, एम. ए. दि : स्प्रिट ऑफ ऍंशियेण्ट हिन्दू कल्चर। बड़ौदा, १९२१।

वार्थ, ए. : रिलीजन्स ऑफ इण्डिया। ट्रूबनर ओरियण्टल सीरीज़। लन्दन, १९१४।

वेडर, सी. : विमेन इन एंशियेण्ट इण्डिया। लन्दन, केगन पॉल, १९२५।

वैनिस्टर, एच्. : साइकालॉजी ऐण्ड हेल्थ। लन्दन, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

बोस, पी. एन. : सर्वाइवल ऑफ हिन्दू सिविलिज़ेशन। कलकत्ता, न्यूमन, १९१३।

भगवानदास : दि सायंस ऑफ सोशल ऑर्गेनाइज़ेशन। लन्दन, १९३५।

: दि सायंस ऑफ् सोशल आर्गेना-
इजेशन ऑर दि लॉज ऑफ् मनु इन दि लाइट ऑफ् आत्मविद्या, थियोसॉफिकल पब्लिशिंग हाउस अद्यार, मद्रास, इण्डिया, १९३२।

मैक्डॉनेल, ए. ए. और कीथ, ए. बी. : वैदिक इण्डेक्स । लन्दन, जॉनमुरे, १९१२ । २ भाग ।

मैक्डोनल, ए. ए. : वैदिकमाइथॉलोजी । स्ट्रासवर्ग, १८९७ ।

मैक्समूलर : दि फेमिली। लन्दन, एलेन इन-विन, १९३१ ।

मैक्समूलर : हिस्ट्री ऑफ् ऐंशियेण्ट संस्कृत लिटरेचर ।

मजूमदार, आर. सी. : कॉरपोरेट लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया; द्वितीय संस्करण । कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९२२ ।

मायेर, जे.डी. : ए ट्रीटाइज ऑन हिन्दू लॉ ऐण्ड यूसेज । मद्रास, १९१४ ।

मायेर, जे.जे. : सेक्सुअल लाइफ इन एनशियेण्ट इण्डिया । लन्दन, राउटलेज, १९३० । २ भाग ।

मारेट, आर. आर. : सैक्रामेण्ट्स ऑफ सिंपुल फोक । आक्सफोर्ड, क्लेरेण्डन, १९३३ ।

मिलर, एल्. एफ. : दि इवोल्यूशन ऑफ् मॉडर्न मैरेज । लन्दन, एलेन-उनविन, १९३० ।

मीज़, जी. एच. : धर्म एण्ड सोसाइटी । लन्दन, ल्युज़ाक, १९३५ ।

मुकर्जी, राधाकुमुद : हिन्दू सभ्यता । दिल्ली, राजकमल । .

मोनियर, डब्लू. एम. : इण्डियन विज-डम; ४था संस्करण । लन्दन, लुजाक, १९३६ ।

रसेल, बर्टेण्ड : मैरेज एण्ड मॉरल्स । लन्दन, एलेन-उनविन, १९३० ।

रॉय, एस्. : कस्टम्स एण्ड कस्टमरी लॉ इन ब्रिटिश इन्डिया । कलकत्ता १९१५ ।

राधाकृष्णन, एस्. : दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ । लन्दन, एलेन-उनविन, १९२७ ।

: इण्डियन फिलॉसफी । लन्दन, एलेन-उनविन, १९२७ । २ भाग ।

रिजले, एच्. एच्. : दि पीपुल ऑफ इन्डिया; २रा संस्करण । कलकत्ता, टॅकर, १९१५ ।

रैगोजिन, जेड्. ए. : वैदिक इन्डिया । लन्दन, फिशर यूनियन, १८९९ ।

रैप्सन, ई. जे. : केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया । लन्दन, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस ।

विन्टरनित्स : ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर । कलकत्ता विश्वविद्यालय ।

वेंकटेश्वर, एस्. वी. : इण्डियन कल्चर थ्रू दि एजेज़ । लन्दन, लॉगमेंन्स, १९२८ । २ भाग ।

वेस्टमार्क, ई. : हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन मैरेज़; ५ वां संस्करण । लन्दन, मॅकमिलन, १९२१ । ३ भाग ।

वैद्य, सी. वी. : एपिक इण्डिया । बंबई, बॉंबे बुकडिपो, १९३३ ।

: ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर । बंबई,—।

स्ट्रीवेन्सन, मिसेज सिंक्लेयर ' राइट्स ऑफ दि ट्वाइस बॉर्न।
स्पेंसर. प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी। एडिनबरा, १८९३।
सरकार, बी. के. : दि पॉजिटिव बैक-ग्राउण्ड ऑफ् हिन्दू सोशियोलॉजी। अलाहाबाद, पाणिनि ऑफिस, १९२१।
सरकार, एस् सी. : सम ऑस्पेक्ट्स ऑफ दि अर्लियेस्ट सोशल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया। लन्दन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२८।
सील, बी. एन : दि पॉजिटिव साइन्सेस ऑफ दि एंशियेन्ट हिन्दूज़। लन्दन, लॉगमॅन्स, १९१५।
सेनगुप्त, ऐन. सी. ' सोर्सेज ऑफ लॉ एण्ड सोसाइटी इन एंशियेन्ट इण्डिया। कलकत्ता, आर्ट प्रेस, १९१४।
ह्वान च्वाग ' वाटर्स द्वारा अनूदित। लन्दन, १९०८।
हॉवर्ड : ए हिस्ट्री ऑफ मैट्रिमोनियल इन्स्टिट्यूशन्स। शिकागो, १९०४। ३ भाग।
हिलेब्रान्त - रिचुअल लिटरेचर वेदिक।
त्रिपाठी, जी एम् : मैरेज फॉर्म्स अण्डर एंशियेण्ट हिन्दू लॉ। बंबई, १९०६।
त्रिपाठी, आर एस्. . हिस्ट्री ऑफ एन्शियेण्ट इण्डिया। बनारस, नन्दकिशोर।

३ पत्र-पत्रिकाएँ

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज, इलाहाबाद।
इण्डियन एण्टीक्वेरी।
इण्डियन कल्चर, कलकत्ता।
इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता।
एनल्स ऑफ दि भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना।
क्वार्टर्ली जर्नल ऑफ दि मिथिक सोसायटी।
जर्नल ऑफ ओरियंटल रिसर्च, मद्रास।
जर्नल ऑफ दि अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी, संयुक्त राज्य अमेरिका।
जर्नल ऑफ दि एशिआटिक सोसायटी ऑफ बँगाल, कलकत्ता।
जर्नल ऑफ दि बॉम्बे ब्रॉच ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई।
जर्नल ऑफ दि बॉबे हिस्टोरिकल सोसायटी।
जर्नल ऑफ दि विहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसायटी, पटना।
जर्नल ऑफ दि रॉयल एसियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैंड।
जर्नल एशियाटिक।
न्यू इण्डियन एण्टिक्वेरी।
प्रोसीडिंग्स ऑफ दि ऑल इण्डिया ओरियंटल कॉनफरेंसेज़।
प्रोसीडिंग्स ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस।
मैन इन इण्डिया, राँची।

अनुक्रमणिका